उपनिषद् के तत्त्वमसि महावाक्य की व्याख्या-पद्धतियाँ एवं अर्थ-निर्धारण

(ब्रह्मसूत्रभाष्यों के विशेष सन्दर्भ में)

Upaniṣad ke Tattvamasi Mahāvākya kī Vyākhyā-Paddhatiyān evam Artha-Nirdhāraṇa

(Brahmasūtrabhāṣyon ke Viśeṣa Sandarbha Mein)

विद्यावारिधि (Doctor of Philosophy) (संस्कृत) उपाधि-हेतु

शोध-प्रबन्ध

शोध-निर्देशक
प्रो. राम नाथ झा

शोधार्थी
घनश्याम मिश्र

विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई-दिल्ली-110067

2017

विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई-दिल्ली-११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

DECLARATION

I declare that the thesis entitled "उपनिषद् के तत्त्वमसि महावाक्य की व्याख्या-पद्धतियाँ एवं अर्थ-निर्धारण (ब्रह्मसूत्रभाष्यों के विशेष सन्दर्भ में)" submitted by me for the award of degree of Doctor of Philosophy is an original research work and has not been previously submitted for any other degree or diploma in any other Institution/University.

Ghanshyam Mishra
27/04/2017

Ghanshyam Mishra

विशिष्टसंस्कृताध्ययनकेन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई-दिल्ली-११००६७

SPECIAL CENTRE FOR SANSKRIT STUDIES
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

CERTIFICATE

The thesis entitled **"उपनिषद् के तत्त्वमसि महावाक्य की व्याख्या-पद्धतियाँ एवं अर्थ-निर्धारण (ब्रह्मसूत्रभाष्यों के विशेष सन्दर्भ में)"** submitted by Ghanshyam Mishra to Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi - 110067 for the award of the degree of Doctor of Philosophy is an original research work and has not been submitted so for, in part or full, for any other degree or diploma in any University. This may be placed before the examiners for evaluation.

27/04/2017

Prof. Girish Nath Jha
(Chairperson)

PROF. GIRISH NATH JHA
Chairperson
Special Centre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067, INDIA

Prof. Ram Nath Jha
(Supervisor)

Dr. Ram Nath Jha
Professor
Special Cetre for Sanskrit Studies
Jawaharlal Nehru University
New Delhi-110067

समर्पणम्

मातुस्सुतस्नेहममत्ववाचां,

पितुस्तपस्साधनसंस्कृतीनां ।

सतां गुरूणाञ्च कृपादयानां,

कृते कृतज्ञोऽस्म्यहमाप्तकाम: ॥

ऋषिकल्पमातृपितृचरणकमलयोरयमनुसन्धानप्रबन्धस्सविनयं समर्प्यते ।

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहस: सूनो न ह्यन्यदस्त्याप्यम् ।

भद्रं हि शर्म त्रिवरूथमस्ति त आरे हिंसानामय दिद्युमा कृधि ॥

- ऋग्वेद १०/१४२/१

विश्वा धामानि विश्वचक्ष ऋभ्वस: प्रभोस्ते सत: परियन्ति केतव:।

व्यानशि: पवसे सोम धर्मभि: पतिर्विश्वस्य भुवनस्य राजसि ॥

- ऋग्वेद ९/८६/५

नन्दितानि दिगन्तानि यस्यानन्दाम्बुविन्दुना।

पूर्णानन्दं प्रभुं वन्दे स्वानन्दैकस्वरूपिणम्॥

- विवेक-चूडामणि

विघ्नराजं गणाध्यक्षं ज्ञानरूपां च शारदाम्।

आश्रयेऽहं मुमुक्षुर्वै ग्रन्थनिर्विघ्नपूर्तये॥

- आत्मबोध

आत्मनिवेदन

इत: पूर्णं तत: पूर्णं पूणात्पूर्णं परात्परम् ।

पूर्णानन्दं प्रपद्येऽहं सद्गुरुं शङ्करं स्वयम् ॥

संकटनाशक मङ्गलकारक पवनपुत्र हनुमान जी का स्मरण करते हुए बाबा विश्वनाथ जी के चरणारविन्दों में नमन करता हूँ। शिक्षा के प्रति लगन एवं संघर्ष का भाव तथा बाबा विश्वनाथ जी की पुण्य नगरी काशी में रहकर संस्कृताध्ययन का जो मुझे परम सौभाग्य प्राप्त हुआ, उसे मैं बाबा विश्वनाथ जी का अनुग्रह ही समझता हूँ। बाल्यकाल में मेरे परम पूज्य पितामह तथा पितामही द्वारा सदाचार, नैतिकता तथा धार्मिक उपदेशों को सुनकर मुझमें संस्कृत पढ़ने के लिए अद्‌भुत प्रेरणा का सञ्चार हुआ, अत: मैं उनका आजीवन ऋणी रहूँगा।

मैं अपने ऋषिकल्प पिता जी और माता जी के प्रति कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे न केवल शिक्षा के प्रति उन्मुख किया, अपितु जीवन में सदैव सत्पथ पर चलने की प्रेरणा दी, अत: उनके चरणकमल मेरे लिए पूजनीय हैं। मैं अपने अग्रज मनोज मिश्र जी के चरणों में बारम्बार प्रणाम करता हूँ, जिन्होंने अध्ययन सम्बन्धी सारी सुविधा प्रदान की। अभिभावक के रूप में, उपदेशक के रूप में तथा मार्गनिर्देशक के रूप में हमेशा उनका साहाय्य प्राप्त होता रहा है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में तदनन्तर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में अध्ययन की प्रेरणा मुझे उन्हीं से मिली, अत: मैं हृदय से उनका आभारी हूँ, जिनके शुभाशीर्वचन ही मेरे कार्य की सफलता के हेतु हैं। मेरे परम सुहृद राजेश त्रिपाठी जी जिन्होंने अपने अनुभव के अनुसार जीवन के विविध क्षेत्रों में से शिक्षा क्षेत्र को सबसे उत्तम समझा तथा उस क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए मुझे उत्साहित किया, अत: आपके प्रति मैं विशेष रूप से कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

मैं बहुत भाग्यशाली हूँ कि मुझे बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में स्नातक तथा जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय जैसे प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में परास्नातक तथा शोध-कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में संस्कृताध्ययन के समय व्याकरण के उद्भट्ट विद्वान् आचार्य गोपबन्धु मिश्र जी, जिनका पुत्रवत् स्नेह सदैव मुझ पर रहा है, जिनके सानिध्य में रहकर मुझे व्याकरण के अध्ययन का सौभाग्य प्राप्त हुआ तथा यह उसी का परिणाम है कि

शोधार्थी द्वारा ब्रह्मसूत्र में व्याकरण से सम्बद्ध विषय को M.Phil. शोध-प्रबन्ध का विषय बनाया गया। अत: आप गुरुश्रेष्ठ के चरणारविन्द मेरे लिए श्रद्धेय हैं।

परम श्रद्धेय पूज्य आचार्य वशिष्ट नारायण झा जी तथा उज्ज्वला झा जी का मैं अत्यधिक ऋणी हूँ, कि कार्यशाला के माध्यम से आपके सानिध्य में रहकर न केवल नव्य न्याय अपितु पूर्वमीमांसा एवं व्याकरण के सिद्धान्तों एवं रहस्यमय तथ्यों को जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसके ज्ञान के विना मैं प्रस्तुत शोध-कार्य में निहित दार्शनिक गुत्थियों को समझने में असमर्थ था। आपके अध्यापन शैली एवं आनुभविक उद्बोधन से मुझमें शिक्षा के प्रति अदम्य साहस, लगनशीलता एवं संघर्ष के भाव का सञ्चार हुआ, अत: मैं आपका आजीवन कृतज्ञ रहूँगा।

विशिष्ट-संस्कृत-अध्ययन-केन्द्र की भूतपूर्व अध्यक्षा एवं मातृकल्पा प्रो. शशिप्रभा कुमार जी, जिनके अध्यापन द्वारा न्याय- वैशेषिक सिद्धान्तों से मैं अवगत हुआ। परास्नातक कक्षा के दौरान ही आपसे शोध-प्रविधि सम्बन्धी अनेक मूल्यवान सुझाव प्राप्त हुए, जिससे शोध-कार्य में मुझे अत्यन्त लाभ हुआ। अध्यापन के साथ ही साथ आपका सदैव पुत्रवत् स्नेह मुझ पर रहा, अत: मैं आपके चरणकमलों में भूयो-भूयो प्रणाम निवेदित करता हूँ।

विशिष्ट-संस्कृत-अध्ययन-केन्द्र के अध्यक्ष प्रो. गिरीश नाथ झा जी, जिन्होंने संगणक-विज्ञान के क्षेत्र में उपदिष्ट किया। वर्तमान समय में संस्कृत में निहित ज्ञान भण्डार को विश्व के समक्ष संगणक के माध्यम से कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है तथा लोगों की संस्कृत के प्रति कैसे रुचि जगायी जा सकती है? संस्कृत चिन्तन में नवीन दृष्टिकोण के प्रति आपने दिशानिर्देश किया तथा आप के अध्यापन से ही मैं शोध-प्रबन्ध का टङ्कण-कार्य करने में स्वयं समर्थ हो सका, अत: मैं आपके प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ हूँ।

यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे शोध-कार्य के लिए परम श्रद्धेय पूज्य गुरुवर आचार्य रामनाथ झा जी का सानिध्य प्राप्त हुआ, इसे मैं अपने पूर्वजन्म का पुण्योदय ही समझता हूँ। आपके द्वारा ही मैं प्रथम बार वेदान्तसार प्रकरण ग्रन्थ के माध्यम से अद्वैत वेदान्त-दर्शन में प्रवेश किया, उसके पूर्व मैं वेदान्त-दर्शन से अनभिज्ञ था। तदनन्तर आपके द्वारा नव्यन्यायभाषाप्रदीप, उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के तार्किक अध्यापन शैली द्वारा वेदान्त दर्शन में मेरी

प्रगाढ़ रूचि हुई। आपने न केवल सैद्धान्तिक पक्षों का अध्यापन कराया, अपितु साथ ही साथ जीवन के व्यावहारिक पक्षों पर भी प्रकाश डालते हुए सिद्धान्त पक्ष और व्यवहार पक्ष इन दोनों में समन्वय करते हुए जो आपने उपदेश दिया, वह आपका वैदुष्यपूर्ण उद्बोधन मेरे जीवन के सदैव पथ-प्रदर्शक बनें रहेंगें। मैं आशा करता हूँ कि आपके सानिध्य से मैं हमेशा लाभान्वित होता रहूँगा। आपके सानिध्य में रहते हुए आपसे जो अहैतुकी कृपा, स्नेहासिक्त मार्गदर्शन, एवं जो सहयोग मिल रहा है, उसका मैं आजीवन आभारी (ऋणी) रहूँगा। प्रस्तुत शोध-कार्य में आपके द्वारा जो अपूर्व साहाय्य, सत्परामर्श एवं प्रेरणा मिली है, उसके लिए मैं केवल कृतज्ञता ज्ञापन मात्र पर्याप्त नहीं समझता।

डॉ. रजनीश कुमार मिश्र जी, जिन्होंने तुलनात्मक, आलोचनात्मक तथा विश्लेषणात्मक पद्धति के द्वारा शैव-दर्शन का अध्यापन कराया। शोध-प्रविधि, शोध के विभिन्न पक्षों तथा आयामों पर प्रकाश डालकर शोध-कार्य के क्षेत्र में दिशानिर्देश किया, अत: आपके प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

विशेष रूप से मैं डॉ. अनीता स्वामी जी का अत्यधिक ऋणी हूँ कि उन्होंने अपना अमूल्य समय प्रदान कर मेरे शोध-कार्य से सम्बन्धित अनेक सुझाव देते हुए उचित मार्गदर्शन से मुझे प्रोत्साहित किया, अत: आपके प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

शोध-प्रबन्ध की सफल परिणिति में मेरे सहपाठी एवं दिल्ली-विश्वविद्यालय को शोध-छात्र हरीश शर्मा का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। इसी क्रम में विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र के शोध-छात्र एवं अनुज कवि एवं रवि का शोध-प्रबन्ध को व्यवस्थापित करने में विशेष सहयोग प्राप्त हुआ। अत: आप सभी के प्रति विशेष धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

उपर्युक्त शोध-सामग्री के संकलन में जिन पुस्तकालयों का सहयोग प्राप्त हुआ उनमें विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र का पुस्तकालय, केन्द्रीय पुस्तकालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई-दिल्ली, लालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ पुस्तकालय, नई-दिल्ली, राष्टीय संस्कृत संस्थान पुस्तकालय, नई-दिल्ली, दिल्ली-विश्वविद्यालय, नई-दिल्ली, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय केन्द्रीय पुस्तकालय, वाराणसी, सरस्वती-भवन पुस्तकालय, सम्पूर्णानन्द का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एतदर्थ उपर्युक्त पुस्तकालयों के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस शोध-प्रबन्ध की परिणति में येन केन प्रकारेण प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग करने वालों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं हर्ष का अनुभव कर रहा हूँ। अन्ततः भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों में जीवन की प्रत्येक क्रिया समर्पित करता हूँ, यह शोध- प्रबन्ध भी उन्हीं का प्रसाद है –

“प्रभो ! तव कृपां विना तृणकणोऽपि न स्पन्दते।”

विनयावनत

घनश्याम मिश्र

विषयावतरणिका

मानव संस्कृति के प्राचीनतम रूप एवं विकास को समझने के लिए वेदों का परिशीलन अपरिहार्य है। मानव जाति के इतिहास के ज्ञान के लिए, भारतीय संस्कृति को समझने के लिए और दार्शनिक गुत्थियों को सुलझाने के लिए वेदों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। वेद समस्त जीवन दृष्टियों का मूल उद्गम एवं भारतीय धर्म और दर्शन की जीवनी- शक्ति है। यहाँ के मेधावी चिन्तकों ने मानसिक कौतुहल की निवृत्ति के लिए ही नहीं, अपितु आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति एवं निरतिशय सुख की प्राप्ति का उपाय खोजने के लिए अपना सम्पूर्ण जीवन सत्यानुसंधान में लगाकर तत्त्व-चिन्तन एवं धर्म के क्षेत्र में अनेक जीवन-दृष्टियों को विकसित किया है।

प्राय: समस्त जीवन-दृष्टियाँ वेदों के ज्ञान से ही अनुप्राणित हैं। वेदों का ज्ञान मानवीय बुद्धि की सीमा से परे वह अतिन्द्रिय एवं प्रातिभ ज्ञान है, जिसका मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने साक्षात्कार किया था। वेदों के संहिता भाग में मन्त्र, ब्राह्मण भाग में यज्ञ एवं आरण्यक भाग में आध्यात्मिक रहस्यों का प्रतिपादन किया गया है। आरण्यकों का अन्तिम भाग ही 'उपनिषद्' है, जिसे वेदों का सार तत्त्व होने के कारण 'वेदान्त' कहा जाता है।

उपनिषदों में ज्ञान को दो भागों में बाँटा गया है- एक वह जो सांसारिक सुखों से लेकर सत्यलोकादि दिव्यसुखों की प्राप्ति कराता है। ऋग्वेदादि का ज्ञान ऐसा ही है। इसे उपनिषदों में 'अपरा- विद्या' कहा गया है। 'परा- विद्या' उसे कहते हैं, जिसके द्वारा अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति की जाती है। 'परा- विद्या' शब्दातीत, आत्मसंवेद्य है, वहाँ शब्द की गति नहीं होती।

(i) वेद शब्द का अर्थ

वेद शब्द ज्ञानार्थक विद् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। विद् धातु के चार अर्थ इस प्रकार हैं-

सत्तायां विद्यते ज्ञाने वेत्ति विन्ते विचारणे।

विन्दति विन्दते प्राप्तौ श्यन्लुक्श्नम्शेष्विदं क्रमात्॥[1]

अर्थात् विद् धातु मुख्यत: (विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने, विद् विचारणे और विद्लृ लाभे) इन चार अर्थों में होता है, जिसका समन्वय करते हुए ऋक्प्रातिशाख्य में विष्णुमित्र ने वेद का अर्थ किया है- *'विद्यन्ते ज्ञायन्ते लभ्यन्ते एभिर्धर्मादिपुरुषार्था इति वेदा:।'* (ऋक्प्रातिशाख्य) अर्थात् जिन ग्रन्थों के द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ-चतुष्टय का बोध (ज्ञान) होता है, जिनके द्वारा पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति होती है और जहाँ पुरुषार्थ-चतुष्टय का सर्वाङ्गीण विवेचन किया जाता है, उसे 'वेद' कहते हैं। आचार्य सायण ने 'वेद' शब्द की एक अन्य व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है-

'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेद:।' (तैत्तिरीय संहिताभाष्य भूमिका) अर्थात् इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए अलौकिक उपाय बताने वाला ग्रन्थ 'वेद' है। *'विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेद:'* इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाये, उसे 'वेद' कहते हैं। *'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'* (आपस्तम्बसूत्र, यज्ञपरिभाषा,३१) के अनुसार 'वेद' के दो विभाग किये गये हैं- 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण'। मन्त्र को पुन: चार भागों में विभाजित किया गया है- *'यदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस: चतुर्विधं मन्त्रजातम्।'* (बृ.उ.शां.भा.२/४/१०) अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में चार प्रकार का मन्त्र समुदाय है, इसी को 'संहिता' भी कहा जाता है। इसी क्रम में ब्राह्मण के तीन विभाग किये गये हैं- ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। पुन: उपनिषद् के दो विभाग किये गये हैं- संहितापरक उपनिषद् तथा ब्राह्मणपरक उपनिषद्।

---

[1] वैदिक साहित्य एवं संस्कृति, पृ. १

(ii) उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपनिषद् शब्द का प्रयोग ब्रह्मविद्या (आत्मविद्या) के लिए किया जाता है। कठोपनिषद् सम्बन्ध भाष्य में आचार्य शङ्कर उपनिषद् शब्द की निरुक्ति इस प्रकार करते हैं- *'सदेर्धातोर्विशिरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषद् इति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते।'*[2] अर्थात् उपनिषद् शब्द उप उपसर्ग + नि उपसर्ग पूर्वक षद्लृ (सद्) धातु पूर्वक क्विप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न होता है। 'उप' समीपता का बोधक है, 'नि' निश्चय और निष्ठा का द्योतक है। षद्लृ (सद्) धातु विशरण (हिंसा), गति और अवसादन (शिथिलीकरण), इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है। ये तीनों ही अर्थ यहाँ सङ्गत होते हैं। 'उपनिषद्' पद से ब्रह्मविद्या का बोध होता है, क्योंकि कोई वैराग्यसम्पन्न मुमुक्षु इस ब्रह्मविद्या के (उप) समीप जाकर (नि) निष्ठापूर्वक और निश्चय के साथ इसका अनुशीलन करता है, तो यह विद्या - *'उपनिषादयति सर्वानिर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति।'*[3]

- ❖ यह विद्या सबसे पहले उसकी 'संसार सार वस्तु है' इस बुद्धि को शिथिल (क्षीण) कर देती है (अवसादयति)।
- ❖ फिर उसके जन्म- मरण रूप संसार चक्र के बीजभूत अज्ञान का विनाश कर देती है (विशृणाति)।
- ❖ और अन्त में उसको परब्रह्म के पास पहुँचा देती है (गमयति) अर्थात् ब्रह्मरूप बना देती है।

(iii) वेदान्त शब्द का तात्पर्यार्थ

वेदादि का विधिपूर्वक अध्ययन, मनन तथा उपासना आदि के अनन्तर अन्त में जो तत्त्व जाना जाए अथवा उस तत्त्व का विशेषरूप से जहाँ निरूपण किया गया हो, उस शास्त्रविशेष को

---

2 क.उ.स.भा.पृ.१७४

3 संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.७४-७५

वेदान्त कहा जाता है। इस क्रम में संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् रूप जो शब्दराशि है, उसके चरम भाग को 'वेदान्त' संज्ञा से अभिहित किया गया है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जिसमें वेदों के चरम तात्पर्य को निरूपित किया गया है, उसे 'वेदान्त' कहते हैं- *'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च।' (वेदान्तसार,पृ.२५) 'उपनिषद् एव प्रमाणमुपनिषत्प्रमाणम्। उपनिषदो यत्र प्रमाणमिति वा। तदुपकारीणि वेदान्तवाक्यसङ्ग्रहकाणि शारीरकसूत्रादीनि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इत्यादीनि सूत्राणि। आदिशब्देन भगवद्गीताद्यध्यात्मशास्त्राणि गृह्यन्ते तेषामप्युपनिषच्छब्द वाच्यत्वादितिभाव:।*[4]

वेदान्त नाम उन उपनिषदों का है जो ब्रह्मज्ञान रूप प्रमा का मुख्य साधन है। वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग होने के कारण मुख्यत: उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा जाता है- *'वेदानाम् अन्त: इति वेदान्त:'*[5] इस व्युत्पत्ति द्वारा 'वेदान्त' शब्द का व्यवहार मुख्य रूप से वेदों के अन्तिम भाग उपनिषदों के लिए होता है और उपचार से उनका उपकारक होने के कारण शारीरक सूत्र आदि को भी 'वेदान्त' शब्द से अभिहित किया गया है- *'वेदशिरोभागे ब्रह्मप्रतिपादके उपनिषद्रूपे ग्रन्थभेदे तदुपकारके शारीरकसूत्रभाष्यादौ च उत्तरमीमांसाशब्दे।'*[6]

ब्रह्मविद्या के सन्दर्भ में 'विद्या' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है- *'विद्यते लभ्यते उपास्यते चित्तस्थैर्य यया क्रियया सा विद्या।'*[7] अर्थात् जिस क्रिया से उपास्य में उपासक के चित्त का स्थैर्य लाभ हो वह क्रिया विद्या है। 'विद्या' शब्द का अर्थ है- ज्ञान। यहाँ विद्या शब्द केवल 'ब्रह्मज्ञान' का सूचक नहीं है, अपितु परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने के जो साधन या मार्ग हैं, उन्हें भी उपनिषदों में विद्या ही कहा गया है- *'प्रयोजनमस्या: ब्रह्मविद्याया अविद्या निवृत्तिस्तत: आत्यन्तिक: संसाराभाव:।'*[8] ब्रह्मविद्या का प्रयोजन अविद्या की निवृत्ति पूर्वक संसार का अत्यन्ताभाव है।

---

4 वेदान्तसार, सुबोधिनी टीका, (व्या.) आद्याप्रसाद मिश्र, पृ. २५

5 वेदान्तसार, पृ. ८

6 वाचस्पत्यम, भाग ६, पृ.४९६७

7 वेदान्तसार,(व्या.) बदरीनाथ शुक्ल, पृ.५०

8 तै.उ.शां.भा.१/११

भारतीय दार्शनिक परम्परा अपने गम्भीर चिन्तन एवं गहन अनुशीलन के लिए प्रसिद्ध रही है। व्यावहारिक जीवन में अनुभूत होने वाले दु:खों को जानकर उसका उपचार ढूढ़ना एवं सुख प्राप्ति का प्रयत्न करना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। मानव की इसी प्रवृत्ति ने धर्म और दर्शन को जन्म दिया। वस्तुत: जीवन- दृष्टि का नाम ही दर्शन है। सत्य क्या है? यह सृष्टि क्या है? सृष्टि के मूल में वह कौन सा तत्त्व है, जिसके कारण यह सृष्टि सतत प्रवाहशील है? मानव जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है? उस स्वरूप का मूल स्रोत क्या है? जीवन का उद्देश्य क्या है? इन तात्त्विक प्रश्नों के प्रति भारतीय मनीषी सदा उद्योगशील रहे हैं। सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को ऋषियों द्वारा अत्यन्त संक्षिप्त शब्दावली में कहा गया है। इन संक्षिप्त शब्दावली से युक्त गूढ़ दार्शनिक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने वाले वाक्यों को 'महावाक्य' कहते हैं।

(iv) महावाक्य शब्द का अर्थ

महावाक्य शब्द वेदान्त दर्शन में पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जो एक विशिष्ट अर्थ (जीवब्रह्मैकत्व) का प्रतिपादन करता है। सर्वज्ञातमुनि ने सङ्क्षेपशारीरक भाष्य में कहा है- *'विना महावाक्यमतो न कश्चित्पुमांसमद्वैतमवैति जन्तु:।'*[9] अर्थात् महावाक्यों के ज्ञान के विना कोई भी साधक (पुरुष) अद्वयानन्द की अनुभूति नहीं कर सकता। अत: अद्वैतानुभूति के लिए महावाक्यों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। महावाक्य के सन्दर्भ में शब्दकल्पद्रुम में कहा गया है- *'महत् महदर्थ प्रकाशकं वाक्यं तत्त्वमसीति वाक्यम्।'*[10] अर्थात् दर्शन के गम्भीर रहस्यमय अर्थों को प्रकाशित करने वाले वाक्य को महावाक्य के रूप में अभिहित किया गया है। वाचस्पत्यम के अनुसार- *'वेदान्तोक्ते ब्रह्मविद्या प्रतिपादके तत्त्वमस्याद्युपनिषदवाक्ये।'*[11] वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश में महावाक्य के सन्दर्भ में कहा गया है- महदर्थ प्रकाशक वाक्य, जैसे- 'तत्त्वमसि', 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' आदि। विवेकचूडामणि के अनुसार- *'एवं महावाक्यशतेन कथ्यते ब्रह्मात्मनोरैक्यमखण्डभाव:।'*[12] अर्थात् महावाक्यों के माध्यम से ही

---

9 सङ्क्षेपशारीरक ३/३०३

10 शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृ. ६७१

11 वाचस्पत्यम, भाग ६, पृ.४७४४

12 विवेकचूडामणि, महावाक्यविचार, श्लोक २५१

अज्ञान- रूपी बन्धन की परिसमाप्ति होने पर शुद्ध अन्त:करण में ब्रह्म और आत्मा की अखण्ड एकता (अभेद प्रतीति) सम्भव है। *'अनादाविह संसारे बोधको गुरुरेव हि'*[13] के अनुसार आत्मतत्त्व की अनुभूति में गुरु की महनीय भूमिका होती है। शास्त्रीय दृष्टि से जीव और ब्रह्म में अभेद स्वीकार किया गया है, परन्तु जीव अज्ञान से ग्रस्त होकर अपने से ब्रह्म को पृथक् समझने लगता है। इसी अविवेक के कारण उसे बार- बार संसार में जन्म लेना पड़ता है और असह्य कष्टों को सहना पड़ता है। अत: संसार के आवागमन से मुक्ति हेतु तथा *'जीवो ब्रह्मैव नापर:'*[14] के भाव का अनुभव करने के लिए महावाक्य का श्रवण, मनन और निदिध्यासन अत्यन्त आवश्यक है-

श्रोतव्य: श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभि:।

मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शनहेतव:॥[15]

ब्रह्मस्वरूप को जानने का इच्छुक व्यक्ति श्रुतिवाक्यों से उसके स्वरूप का श्रवण करे, सुने हुए तत्त्व का युक्तिपूर्वक मनन करे। मनन करने के पश्चात् उसका ध्यान करे। महावाक्यों के श्रवण, मनन और निदिध्यासन से व्यक्ति संसार रूपी सागर से पार हो जाता है।

समस्त वेद के अर्थ का सार तथा वेदान्त का सर्वोच्च ज्ञान महावाक्यों में निहित है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अनेक मूल्यवान् निर्देश, वेदों का तात्पर्यार्थ तथा सृष्टि के रहस्यमय भाव बीज रूप में समाहित होने के कारण ऐसे वाक्यों को महावाक्य के रूप में अभिहित किया गया है। महावाक्यों में निहित ज्ञान की पराकाष्ठा तथा अर्थ-गाम्भीर्य के कारण ही वेदान्त को वेद का सार कहा गया तथा इनको आधार बनाकर पर्याप्त चिन्तन किया गया।

(v) महावाक्यों की संख्या

वेदान्त के शास्त्रीय ग्रन्थों में महावाक्यों की संख्या का भिन्न-भिन्न रूप में उल्लेख मिलता है। सदानन्द ने अपने प्रकरण ग्रन्थ वेदान्तसार में केवल दो महावाक्यों का निरूपण किया है-

---

13 तत्त्वोपदेश ४७

14 ब्रह्मज्ञानावलीमाला, २०

15 बृहदारण्यकभाष्यवार्तिक, २/४/३०४ पर उद्धृत

1. *'तत्त्वमसि'* (छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७)।
2. *'अहं ब्रह्मास्मि'* (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०)।

विद्यारण्य ने पञ्चदशी के 'महावाक्यविवेक' नामक प्रकरण में चार महावाक्यों का प्रतिपादन किया है-

1. *'प्रज्ञानं ब्रह्म'* (ऐतरेय-आरण्यक ५/३)।
2. *'अहं ब्रह्मास्मि'* (बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०)।
3. *'तत्त्वमसि'* (छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७)।
4. *'अयमात्मा ब्रह्म'* (माण्डूक्योपनिषद्, मंत्र २)।

'महावाक्य- विवरण' ग्रन्थ में ११ महावाक्यों का तथा 'महावाक्यार्थदर्पण' में १२ महावाक्यों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं-

1. *'तत्त्वमसि'* (छान्दोग्योपनिषद्,६/८/७)।
2. *'अहं ब्रह्मास्मि'* (बृहदारण्यकोपनिषद्,१/४/१०)।
3. *'अयमात्मा ब्रह्म'* (माण्डूक्योपनिषद्, मंत्र २)।
4. *'प्रज्ञानं ब्रह्म'* (ऐतरेय-आरण्यक,५/३)।
5. *'एष ते आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'* (बृहदारण्यकोपनिषद्,३/७/३)।
6. *'स यश्चायम्'* (तैत्तिरीयोपनिषद्,२/८/१)।
7. *'पुरुषे यश्चासौ'* (वही,३/२/८)।
8. *'आदित्ये स एकः'* (वही,२/८/१)।
9. *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* (वही,२/१/१)।
10. *'स एवमेव पुरुषो ब्रह्म'* (ऐतरेयोपनिषद्,३/१३)।
11. *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* (छान्दोग्योपनिषद्,३/१९/१)।
12. *'एकमेवाद्वितीयम्'* (वही,६/२/१)।

वैसे तो गूढार्थ रहस्यों को उद्घाटित करने वाले अनेक महावाक्यों की परिगणना विद्वानों ने की है, किन्तु उनमें से चार महावाक्य अति प्रख्यात हैं, जो चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करते हैं। ये

महावाक्य अपरिच्छिन्न ब्रह्म की परिभाषा देते हैं। साधक को स्वस्वरूपानुसंधान का साधन बताते हुए आत्मसाक्षात्कार होने पर साधक की आन्तरिक दशा का निरूपण करते हैं। ये महावाक्य चारों वेदों से सम्बद्ध आरण्यक / उपनिषदों से लिए गये हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. ऋग्वेद के ऐतरेय- आरण्यक का '**प्रज्ञानं ब्रह्म**' (५/३)।
2. अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् (मंत्र २) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१/५/१९) का '**अयमात्मा ब्रह्म**'।
3. सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का '**तत्त्वमसि**' (६/८/७)।
4. शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् का '**अहं ब्रह्मास्मि**' (१/४/१०)।

(vi) भारतीय-विचारधारा में प्रस्थानत्रयी

भारतीय दर्शन की चिन्तन धारा में उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र को प्रस्थान-ग्रन्थ माना जाता है। भारतीय विचारधारा में ये तीनों ग्रन्थ उपजीव्य ग्रन्थ रहे हैं। उपनिषदों में समस्त दर्शनों के बीज समाहित हैं, श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद् का सार है एवं महर्षि व्यास विरचित ब्रह्मसूत्र एक ऐसा विलक्षण ग्रन्थ है, जिसमें आपातत: विरोधी प्रतीत होने वाले सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए सभी का अभिप्राय एक मात्र ब्रह्म में निर्दिष्ट किया गया है। वेदान्त दर्शन पर आधारित समस्त विचारधाराओं का मूल इन्हीं तीन ग्रन्थों में है। वैष्णव विचारधारा के सभी आचार्यों द्वारा अपनी-अपनी दृष्टि से ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लेखन करते हुए विशिष्ट सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है। इन विचारधाराओं का गहराई से अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि भारतीय दार्शनिक अपनी मौलिक प्रतिभा से विभिन्न दृष्टियों से तत्त्वान्वेषण एवं सत्य के स्वरूप का विश्लेषण किया है। साधन मार्ग की भिन्नता होते हुए भी सभी विचारकों का लक्ष्य मनुष्य को आत्यन्तिक दु:ख से निवृत्त कर निरतिशय सुख की प्राप्ति कराना है।

(vii) ब्रह्मसूत्र शब्द का अर्थ एवं संक्षिप्त परिचय

'ब्रह्मसूत्र' शब्द ब्रह्म और सूत्र का समस्त रूप है जिस पर शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि ब्रह्म पद बृद्धयर्थक बृहि धातु से मनिन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ है- सब ओर से बढ़ा हुआ। इस व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए ब्रह्म के विषय

में आचार्य शङ्कर का कथन है- *'बृहत्तमत्वात् ब्रह्म'* अर्थात् सर्वत्र व्याप्त एवं सबसे बड़ा होने के कारण सृष्टि के नियन्ता परमात्मा को 'ब्रह्म' संज्ञा से अभिहित किया गया है। दूसरा पद 'सूत्र' है, जो विभिन्न विचारों एवं तथ्यों को एकरूप देने वाला संक्षिप्त किन्तु व्यापक अर्थ का बोधक एवं अल्प अक्षरों में ही संदेह रहित अभिष्ट अर्थ का पूर्णरूप से प्रतिपादन करने वाला होता है। इस प्रकार ब्रह्म सम्बन्धी विचारों को एकत्र प्रस्तुत करने वाले ग्रन्थ विशेष को 'ब्रह्मसूत्र' नाम से अभिहित किया गया। श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्य में 'ब्रह्मसूत्र' पद की व्याख्या इस प्रकार की गयी है-

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥[16]

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या के सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर 'ब्रह्मसूत्र' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं- *'ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि तैः पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्म इति तानि पदानि उच्यन्ते।... ब्रह्मसूत्रपदैः आत्मा ज्ञायते।'*[17] अर्थात् जो वाक्य ब्रह्म के सूचक हैं, उनका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है। उनके द्वारा ब्रह्म पाया जाता है, जाना जाता है, इसलिए उनको 'पद' कहते हैं। ब्रह्मसूत्र पद द्वारा आत्मा का अवबोध होता है। हलायुधकोश में ब्रह्म के निर्णायक सूत्रग्रन्थ को 'ब्रह्मसूत्र' कहा गया है- *'ब्रह्मनिर्णयसूत्रं ब्रह्मसूत्रम्।'*[18] इस प्रकार 'ब्रह्मसूत्र' का एकमात्र विवेच्य तत्त्व 'ब्रह्म' ही है। इस ग्रन्थ का नाम ही इसके प्रतिपाद्य विषय का पूर्ण प्रतीक है।

वेदान्त विषयक विचार वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र विखरे पड़े थे, जिसको 'ब्रह्मसूत्र' में समाहित किया गया। अतः वेदान्त दर्शन का प्रारम्भिक एवं अव्यवस्थित रूप उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त होता है तथा उसका व्यवस्थित रूप बादरायण द्वारा विरचित 'ब्रह्मसूत्र' में है। ब्रह्मसूत्र प्रधान रूप से वेदान्त का आधार ग्रन्थ माना जाता है। ब्रह्मसूत्र इतने लघु एवं संक्षिप्त रूप में है कि बिना भाष्य की सहायता से उसका अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। अतः ब्रह्मसूत्र के स्पष्टीकरण

---

16 श्रीमद्भगवद्गीता, १३/४

17 वही, शां.भा.

18 हलायुधकोश, पृ. ४८५

के लिए एक सरल शैलीयुक्त सुस्पष्ट भाष्य की आवश्यकता थी, जिस कार्य को आचार्य परम्परा द्वारा सरल, सुबोध तथा प्रौढ़ भाषा में सूत्रों को विस्तृत रूप से व्याख्यायित किया गया।

(viii) ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ की संरचना

महर्षि बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है, जिसका विषयवस्तु की दृष्टि से संक्षिप्त परिचय अवलोकनीय है-

- **प्रथम अध्याय-** ब्रह्मसूत्र के प्रथम अध्याय को 'समन्वयाध्याय' कहा जाता है। इसमें उपनिषद् वाक्यों का ब्रह्म में तात्पर्य निरूपित किया गया है।
- **द्वितीय अध्याय-** 'अविरोधाध्याय' संज्ञा से अभिहित द्वितीय अध्याय में श्रुतियों एवं स्मृतियों में आपातत: प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार विहित है। इस अध्याय में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि समस्त उपनिषद् वाक्य ब्रह्मपरक ही हैं। अवैदिक मतों का निराकरण एवं वेदान्त की प्रामाणिक स्थापना भी इस अध्याय की विषयवस्तु है।
- **तृतीय अध्याय-** ब्रह्मसूत्र का तृतीय अध्याय 'साधनाध्याय' के रूप में विख्यात है। इसके अन्तर्गत परलोकगमन, तत् एवं त्वम् पदार्थों का विवेचन तथा सगुण एवं निर्गुण ब्रह्मविचार करने के पश्चात ब्रह्म प्राप्ति के साधनों श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का विस्तृत विवेचन है।
- **चतुर्थ अध्याय-** 'फलाध्याय' के रूप में विख्यात चतुर्थ अध्याय में सगुणोपासकों एवं निर्गुणोपासकों को प्राप्त होने वाले फलों तथा जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति का वर्णन किया गया है।

(ix) वेदान्त-परम्परा में चिन्तन-वैविध्य एवं साधन भेद

वेदान्त दर्शन के समस्त चिन्तन धाराओं के चिन्तन का विषय ब्रह्म, जीव, आत्मा, परमात्मा, जगत्, माया, बन्धन और मोक्ष है। विषय की एकरूपता होने पर भी सभी आचार्यों ने 'ब्रह्मसूत्र' ग्रन्थ पर भाष्य लिखकर अपने-अपने चिन्तन, दृष्टिकोण एवं सिद्धान्त को स्पष्ट किया। ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषद् की श्रुतियों में अद्वैत वेदान्त से प्रारम्भ कर भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत,

शुद्धाद्वैत, अविभागाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद एवं द्वैत सिद्धान्त तक सद्भाव निहित है। वेदान्त के सभी आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि से अपने-अपने सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करने वाली श्रुतियों एवं सूत्रों को ही प्रधान रूप से स्वीकार करते हुए अपने सिद्धान्त की प्रामाणिकता को पुष्ट किया है। जन सामान्य की दृष्टि में आचार्य शङ्कर का अद्वैत सिद्धान्त ही वेदान्त के रूप में रूढ़ हुआ, किन्तु अन्य आचार्यों की सैद्धान्तिक धाराएँ भी वेदान्त के ही अन्तर्गत हैं, इसलिए वैष्णव-दर्शन के रूप में प्रसिद्ध होने पर भी इन विचारधाराओं को रामानुज-वेदान्त, वल्लभ-वेदान्त, माध्व-वेदान्त, निम्बार्क-वेदान्त के रूप में भी अधिगृहीत किया जाता है।

(x) एकादश-भाष्यकारों एवं उनके सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त परिचय

वेदान्त दर्शन का आकर ग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' के अत्यन्त गम्भीर होने के कारण इसमें साधकों को दृष्टिभेद से भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। दृष्टिकोण अलग-अलग होने के परिणामस्वरूप ही 'ब्रह्मसूत्र' को आधार बनाकर अनेकानेक भाष्य लिखे गये, जिनमें एकादश-भाष्य निम्नलिखित हैं-

1.	अद्वैत	आचार्य शङ्कर	शारीरकभाष्य	७८८-८२०ई.
2.	भेदाभेद	आचार्य भास्कर	भास्करभाष्य	१०००ई.
3.	विशिष्टाद्वैत	आचार्य रामानुज	श्रीभाष्य	१०१७–१११७ ई.
4.	द्वैत	आचार्य मध्व	पूर्णप्रज्ञभाष्य	१२३८–१३१७ ई.
5.	द्वैताद्वैत	आचार्य निम्बार्क	वेदान्तपारिजात	११०० ई.
6.	शैवविशिष्टाद्वैत	आचार्य श्रीकण्ठ	शैवभाष्य	१२७० ई.
7.	वीरशैवविशिष्टाद्वैत	आचार्य श्रीपति	श्रीकरभाष्य	१४०० ई.
8.	शुद्धाद्वैत	आचार्य वल्लभ	अणुभाष्य	१४७९–१५३२ ई.
9.	अविभागाद्वैत	आचार्य विज्ञानभिक्षु	विज्ञानामृतभाष्य	१६०० ई.
10.	अचिन्त्यभेदाभेद	आचार्य बलदेवविद्याभूषण	गोविन्दभाष्य	१७२५ ई.
11.	स्वरूपाद्वैत	श्रीपञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्य	शक्तिभाष्य	१८६७–१९४० ई.

प्रस्तुत शोध-कार्य में उपर्युक्त भाष्यों के आधार पर *'तत्त्वमसि'* (छा.उ.६/८/७) महावाक्य के विश्लेषण के माध्यम से भाष्यकारों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तथा उनकी व्याख्या-पद्धति सम्बन्धी विवेचन करते हुए अर्थ-निर्धारण किया जायेगा।

ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध ख्याति प्राप्त एकादश-भाष्यकारों एवं उनके सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त परिचय अवलोकनीय है-

❖ आचार्य शङ्कर

भगवान् शिव के अवतार एवं अद्वैत वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य शङ्कर का जन्म केरल प्रान्त के कालडी नामक ग्राम में नम्बूदरीपाद ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनका समय 788–820 ई. माना जाता है। इनके पिता का नाम शिवगुरु और माता का नाम विशिष्टा देवी था। इनके गुरु का नाम आचार्य गोविन्द था, जिनसे इन्होंने संन्यास की दीक्षा ली थी। भारतवर्ष का भ्रमण करते हुए इन्होंने चारों दिशाओं में चार मठ की स्थापना की- उत्तर दिशा (बदरिकाश्रम) में ज्योतिर्मठ, पूर्व दिशा (जगन्नाथपुरी) में गोवर्धन मठ, पश्चिम दिशा (द्वारका) में शारदा मठ और दक्षिण दिशा (श्रृंगेरी) में श्रृंगेरी मठ की स्थापना कर देश को एक सूत्र में बाँधा। उनके जीवन के सम्बन्ध में यह अत्यन्त प्रसिद्ध श्लोक परम्परा में प्राप्त होता है-

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

अर्थात् आठ वर्ष की आयु तक इन्होंने चारों वेदों का अध्ययन कर लिया, बारह वर्ष की आयु तक वे सभी शास्त्रों के ज्ञाता हुए, सोलह वर्ष की उम्र में उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य की रचना की और बत्तीस वर्ष की उम्र में इस संसार से चले गये। लेखन-कार्य में मुख्य रूप से प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और गीता) पर भाष्य रचना तथा अनेक प्रकरण ग्रन्थ एवं स्तोत्र ग्रन्थों के माध्यम से इन्होंने अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

○ अद्वैत-वेदान्त

आदि शङ्कराचार्य के अद्वैत-सिद्धान्त को निर्विशेषाद्वैत अथवा केवलाद्वैत नाम से भी अभिहित किया गया है। इस विचारधारा को स्मार्त- सम्प्रदाय (वैदिक-सम्प्रदाय) माना जाता है। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य शङ्कर विरचित भाष्य को 'शारीरकभाष्य' के रूप में जाना जाता है। शारीरक

शब्द का अर्थ है- शरीर में रहने वाली आत्मा। इसमें मुख्यत: आत्मा के स्वरूप पर विचार किया गया है। आदि शङ्कर ने एकमात्र ब्रह्म को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। इन्होंने जीव- जगत् का अस्तित्व नहीं माना है। इनको वे रज्जु में सर्प की भाँति भ्रम मानते हैं। माया को ब्रह्म की शक्ति माना है। माया के योग से निर्विशेष ब्रह्म सगुण रूप में अभिव्यक्त होता है, इस अवस्था में उसे जगत् का कारण मानते हैं। जीव जगत् का अस्तित्व न रहने से उनके सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। अद्वय-तत्त्व की स्थापना के कारण इस मत को अद्वैतवाद के नाम से अभिहित किया जाता है। अद्वैत-वेदान्त का मुख्य-सिद्धान्त है- *"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:"* अर्थात् ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ही ब्रह्म है।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की दिशा में गति देने के साथ ही आचार्य शङ्कर ने अद्वैत-सिद्धान्त को भी सुदृढ़ तार्किक आधार प्रदान किया।

➢ साधन एवं अधिकारी-निर्णय

वेदान्त-ग्रन्थों का अध्ययन, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन, ब्रह्मनिष्ठ गुरु की श्रद्धाभक्ति से सेवा एवं आध्यात्म विषयक प्रश्न करना, 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि', 'सोऽहं' आदि वेदान्त वाक्यों का चिन्तन एवं चित्त को एकाग्र कर ध्यान से अपरोक्षानुभूति द्वारा तत्त्व का साक्षात्कार करना ही वेदान्त का साधन-मार्ग है और ब्रह्म-भाव में स्थित होना ही अद्वैत-वेदान्त का साध्य है। अद्वैत-सिद्धान्त को आत्मसात करने के लिये साधक में नित्यानित्य वस्तु विवेक, शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा एवं मुमुक्षुत्व आदि गुणों का होना अनिवार्य आवश्यकता है।

❖ आचार्य भास्कर

आचार्य भास्कर शंकराचार्य के परवर्ती आचार्य रहे हैं। इनका अनुमानित काल लगभग 1000 ई. स्वीकार किया जाता है। इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'भेदाभेदवाद' और 'ब्रह्मपरिणामवाद' के रूप में प्रसिद्ध है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता पर भाष्य रचना किया तथा छान्दोग्य उपनिषद् पर भी टीका लिखी, जो आज अनुपलब्ध है।

○ भेदाभेदवाद

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य भास्कर हैं। 'भेदाभेद-सिद्धान्त' नूतन न होकर प्राचीन है। यह 'द्वैताद्वैत-सिद्धान्त' का ही नामान्तर है। निम्बार्क से पहले भास्कराचार्य इस विचारधारा के समर्थक रहे हैं, किन्तु इस सिद्धान्त को प्रसिद्धि आचार्य निम्बार्क के प्रयास से मिली।

ब्रह्मसूत्र पर आचार्य भास्कर द्वारा विरचित भाष्य को 'भास्करभाष्य' के रूप में जाना जाता है। इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'भेदाभेदवाद' कहलाता है। आचार्य भास्कर के चिन्तन में ब्रह्म, जीव और जगत् का स्वरूप निम्नलिखित है-

- **ब्रह्म का स्वरूप**

इस चिन्तन प्रणाली में ब्रह्म के दो रूप बताये गये हैं- कारणरूप तथा कार्यरूप। कारणरूप में सच्चिदानन्द ब्रह्म एक एवं अद्वितीय है तथा कार्यरूप में वह अनेक रूपों में प्रतीत होता है। ब्रह्म को ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण माना गया है। जीव एवं जगत् रूप में वह अपनी इच्छा से परिणत होता है।

- **जीव का स्वरूप**

परिणाम-शक्ति से ब्रह्म उपाधियुक्त होकर जीवरूप में परिणत होता है। स्वाभाविक अवस्था में जीव विभु एवं ब्रह्म से अभिन्न है।

- **जगत् का स्वरूप**

परिणाम-शक्ति से उपाधियुक्त होकर ब्रह्म जगत् रूप में परिणत होता है।

- **जीव जगत् और ब्रह्म का सम्बन्ध**

ब्रह्मसूत्र भास्करभाष्य में ब्रह्म और जीव के बीच भेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म को जीव से भिन्न एवं अभिन्न दोनों माना है- *'भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्म इति स्थितम्।'* जीवों का ब्रह्म से भेद और अभेद वैसे ही है, जैसे फेन तरंगादि का समुद्र से। ब्रह्म एक है और वह नाना रूप में भी विद्यमान है। उसकी सत्ता न तो नित्तान्त एक रूप है और न भिन्न रूप- *'कार्यरूपेण नानात्वम् अभेद: कारणात्मना।' (भास्करभाष्य, १/१/४)* अर्थात् भेद और अभेद दोनों को सत्य मानते हुए आचार्य भास्कर कारण रूप में अभिन्नता का और कार्य रूप में भिन्नता का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मपरिणामवाद के सम्बन्ध में इनका कथन है कि जगत् रूप परिणाम शांकरवेदान्त की तरह मिथ्या न होकर सत्य है। इनके अनुसार अनवरत एवं अखण्ड आनन्द के बोध की अवस्था मोक्ष है। ये आचार्य शङ्कर की भाँति केवल 'ज्ञान' को नहीं, अपितु 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' को मोक्ष का साधन मानते हैं।

इस चिन्तन में जीव- जगत् सत्य है, किन्तु औपाधिक व अनित्य है। उपाधियों के नष्ट होने पर जैसे घटाकाश और महाकाश का भेद मिट जाता है, वैसे ही जीव और ब्रह्म भी अभिन्न हो जाते हैं। सृष्टि एवं स्थिति काल में जीव- जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, किन्तु प्रलय काल में ब्रह्म से एकत्व को प्राप्त होते हैं- *'जीवपरयोश्च स्वाभाविकोऽभेद: औपाधिकस्तु भेद:।' (वही, ४/४/४)* अत:

उपाधि द्वारा भेद को स्वीकार करने के कारण इनके मत को 'औपाधिक-भेदाभेदवाद' कहा जाता है। आचार्य भास्कर के अनुसार जीव और ब्रह्म के इसी भेद और अभेद में समस्त वेदान्त वाक्यों का तात्पर्यार्थ निहित है।

❖ आचार्य रामानुज

इनका जन्म तमिलनाडु प्रान्त के भूतपुरी ग्राम में 1017 ई. में हुआ था। इनके पिता का नाम केशव यज्वा और माता का नाम कान्तिमति था। काञ्ची में इन्होंने यादव प्रकाश से वेदान्त का अध्ययन किया और बाद में यमुनाचार्य और काञ्चीपूर्ण के शिष्य बने। आचार्य काञ्चीपूर्ण से इन्होंने वैष्णवी दीक्षा ली थी। 32 वर्ष की आयु में वे त्रिदण्डी संन्यासी हो गये। उनका निधन 1137 ई. में हुआ। आचार्य रामानुज को वैष्णव-परम्परा के 'श्री-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

○ विशिष्टाद्वैत

आचार्य रामानुज कृत वेदान्त सम्बन्धी सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इनके सम्प्रदाय को 'श्री-सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। इनका मार्ग 'प्रपत्ति-मार्ग' कहलाता है। ब्रह्मसूत्र पर इन्होंने 'श्री-भाष्य' का प्रणयन किया, जिसमें तीन तत्त्वों (जीव, जगत् तथा ईश्वर) की सत्ता स्वीकार करते हैं। यहाँ जीव का नित्य पृथक् अस्तित्व स्वीकार्य है। इनके अनुसार जीव ब्रह्म का शरीर है तथा जगत् ब्रह्म का परिणाम (ब्रह्म का अवस्थान्तर) है एवं दोनों ही सत्य हैं। इन दोनों में वे परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव मानते हैं। इसमें जीव चित्, जगत् अचित् तथा ब्रह्म के चित् एवं अचित् से विशिष्ट (युक्त) होने के कारण इनका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इन दोनों विशिष्टों में *"विशिष्टयो: ऐक्यम्"* कहकर एकता का प्रतिपादन किया गया है।

यहाँ ब्रह्म के रूप में वैकुण्ठपति श्रीनारायण का स्वरूप सगुण एवं सविशेष है, वह किसी भी अवस्था में विशिष्टता से हीन नहीं होता। प्रलय काल में भी जीव और जगत् सूक्ष्म रूप से ब्रह्म में ही विद्यमान रहते हैं। अत: प्रत्येक अवस्था में ब्रह्म विशिष्ट ही रहता है। इस विचारधारा में जीव और जगत् संसार काल में स्थूल और प्रलय काल में सूक्ष्मरूप में विद्यमान रहते हैं। ब्रह्म सृष्टि-काल में कार्यावस्था और प्रलयकाल में कारणावस्था के रूप में जाना जाता है। दूसरे शब्दों में विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म एक ऐसा एकत्व है, जो नानात्व में अनुस्यूत है, एक ऐसा विशिष्ट है, जो अपने विशेषणों को अस्वीकार नहीं करता। प्रलय की अवस्था में चित् (जीव)

और अचित् (जगत्) बीजरूप में ब्रह्म में विद्यमान रहते हैं। ब्रह्म की इस अवस्था को 'कारणब्रह्म' कहते हैं। जब सृष्टि होती है तब ब्रह्म शरीरधारी जीवों तथा भौतिक पदार्थों में व्यक्त होते हैं। ब्रह्म की इस अवस्था को 'कार्यब्रह्म' कहते हैं। ब्रह्म अपनी इन दोनों विशिष्ट अवस्थाओं में अद्वैत रूप में रहता है, इसी अर्थ में 'विशिष्टाद्वैत' का तात्पर्यार्थ निहित है।

- **साधन**

आदि शङ्कर के समान आचार्य रामानुज भी अपरोक्षानुभूति को ही यथार्थ ज्ञान मानते हैं। यह भी मानते हैं कि ज्ञान के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है, किन्तु रामानुज की दृष्टि में ज्ञान का अर्थ ध्रुवा-स्मृति अर्थात् निरन्तर भगवत् स्मरण है। भगवत् प्राप्ति का मुख्य साधन 'भक्ति' है। विशिष्टाद्वैत चिन्तन में ज्ञान-कर्म समुच्चय पर बल दिया गया है।

- **भक्ति का स्वरूप**

आचार्य रामानुज के मत में भक्ति का अर्थ 'प्रपत्ति' है। प्रपत्ति से ही ईश्वर कृपा प्राप्त होती है। वेद विहित कर्मों के अनुष्ठान से चित्त शुद्ध होकर 'प्रपत्ति' के योग्य बनता है। प्रपत्ति रूपा भक्ति के वश में होकर भगवान् स्वयं ही जीव को पूर्ण ज्ञान करा देते हैं। प्रपत्ति पर रामानुज का सर्वाधिक आग्रह होने के कारण इनके मार्ग को 'प्रपत्ति-मार्ग' कहा जाता है।

❖ आचार्य मध्व

इनका जन्म कर्नाटक प्रान्त में उडपी के समीप रजतपथ नगर में 1199 ई. में हुआ था। उडपी आज भी मध्व सम्प्रदाय का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इनके पिता का नाम 'मध्वदेव' और माता का नाम 'देवता' था। इनका बचपन का नाम वासुदेव था। इनके गुरु का नाम अच्युतप्रेक्ष्य था। 25 वर्ष की आयु में इन्होंने संन्यास ग्रहण किया था, तब गुरु ने दीक्षा के समय इनका नाम पूर्णप्रज्ञ आनन्दतीर्थ रखा था, इसीलिये मध्व रचित ब्रह्मसूत्रभाष्य 'पूर्णप्रज्ञदर्शन' के नाम से विख्यात हुआ। वायु के अवतार आचार्य मध्व को 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

○ द्वैतवाद

ब्रह्मसूत्र पर आचार्य मध्व द्वारा विरचित भाष्य को 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' के रूप में जाना जाता है। श्रुतिवाक्य एवं ब्रह्मसूत्र का द्वैत परक अर्थ करने के कारण इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'द्वैतवाद' कहलाता है। इन्होंने जीव और ब्रह्म में अभेद नहीं माना है। मुक्तावस्था में भी द्वैत विद्यमान

रहता है। इनके अनुसार ब्रह्म और जगत् दोनों ही सत्य है। यहाँ जीव को चेतन स्वरूप, परतन्त्र तत्त्व एवं भगवान् श्रीनारायण का दास माना गया है। आचार्य रामानुज की तरह जगत् और ब्रह्म में विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध न मानकर ब्रह्म और जीव का, जीव और जगत् का, जीव और जीव का तथा चेतन और अचेतन की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार कर पारस्परिक भेद का प्रतिपादन करते हुए सत्य ब्रह्म से सत्य जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। मायावाद के ये प्रबल विरोधी हैं। सृष्ट्युत्पत्ति आदि अतिन्द्रिय विषयों में वे वेद प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं। आत्मा की अनुभूति ही मध्व का मोक्ष है। मुक्ति के विषय में मध्व तथा शङ्कर का गम्भीर मतभेद है। मध्व के अनुसार मुक्त जीव अपने और ब्रह्म में तथा मुक्त एवं अमुक्त आत्माओं में भेद को जानता है।

- **साधन**

श्रवण, मनन एवं ध्यान के साथ ही माध्व मत में 'पंच-भेद' ज्ञान आवश्यक है-

1. ईश्वर-जीव का भेद।
2. ईश्वर-जड़ का भेद।
3. जीव का जीव से भेद।
4. जीव का जड़ से भेद।
5. एक जड़ का दूसरे जड़ से भेद।

- **उपासना**

यहाँ उपासना के दो भेद बताये गये हैं-

1. शास्त्राभ्यास रूपा उपासना।
2. ध्यान रूपा उपासना।

- **ध्यान**

यहाँ ध्यान का अर्थ भगवान् की स्मृति है। वैकुण्ठपति श्रीनारायण को परब्रह्म मानते हुए कहा गया है कि समाहित चित्त से प्रभु का ध्यान, उनके ऐश्वर्य एवं गुणों का चिन्तन साधक को अनवरत करना चाहिए।

माध्व विचारधारा के अनुसार भगवान् के अनुग्रह के अभाव में जीव साधारण कार्य भी नहीं कर सकता। शास्त्राभ्यास से ध्यान, ध्यान से अपरोक्ष ज्ञान, अपरोक्ष ज्ञान से भक्ति, भक्ति से परम भक्ति एवं अनुग्रह तथा भगवद् अनुग्रह से मोक्ष प्राप्त होता है। यहाँ मुक्ति के चार प्रकार

बताये गये हैं- सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य एवं सायुज्य। इनमें सायुज्य-मुक्ति सबसे श्रेष्ठ है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द का भोग करना ही सायुज्य-मुक्ति है।

❖ आचार्य निम्बार्क

इनका जन्म वैशाख मास में शुक्ल पक्ष की तृतीया को आन्ध्र प्रदेश में बेलारी जिले के अन्तर्गत निम्बपुर नामक ग्राम में हुआ था। इनका काल रामानुज ने 1140 ई. के पश्चात् एवं आचार्य बलदेव उपाध्याय ने 1250 ई. माना है। ये तैलङ्ग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम जगन्नाथ एवं माता का नाम सरस्वती था। इनका वास्तविक नाम नियमानन्द था। इन्हें सुदर्शन चक्र का अवतार माना गया है। इन्होंने अपनी शक्ति से एक जैनी संन्यासी को सूर्यास्त होने पर निम्ब वृक्ष पर सूर्य के दर्शन कराये थे, इसलिए इनका नाम 'निम्बार्क' पड़ा।

हंसावतार परमात्मा ने सर्वप्रथम इस सम्प्रदाय की शिक्षा सनक को दी थी। अत: निम्बार्क-सम्प्रदाय को 'हंस-सम्प्रदाय' के नाम से भी जाना जाता है। सूर्यावतार आचार्य निम्बार्क को 'वैष्णव-सम्प्रदाय-चतुष्टयी' के 'सनकादि- सम्प्रदाय' का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है।

○ द्वैताद्वैतवाद

ब्रह्मसूत्र पर आचार्य निम्बार्क द्वारा विरचित भाष्य को 'वेदान्तपारिजात' के रूप में जाना जाता है। इनका दार्शनिक सिद्धान्त 'द्वैताद्वैतवाद' कहलाता है। आचार्य निम्बार्क द्वारा जिस 'द्वैताद्वैत-सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया गया, उसी सिद्धान्त का प्रतिपादन पूर्ववर्ती आचार्य भास्कर द्वारा 'भेदाभेद-सिद्धान्त' के नाम से किया गया था, किन्तु इस सिद्धान्त को उत्कर्ष तक पहुँचाने का श्रेय आचार्य निम्बार्क को है। द्वैत एवं अद्वैत दोनों की अपरिहार्यता बताना ही इस सिद्धान्त का प्रयोजन है।

जीव, जगत् और ब्रह्म ये तीनों वास्तविक सत्ताएँ हैं। इन तीनों का पारस्परिक सम्बन्ध नितान्त अभेदपरक नहीं हो सकता और न ही नितान्त भेदपरक। भेद और अभेद दोनों ही यथार्थ हैं। जीव और जगत् ब्रह्म से भिन्न हैं, क्योंकि उनके स्वरूप तथा गुण ब्रह्म के स्वरूप तथा गुणों से अत्यन्त अल्प हैं। यहाँ भेद पृथक्त्व और आश्रित अस्तित्त्व का द्योतक है और अभेद स्वतन्त्र अस्तित्त्व के अभाव का द्योतक है। इस चिन्तन में मोक्षावस्था में भी जीव का पृथक अस्तित्त्व स्वीकार किया गया है। ईश्वर तथा जीव और जगत् में आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव और जगत् ईश्वर पर आश्रित हैं और ईश्वर इनका आश्रय है।

विवर्तवाद के स्थान पर ये परिणामवाद का समर्थन करते हैं। आचार्य निम्बार्क भक्तिमार्गी हैं, इनके मत में श्रीकृष्ण अथवा वासुदेव ही परब्रह्म हैं, जिनको परमात्मा, नारायण एवं पुरुषोत्तम नामों से भी अभिहित किया गया है। चित्- अचित् दोनों ब्रह्मात्मक हैं। ब्रह्म इन दोनों से विलक्षण है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण है। ब्रह्म एवं जीव में कार्य-कारण की भाँति स्वाभाविक भेद एवं अभेद रहने के कारण इस सिद्धान्त को 'स्वाभाविक-भेदाभेद' के रूप में अभिहित किया गया है।

➢ साधन

निम्बार्क विचारधारा में शरणागति ही भगवद्-प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन है। शरण में आने पर ही जीव का कल्याण होता है। प्रपन्न जीव ही भगवदनुग्रह का अधिकारी होता है। भगवदनुग्रह से प्रभु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं रागात्मिका-भक्ति का उदय होता है। भगवान् की करूणा ही जीव में प्रभु के प्रति आकर्षण एवं स्नेह उत्पन्न करती है। प्रेमा-भक्ति का फल ही भगवत् साक्षात्कार है। भगवद्दर्शन से जीव समस्त क्लेशों से मुक्त होकर भगवद्भाव से परिपूर्ण हो जाता है।
द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय में भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधा का चिर किशोर-किशोरी स्वरूप ही आराध्य एवं भक्ति का आलम्बन है। इन्हीं के युगल स्वरूप की उपासना एवं सेवाभक्ति इस सम्प्रदाय में की जाती है। यहाँ युगल स्वरूप की प्रेममयी लीलाओं के मधुर रस का आस्वादन ही भक्त के जीवन का परम ध्येय होता है। रागात्मिका-भक्ति द्वारा भक्तगण प्रेममय युगल स्वरूप की ओर आकर्षित होते हैं। इस साधना के लिए इस सम्प्रदाय में निकुंज उपासना का प्रचलन है, जिसमें सखी-भाव की प्रधानता होती है।

❖ आचार्य श्रीकण्ठ

इनके जीवन के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती है। आचार्य शङ्कर एवं भास्कर के परवर्ती होने के कारण शैवभाष्य के प्रणेता आचार्य श्रीकण्ठ का काल विद्वानों ने 1270 ई. माना है। शैवधर्मावलम्बी होने के कारण इन्होंने 'शैवाद्वैत' का प्रतिपादन किया।

○ शैवविशिष्टाद्वैत

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य श्रीकण्ठ हैं। आचार्य श्रीकण्ठ का सिद्धान्त 'शैवविशिष्टाद्वैत' के रूप में प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र पर इन्होंने 'शैवभाष्य' का प्रणयन किया। इस चिन्तन में शिव को

ईश्वर रूप में माना गया है। इनके अनुसार ब्रह्म शिवरूप है तथा वही उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और मुक्ति का हेतु है। जगत् का निमित्तोपादान कारण ब्रह्म ही है। श्रीकण्ठ को ब्रह्म एवं जीवात्मा में गुण-गुणी भाव सम्बन्ध मान्य है। जगत् ब्रह्म की चित् शक्ति का परिणाम है। शिवात्मकता ही 'मोक्ष' है।

❖ आचार्य श्रीपति

आचार्य श्रीपति आन्ध्र प्रदेश के विजयवाड़ा नामक स्थान के निवासी थे। विद्वानों द्वारा इनका काल लगभग 1400 ई. माना जाता है। आचार्य श्रीपति वीरशैवविशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य हैं। ब्रह्मसूत्रभाष्य लेखन के क्रम ये आगमों एवं निगमों में निहित सिद्धान्त को उद्धृत करते हैं।

○ वीरशैवविशिष्टाद्वैत

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य श्रीपति हैं। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य श्रीपति ने 'श्रीकर-भाष्य' का प्रणयन किया, जिस पर शैव-दर्शन के 'वीर-शैव' मत के सिद्धान्तों का प्रभाव है। इनका दार्शनिक सिद्धान्त 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' कहलाता है। शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को 'वीरशैव', 'विशेषाद्वैत' और 'शिवाद्वैत' के नाम से भी जाना जाता है। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' का तात्पर्यार्थ है- 'शक्तिविशिष्ट जीव' और 'शक्तिविशिष्ट शिव' का सामरस्य। जीव एवं शिव के परस्पर एकाकार के सम्बन्ध में 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है-

'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ (जीवेशौ) शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टा-द्वैतम्।' अर्थात् स्थूलचिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्मचिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का अद्वैत ही 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' (वीरशैवविशिष्टाद्वैत) है। 'सिद्धान्तशिखामणि' ग्रन्थ में 'वीरशैव' पद की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है-

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा: वीर शैवास्तु ते मता:॥ (सिद्धान्तशिखामणि)

अर्थात् 'वी' का अर्थ है- ज्ञान (विद्या) और 'र' का अर्थ है- रमण करना। जीव एवं शिव के अभेद अर्थ को बताने वाली जो विद्या है, उसमें रमण करने वाला शिवभक्त वीरशैव कहलाता है।

आचार्य श्रीपति पाशुपत द्वैतवाद के विरोधी है। उनका कथन है कि शास्त्रों में द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही उपलब्ध होते हैं, इसलिए हमें 'द्वैताद्वैतवाद' को स्वीकार करना चाहिए। वे ब्रह्म और शिव को समानार्थक मानते हैं, परन्तु जगत् उनके अनुसार ब्रह्म से भिन्न है। जीव सत्यस्वरूप है। शिव जगत् का निमित्तोपादान कारण है। मुक्तावस्था में जीव शिवमयता को प्राप्त करता है। यह अवस्था अद्वैत रूप होती है। जीव की मुक्ति त्रिगुणपाश से मुक्त होने पर ही सम्भव है। शिवात्मयता प्राप्त करने के लिए उपनिषद् अध्ययन के अतिरिक्त ईश कृपा तथा गुरु कृपा भी अपेक्षित है।

❖ आचार्य वल्लभ

आचार्य वल्लभ का जन्म मध्य प्रदेश के रायपुर जिले के पास चम्पारन नामक ग्राम में 1478 ई. वैशाख कृष्ण एकादशी को हुआ था। इनके पिता तैलंग ब्राह्मण थे, जिनका नाम लक्ष्मणभट्ट और माता का नाम यल्लममगारु था। इनके पूर्वज कृष्णोपासक थे और विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय को मानते थे। वल्लभाचार्य की शिक्षा वाराणसी में हुई। आठवें वर्ष में पिता ने उनका यज्ञोपवीत संस्कार किया और विष्णुचित्त को उनका आदि विद्या गुरु नियुक्त किया। बाद में वल्लभ ने चिरम्मलय, अन्धनारायण दीक्षित और माधव यतीन्द्र से वेदों का अध्ययन किया। संन्यास ग्रहण करने के बाद आचार्य वल्लभ पूर्णानन्द के रूप में विख्यात हुए। इन्होंने मोक्ष की दिशा में पुष्टिमार्गी-कृष्णभक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1932 ई. आषाढ़ शुक्लपक्ष द्वितीया के दिन इन्होंने गङ्गा में जल समाधि लिया।

○ शुद्धाद्वैत

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य वल्लभ हैं, जिन्हें महाप्रभु भी कहा जाता है। इन्हें पुरुषोत्तम वदनावतार, वैश्वानर अवतार एवं वाक्पति के रूप में भी अभिहित किया गया है। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य वल्लभ द्वारा विरचित 'अणु-भाष्य' को शुद्धाद्वैत का उपजीव्य ग्रन्थ माना जाता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य के आविर्भाव के बाद इसे वल्लभ अथवा पुष्टि-सम्प्रदाय कहा जाता है। इनका दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' कहलाता है। शुद्धाद्वैत की दार्शनिक-विचारधारा का मूल सम्बन्ध 'रूद्र-सम्प्रदाय' एवं दीर्घकाल तक विलुप्त रही विष्णुस्वामी की भक्ति-मार्ग की धारा से माना जाता है। श्रीपाद विष्णुस्वामी ही इस चिन्तन के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं, किन्तु ब्रह्मसूत्र पर उनका कोई भाष्य लेखन प्राप्त नहीं होता। 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में 'शुद्धाद्वैत' शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है-

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेय: समास: कर्मधारय:।

अद्वैतं शुद्धयो: प्राहु: षष्ठीतत्पुरुषं बुधा:॥ (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड-27)

आचार्य गिरिधर जी ने व्याकरण का प्रयोग करते हुए कर्मधारय एवं षष्ठीतत्पुरुष समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' शब्द का दो प्रकार से विग्रह किया है-

1. कर्मधारय समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' शब्द का विग्रह करने पर अर्थ होगा-

   'शुद्धं च इदम् अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम्'।

   अर्थात् मायारहितं एकम् अद्वितीयं सत् (ब्रह्म)।

2. षष्ठीतत्पुरुष समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' शब्द का विग्रह करने पर अर्थ होगा-

   'शुद्धयो: अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम्'।

   शुद्धाद्वैत के इस विग्रह के अनुसार माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म एवं जगत् का अद्वैत है। अर्थात् दो शुद्ध प्रमेयों का अद्वैत 'शुद्धाद्वैत' है।

   - ब्रह्म शुद्ध है और जीव शुद्ध है तथा इन दोनों का जो ऐक्य (अद्वैत) है, वही 'शुद्धाद्वैत' है।
   - शुद्ध सत् ब्रह्म तथा शुद्ध सत् जगत् का अद्वैत ही 'शुद्धाद्वैत' है।

ब्रह्म कारणरूप है और वही कार्यरूप भी है। अतएव कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनों का ऐक्य ही अद्वैत है। 'शुद्ध' पद 'अद्वैत' का विशेषण है। ब्रह्म माया-सम्बन्ध से रहित है, अत: मायाराहित्य ही ब्रह्म की शुद्धता है, जिसके कारण उसे 'शुद्ध-अद्वैत' कहा गया है-

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै:।

कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥[19]

अर्थात् माया के सम्बन्ध से रहित होने के कारण ब्रह्म को 'शुद्ध' कहा गया है। कार्य एवं कारण दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म शुद्ध है, उसमें माया का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार विश्व की एकमात्र सत्ता ब्रह्म है, जीव और जगत् ब्रह्म निमित्तक हैं। सगुण-सविशेष ब्रह्म इनका उपास्य है। रस-स्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इनकी दृष्टि में परब्रह्म हैं। भगवान् के आविर्भाव और तिरोभाव शक्तियों के कारण ही जगत् का विकास एवं लय होता

---

[19] शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृ.२४

है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण हैं। इस चिन्तन में जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना गया है। यहाँ जीव और जगत् को ब्रह्म से अभिन्न बताया गया है। ये दोनों शुद्ध ब्रह्म के कार्य हैं। शुद्ध-अद्वैत तत्त्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण वल्लभाचार्य का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

➢ आविर्भाव-तिरोभाव एवं लीला-रहस्य

शुद्धाद्वैत विचारधारा में ब्रह्म के आविर्भाव की स्थिति में जगत् की अभिव्यक्ति और तिरोभाव की स्थिति में ब्रह्म मात्र शेष रहता है। उपनिषद् वाक्य *'एकोऽहं बहुस्याम्'* की भावना से प्रेरित होकर लीला विलास के लिए श्रीकृष्ण परब्रह्म ही अपने आनन्द का आंशिक तिरोभाव कर अक्षर ब्रह्म एवं आनन्दांश का पूर्ण तिरोभाव कर जीव और जगत् के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। अनुभूयमान जगत् जो कि विविधतापूर्ण एवं अनेक है। वल्लभ दर्शन के अनुसार एक ही तत्त्व अनेक रूपों में परिणत हो जाता है अर्थात् अनेक उस एक में ही समाविष्ट हैं, जब वह चाहता है, स्वसङ्कल्प द्वारा अपने आपको अनेक रूपों में अभिव्यक्त कर लेता है। अत: समस्त चराचर जगत् जो प्रकट हुआ है, वह सब ब्रह्म ही है। जीव- जगत् और ब्रह्म के सम्बन्ध में 'अंश-अंशी भाव' है, हम उसे 'मिथ्या' नहीं कह सकते या 'प्रतीतिमात्र' अथवा 'स्वभावशून्य' भी नहीं कह सकते, क्योंकि इस चिन्तन में कार्य भी 'सत्' है, इसलिए जगत् को परमात्मा की 'लीला' कहा गया है।

परब्रह्म श्रीकृष्ण ने अपनी लीला विलास के लिए सृष्टि की अभिव्यक्ति की है। इस अभिव्यक्ति में वे स्वयं ही जीव एवं जगत् रूप में सर्वत्र विद्यमान हैं। लीला कभी प्रयास जन्य नहीं होती, अन्त:करण के आनन्दपूर्ण होने पर उल्लास रूप में जो क्रिया होती है, वही भगवद् लीला है। अनुग्रह अथवा पुष्टि भी भगवान् की नित्य लीला का विलास है। असहाय जीवों पर अनुग्रह करने हेतु भगवान् जगत् में अवतरित होते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण आर्त एवं शरणापन्न जीव को निरन्तर पुष्ट करते हुए उसके तिरोहित आनन्दांश का पुन: आविर्भाव कर लीला के माध्यम से ही उसे स्वस्वरूप प्रदान कर जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त कर देते हैं।

➢ साधन

वल्लभाचार्य द्वारा साधन-मार्ग का नाम पुष्टि-मार्ग रखा गया है। इसे अनुग्रह-मार्ग अथवा कृपा-मार्ग के नाम से भी जाना जाता है। पुष्टि का तात्पर्य है- जीव का पोषण करना। इस क्रम में 'पुष्टि-भक्ति' को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है- *'पुष्ट्या जायमाना भक्ति: पुष्टि-भक्ति:,*

न तु पुष्ट्यै क्रियमाणा भक्तिः पुष्टिभक्तिः।[20] अर्थात् परमात्मा की पुष्टि या कृपा की आशा रखने वाली भक्ति 'पुष्टि-भक्ति' है, ऐसा अर्थ परम्परा में नहीं है, अपितु परमात्मा हमारे भीतर इस तरह प्रकट हो कि यह सम्पूर्ण जगत् हमें परमात्मा की लीला के रूप में दीखने लगे और तब जो भक्ति उद्‌भूत होती है, वह 'पुष्टि-भक्ति' कहलाती है।

पुष्टि प्राप्त करने से पूर्व परब्रह्म स्वरूप श्रीकृष्ण से सम्बन्ध बनाना आवश्यक है। पुष्टि-मार्ग में इसे ही ब्रह्म-सम्बन्ध कहा जाता है। ब्रह्मनिष्ठ सद्‌गुरु के माध्यम से इस स्थिति तक पहुँचते हैं। ब्रह्म-सम्बन्ध से जीव के समस्त दोषों की निवृत्ति हो जाती है। भगवत्सेवा से अहंता, अज्ञान और मोह के नष्ट होने पर उसे आनन्ददाता श्रीकृष्ण की पुष्टि प्राप्त होती है। पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति प्रभु के सामान्य पुष्टि से होती है और अज्ञानरूपी प्रतिबन्धक की निवृत्ति और स्वस्वरूप का साक्षात्कार ईश्वर के विशिष्ट पुष्टि से सम्भव होता है। पुष्टि-भक्त के लिए मोक्ष लाभ भी तुच्छ है, क्योंकि वह अनवरत भगवद् सायुज्य को प्राप्त कर उसकी रूप माधुरी एवं लीला रस का आस्वादन करता रहता है। इस विचारधारा में पुष्टि के चार स्तर बताये गये हैं-

1. प्रवाह-पुष्टि 2. मर्यादा-पुष्टि 3. पुष्टि-पुष्टि और 4. विशुद्ध-पुष्टि ।

पुष्टि के इन चार प्रकारों में विशुद्ध-पुष्टि भक्ति प्राप्त करना ही पुष्टि-मार्ग का मुख्य उद्देश्य है।

❖ आचार्य विज्ञानभिक्षु

ये बंगाल के निवासी थे। इनका जन्म विद्वानों द्वारा लगभग 1600 ई. निर्धारित किया गया है। आचार्य विज्ञानभिक्षु एक समन्वयवादी दार्शनिक थे। इन्होंने सांख्य-योग और वेदान्त दर्शन के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों में अविरोध प्रदर्शित करके समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है।

○ अविभागाद्वैत

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य विज्ञानभिक्षु हैं। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य विज्ञानभिक्षु का भाष्य 'विज्ञानामृत' नाम से तथा इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'अविभागाद्वैत' के रूप में दर्शन जगत् में प्रतिष्ठित है। इस चिन्तन में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म ही एक अद्वैत-तत्त्व है। इनके अनुसार भेद विभाग रूप तथा अभेद अविभागरूप है। जीव और जगत् प्रलय व मोक्ष

---

20 'कार्यकारणभावमीमांसा' ग्रन्थ में आचार्य श्याम मनोहर जी का उद्धरण, पृ.२२

काल में आधाराधेय भाव से ब्रह्म में अविभक्त होकर रहता है। विभाग सर्ग काल में रहने के कारण अल्प है, जबकि अविभाग प्रलय व मोक्ष काल में सदा रहने के कारण पारमार्थिक है, किन्तु प्रलय व मोक्ष काल में जीव और ब्रह्म का तथा जगत् और ब्रह्म का विभाग न होते हुए भी भेद तो रहता ही है। विभागाविभाग रूप भेदाभेद सर्ग और प्रलय रूप भिन्न-भिन्न काल में होते हैं। अत: इसमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं होता। आचार्य विज्ञानभिक्षु का भेदाभेद जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वाभाविक भेद को स्वीकार करता है, किन्तु प्रलय व मोक्ष काल में भेद होने पर भी अविभाग द्वारा अद्वैत की उपपत्ति हो जाती है।

आचार्य विज्ञानभिक्षु ने जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशिभाव-सम्बन्ध माना है। अंश और अंशी में भेद और अभेद दोनों विद्यमान है। कालभेद से ये (भेद और अभेद) दोनों स्थितियाँ सम्भव है।

❖ आचार्य बलदेव विद्याभूषण

श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण का जन्म उड़ीसा प्रान्त के बालेश्वर जिले के अन्तर्गत रेमुणा के समीप किसी ग्राम में वैश्य कुल में हुआ था। इनका समय विद्वानों द्वारा लगभग 1725 ई. निर्धारित किया गया है। इनके गुरु का नाम पीताम्बरदास था, जो गोविन्ददास के नाम से भी जाने जाते थे। इन्होंने प्रारम्भ में चिल्काह्लदतीरस्थ विद्वानों की किसी बस्ती में व्याकरण, अलंकार तथा न्यायशास्त्र का अध्ययन किया। इसके अनन्तर वेदाध्ययन करने के लिए मैसूर चले गये। वहाँ जाकर ये किसी मध्व-सम्प्रदाय के संन्यासी का शिष्य बनकर संन्यास ग्रहण किया। इसके अनन्तर इन्होंने गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के श्रीराधादामोदर दास जी से श्रीभागवतसन्दर्भ का आद्योपान्त अध्ययन किया और उनके शिष्य बन गये। श्रीगुरुदेव ने इनका 'एकान्ति गोविन्ददास' नाम रखा। तत्पश्चात् वृन्दावन आकर इन्होंने श्रीपाद विश्वनाथ चक्रवर्ती से श्रीमद्भागवत आदि भक्तिशास्त्रों का अध्ययन किया। श्रीगोविन्ददेव के आदेशानुसार इन्होंने ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भगवद्गीता और उपनिषदों पर भाष्य का प्रणयन किया।

○ अचिन्त्यभेदाभेद

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य बलदेव विद्याभूषण हैं। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य बलदेव विद्याभूषण का भाष्य 'गोविन्द-भाष्य' के नाम से जाना जाता है। इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'अचिन्त्य-भेदाभेद' के रूप में दर्शन जगत् में विख्यात है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और उसकी शक्ति

में भेद-अभेद 'अचिन्त्य' है। इस विचारधारा को मानने वाले सम्प्रदाय का नाम गौड़ीय-सम्प्रदाय है।

➢ अचिन्त्य शब्द की व्याख्या

ब्रह्म किस प्रकार एक रहकर भी बहुत हो जाता है, अविकारी रहकर भी जगत् रूप में परिणत हो जाता है, निरंश रहकर भी अंश-युक्त हो जाता है, ये सारे रहस्य हमारी बुद्धि की समझ से परे होने के कारण 'अचिन्त्य' है। दूसरे शब्दों में ऐसा धर्म जो मानव की बुद्धि से अतीत, अव्याख्येय हो, जिसे तर्क द्वारा न जाना जा सके, जो तर्कातीत हो उसे भाष्यकार 'अचिन्त्य' शब्द से अभिहित करते हैं। इनके अनुसार भगवान् की शक्ति चिन्तन का विषय न होने के कारण 'अचिन्त्य' है। यह अचिन्त्य शक्ति ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। वह अंश तथा अंशी दोनों है, वह ब्रह्म से पृथक् और अपृथक् भी है। जैसे- सूर्य और उसकी किरणों में अथवा समुद्र और उसकी तरंगों में भेदाभेद 'अचिन्त्य' है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी स्वरूपादि शक्तियों में भिन्नता एवं अभिन्नता दोनों की युगपत प्रतीति होने पर भिन्न एवं अभिन्न दोनों रूप में चिन्तन करना अशक्य है। भेद और अभेद दोनों ही 'अचिन्त्य' है। इस अचिन्त्यत्व रूप विलक्षण दृष्टिकोण के कारण ही चैतन्य मत को एवं गोविन्दभाष्य में निहित सिद्धान्त को 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद' कहा जाता है।

➢ साधन

श्रीकृष्ण के रसमय संकीर्तन से सभी को भाव-विभोर बना देने वाली चैतन्य-विचारधारा में पाँच तथ्य मुख्य हैं-

1. श्रीकृष्ण ही आराध्य देव हैं।
2. उनका धाम वृन्दावन है।
3. व्रज वधुओं की उपासना ही रमणीय है।
4. इस चिन्तन में भागवत शास्त्र ही प्रमाण है।
5. भगवद् प्रेम चारों पुरुषार्थों से ऊपर पञ्चम पुरुषार्थ है।

भक्ति ही भगवान् को प्रसन्न एवं वशीभूत करने का सर्वोत्तम साधन है। इस क्रम में ज्ञान को दो भागों में विभक्त किया गया है-

1. केवल ज्ञान
2. विज्ञान- इस चिन्तन में भक्ति को ही 'विज्ञान' शब्द से अभिहित किया गया है।

➢ भक्ति का स्वरूप

'तत्त्वमसि'(छा.उ.६/८/७) महावाक्य के सम्बन्ध में 'त्वं' पदार्थ के ज्ञान से केवल ज्ञान एवं 'तत्' पदार्थ के ज्ञान से भक्ति अर्थात् भगवत्सायुज्य प्राप्त होता है। भक्ति एवं आह्लादिनी शक्तियों का सार है, भगवद्स्वरूपिणी है। भक्ति दो प्रकार की होती है-

1. विधि-भक्ति

यह शास्त्र निर्दिष्ट उपायों पर अवलम्बित है। इस भक्ति का फल देवयान से वैकुण्ठ प्राप्ति है।

2. रागात्मिका-भक्ति

आर्त भक्त पर अहैतुकी कृपा होने पर रागात्मिका-भक्ति प्राप्त होती है। यह विधि-भक्ति से श्रेयस्कर है। इस भक्ति के कारण प्रभु अपने ही वाहन द्वारा निज धाम की प्राप्ति करा देते हैं। भगवान् के भी ऐश्वर्यमय एवं माधुर्यमय दो रूप हैं। ऐश्वर्यमय स्वरूप की भक्ति से ऐश्वर्य का एवं माधुर्यमय भक्ति से प्रेमा-भक्ति का विकास होता है। ऐश्वर्य से अभिभूत होकर भक्त अपने और भगवान् के प्रेममय सम्बन्ध को भूल जाता है। माधुर्य-भाव में भक्त भगवान् को अपने प्रियतम रूप में ग्रहण करते हुए अलौकिक आनन्द का अनुभव करता हुआ भगवद्धाम को प्राप्त करता है। व्रज गोपियों द्वारा इसी भक्ति का अनुसरण किया गया जो परमानन्ददायिनी है। भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा से मिलने वाला आनन्द मोक्ष से भी बढ़कर है। इसी कारण से गौडीय-विचारधारा में भगवद् प्रेम, भगवत्सेवा एवं भगवत्प्राप्ति को पंचम-पुरुषार्थ के रूप में अभिहित किया गया है। इस सम्प्रदाय में भगवद्-विरह का अनुभव करते हुए प्रेमपूर्वक भाव-विभोर होते हुए श्रीकृष्ण का भजन-संकीर्तन करने का अत्यन्त महत्त्व है।

इस चिन्तन में शक्तिमान् के साथ शक्ति का जो सम्बन्ध है, ब्रह्म का भी जीव-जगत् के साथ वही सम्बन्ध है, क्योंकि जीव और जगत् परब्रह्म की ही परा और अपरा शक्तियाँ हैं। शक्तिमान् के साथ शक्ति का भेद और अभेद दोनों है। यह भेदाभेदरूप सम्बन्ध निम्बार्क की तरह स्वाभाविक या भास्कर की तरह औपाधिक नहीं है, अपितु यह 'अचिन्त्य' है। यह मत भेद और

अभेद की युगपत-अवस्थिति पर विचार करने में असमर्थता के कारण 'अचिन्त्य' है। यहाँ भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही एकमात्र अद्वयतत्त्वरूप परब्रह्म हैं, जिनकी प्राप्ति पंचम पुरुषार्थ के रूप में बताई गयी है। शरणागतभाव से उनकी शरण में जाने पर एवं उनकी चरणसेवा समर्पित भाव से करने पर उनकी करूणा रूप कृपा से जीव भव-बन्धन रूपी जाल से मुक्त हो जाता है।

आचार्य बलदेव की दृष्टि में संसार सत्य है। अत: जीव एवं ब्रह्म का भेद भी सत्य है तथा जीव ब्रह्म के कार्य होने से अभिन्न भी हैं। ईश्वर प्राप्ति ही मुक्ति है तथा भगवत्पूजा ईश्वर प्राप्ति का हेतु है। मुक्त जीव ब्रह्मलोक में निवास करते हैं, तथापि वे ब्रह्म से भिन्न ही रहते हैं। इनको जीवन्मुक्ति स्वीकार्य नहीं है।

❖ **श्रीपञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्य** (१८६७–१९४० ई.)

श्रीपञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्य जी का जन्म 25 अगस्त 1867 ई. को पश्चिम बंगाल के भाटपाड़ा (भट्टपल्ली) नामक स्थान में हुआ था। ये गौतम गोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नन्दलाल विद्यारत्न था। पिता जी से इन्होंने व्याकरण की शिक्षा ग्रहण किया। 13 वर्ष की अवस्था में श्री जयराम न्यायभूषण के निर्देशन में 'काव्यरत्न' की उपाधि प्राप्त किया। इन्होंने श्री राखालदास न्यायरत्न से न्यायशास्त्र का विधिवत अध्ययन किया और 19 वर्ष की अवस्था में तत्कालीन न्यायशास्त्री श्री शिवचन्द्र सार्वभौम के निर्देशन में 'तर्करत्न' की उपाधि प्राप्त किया। इसके अनन्तर पण्डित ताराचन्द्र के सानिध्य में काशी में इन्होंने वेदान्त शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने 10 अक्टूबर 1940 ई. को अन्तिम श्वास लिया।

○ **स्वरूपाद्वैत**

ब्रह्मसूत्र पर श्रीपञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्य ने 'शक्तिभाष्य' का प्रणयन किया। इनका दार्शनिक सिद्धान्त 'स्वरूपाद्वैत' के रूप में विद्वत् समाज में प्रचलित है। इनके अनुसार जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद-सम्बन्ध है, जिसमें भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक है। इस चिन्तन में चिदचिदुभयात्मक ब्रह्म का प्रतिबिम्ब जीव है। चिदंश से वह प्रतिबिम्ब भूत है और अचिदंश से बुद्ध्यादि से उपहित है। बिम्ब भूत ब्रह्म एक है और प्रतिबिम्ब भूत जीव अनेक हैं। उपाधियों के कारण जीव नानात्व को प्राप्त करते हैं। यहाँ ब्रह्म बिम्ब तथा जीव उसका प्रतिबिम्ब होने से

दोनों में अभेद है तथा इन दोनों के बीच उपास्य-उपासक भाव होने से भेद भी है। अत: ब्रह्म और जीव आश्रयाश्रयिभाव से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं।

- **शक्तिभाष्य**

शाक्तवाद ही स्वरूपाद्वैतवाद के रूप प्रसिद्ध है। सारा प्रपञ्च चिदचित् शिव और शक्ति की स्वात्मसत्ता का विस्तार है। ब्रह्मसूत्र में इसी शक्तिरूप ब्रह्म का निरूपण किया गया है। ब्रह्म और शक्ति का कभी पारस्परिक वियोग नहीं होता। चिद् और अचित् उभयात्मक होते हुए भी उसमें विकार या स्वरूप प्रभाव नहीं होता। शक्तितत्त्व से ही विश्व की उत्पत्ति होती है। मूलशक्ति की उपासना उमा और दुर्गा रूप में उपासकों द्वारा की जाती है।

(xi) भाष्यकारों के भाष्य-लेखन का उद्देश्य

आचार्य परम्परा के चिन्तन और भाष्य-लेखन के सन्दर्भ में यदि विचार करें कि एक दार्शनिक, एक चिन्तक समाज को क्या योगदान दे सकता है? इस मूलभूत प्रश्न को ध्यान में रखते हुए जब हम भाष्य का अध्ययन करते हैं, तब इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि एक चिन्तक समाज के समक्ष एक नवीन चिन्तन को प्रस्तुत करता है और उस चिन्तन से समाज का निर्माण होता है। उस चिन्तन द्वारा समाज में व्याप्त तत्कालीन विसंगतियों एवं भ्रान्त धारणाओं को दूर करते हुए समाज को एक दिशा देने का प्रयास किया जाता है।

भाष्य-लेखन के क्रम में 'भाष्य लिखना है' अथवा ब्रह्मसूत्र पर एकादश भाष्य उपलब्ध हैं, तो इस क्रम में एक मैं भी लिख दूँ– इस उद्देश्य से आचार्य भाष्य-लेखन नहीं करते थे, अपितु उनका उद्देश्य था कि वैदिक-चिन्तन को समझने में पूर्व आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या से समाज कठिनता का अनुभव कर रहा है तथा समाज को एक नई-व्याख्या की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से आचार्यों द्वारा भाष्य-लेखन से पूर्व इन बिन्दुओं पर हमेशा ध्यान रहता था कि चिन्तन नवीन हो, पूर्व किसी आचार्य द्वारा न कहा गया हो और समाज के लिए उपयोगी हो, जिसके माध्यम से वैदिक-चिन्तन को समझने में समाज सहजता का अनुभव करे– इन सारे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आचार्य द्वारा भाष्य का प्रणयन किया जाता था।

भाष्य प्रणयन के क्रम में आचार्य भास्कर का चिन्तन है कि वेद में दो प्रकार के श्रुतिवाक्य देखने को मिलते हैं, एक भेदपरक और एक अभेदपरक। पूर्व आचार्य द्वारा इन दोनों प्रकार के वाक्यों में समन्वय करते हुए श्रुति के केवल एक पक्ष (अद्वैतपरक वाक्य) पर बल दिया गया है, जिससे वेद की समुचित व्याख्या नहीं हो सकी है। अत: भेद और अभेदपरक श्रुतिवाक्यों के सम्यक् व्याख्या हेतु भेदाभेद-सिद्धान्त के आधार पर मेरे द्वारा भाष्य-लेखन का प्रणयन किया जा रहा

है। भेदाभेद की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए आचार्य निम्बार्क द्वारा चिन्तन-भेद के कारण औपाधिक के स्थान पर 'स्वाभाविक-भेदाभेद' पर आधारित ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रणयन किया गया।

भाष्य-लेखन के सन्दर्भ में तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए आचार्य रामानुज ने यह अनुभव किया कि ज्ञानमार्ग का अनुशरण करते हुए वैदिक-चिन्तन को समझने तथा निर्गुण ब्रह्म विषयक चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने में समाज कठिनता का अनुभव कर रहा है। समाज का एक सामान्य व्यक्ति दिनभर श्रम करने के अनन्तर निर्गुण ब्रह्म पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा सगुण ब्रह्म विषयक भक्ति में सहजता का अनुभव कर सकता है। अत: समाज की दृष्टि से इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आचार्य रामानुज ज्ञानमार्ग के स्थान पर भक्तिमार्ग और निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म विषयक चिन्तन के आधार पर ब्रह्मसूत्र की व्याख्या हेतु भाष्य का प्रणयन करते हैं। देश, काल और परिस्थिति के अनुसार तत्कालीन समस्याओं के समाधान हेतु वेदान्त की भाष्य-परम्परा में सगुण ब्रह्म विषयक चिन्तन पर आधारित इस भक्तिमार्ग का वैष्णव-भाष्यकारों द्वारा अपने- अपने चिन्तन के अनुसार उत्तरोत्तर विकास करते हुए वैदिक-चिन्तन के प्रति समाज को दिशा देकर एक सूत्र में व्यवस्थापित करने का प्रयास किया गया।

इस प्रकार वेदान्त की भाष्य-परम्परा में आचार्य शङ्कर से लेकर श्रीपञ्चानन तर्करत्न भट्टाचार्य तक एकादश-भाष्य और वर्तमान में भी चिन्तन-भेद के कारण ब्रह्मसूत्र पर अनेकानेक भाष्यों का प्रणयन किया जा रहा है।

विषय-सूची

आत्मनिवेदन i

विषयावतरणिका..v

(i) वेद शब्द का अर्थ..v

(ii) उपनिषद् शब्द का अर्थ.. vii

(iii) वेदान्त शब्द का तात्पर्यार्थ.. vii

(iv) महावाक्य शब्द का अर्थ ix

(v) महावाक्यों की संख्या x

(vi) भारतीय-विचारधारा में प्रस्थानत्रयी... xii

(vii) ब्रह्मसूत्र शब्द का अर्थ एवं संक्षिप्त परिचय xii

(viii) ब्रह्मसूत्र ग्रन्थ की संरचना xiv

(ix) वेदान्त-परम्परा में चिन्तन-वैविध्य एवं साधन भेद........................ xiv

(x) एकादश-भाष्यकारों एवं उनके सिद्धान्तों का अतिसंक्षिप्त परिचय xv

(xi) भाष्यकारों के भाष्य-लेखन का उद्देश्य.......................................xxxiii

विषय-सूची.. xxxv

संकेताक्षर-सूची xlv

तत्त्वमसि महावाक्य का आरेखीय-प्रस्तुतीकरण..xlvii

प्रथम-अध्याय 1

विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना...1

1.1.प्रस्तावित शोध कार्य का क्षेत्र (Area of Research and Objective).............1

1.1.1. महावाक्य 2

1.1.2. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में भाष्यकारों का दृष्टि-वैविध्य..........4

1.1.3. अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में चार प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय.........16

1.1.4. वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ...18

1.1.5. विषय चयन का औचित्य (Justification of topic)..........................26

1.1.6. शोध-कार्य का उद्देश्य (Achievements of Research work)............27

1.1.7. प्रस्तुत क्षेत्र में विद्यमान पूर्ववर्ती शोधकार्य (Existing research in this area)……. 28

1.1.8. विद्यमान शोधकार्यों से प्रस्तावित शोधकार्य का वैशिष्ट्य (In what way is this research going to be different from existing work in this area) ..29

1.1.9. शोध-प्रविधि (Research Method) 29

1.1.10. प्रस्तावित अध्याय विभाजन (Tentative chapterization) 30

द्वितीय-अध्याय 31

वैदिक व्याख्या-पद्धति परम्परा 31

2.1. सूत्र-पद्धति...31

2.2. अनुव्याख्यान-पद्धति 33

2.3. निर्वचन-पद्धति 33

2.3.1. शब्द निर्वचन का व्युत्पत्ति मार्ग 34

2.3.2. शब्द निर्वचन का निरुक्ति मार्ग 34

2.3.3. निर्वचन द्वारा कतिपय वैदिक शब्दों का अर्थ-निर्धारण...........................35

2.3.4. शब्द निर्वचन के व्युत्पत्ति मार्ग का उदाहरण..36

2.4. पुराण-पद्धति 38

2.4.1. पुराण शब्द का निर्वचन...39

2.4.2. पुराण का लक्षण..39

2.5. व्याख्या के सम्बन्ध में प्रमुख-पद्धतियाँ...40

2.6. अधिकरण-पद्धति 40

2.7. भाष्य-पद्धति 44

2.8. वार्तिक-पद्धति 47

2.9. टीका-पद्धति..47

2.10. प्रकरण-पद्धति 48

2.11. संग्रह्-पद्धति 49

2.12. व्युत्पत्ति विवेचन-पद्धति..49

2.13. वाक्यार्थबोध की विधियाँ 50

2.13.1. अभिहितान्वयवाद 50

2.13.2. अन्विताभिधानवाद 52

2.13.3. तात्पर्यवाद 54

2.13.4. संसर्ग-मर्यादा वाद 55

तृतीय-अध्याय...56

ब्रह्मसूत्रभाष्यों की व्याख्या-पद्धतियाँ 56

3.1. शास्त्रार्थ-पद्धति में भाष्यों का प्रणयन 56

3.2. उपोद्धात-पद्धति 57

3.2.1. वेदान्तपारिजात भाष्य में उपोद्धात-पद्धति 59

3.2.3. श्रीभाष्य में उपोद्घात-पद्धति 59

3.2.4. पूर्णप्रज्ञभाष्य में उपोद्घात-पद्धति 59

3.2.5. श्रीकरभाष्य में उपोद्घात-पद्धति 59

3.2.6. अणुभाष्य में उपोद्घात-पद्धति 60

3.3. प्रश्नोत्तर-पद्धति 60

3.4. श्रुति-प्रामाण्य 62

3.5. स्मृति-प्रामाण्य 63

3.6. तर्क-पद्धति 64

3.7. आलोचनात्मक-पद्धति 64

3.8. निर्वचन-पद्धति 65

3.9. दृष्टान्त-पद्धति 66

3.10. न्याय-पद्धति 68

3.11. लक्षण-परिभाषा-पद्धति 70

चतुर्थ-अध्याय 73

उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण 73

4.1. महावाक्य सम्बन्धी अखण्डतार्थता का तात्पर्य 75

4.2. छान्दोग्य उपनिषद् के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श.................................77

4.2.1. सत् विषयक अज्ञान का कारण 79

4.2.2. अभेदगत स्थिति से भेद की स्थिति में आने का अज्ञान.............................80

4.2.3. जीव सम्बन्धी नित्यता का प्रतिपादन 81

4.2.4. सूक्ष्म तत्त्व से स्थूल जगत् की उत्पत्ति...82

4.2.5. सत् विषयक ज्ञानार्जन का साधन 83
4.2.6. ब्रह्मविद् आचार्य द्वारा सद्विषयक उपदेश 84
4.3. आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि में श्रवणादि की उपयोगिता 87
4.3.1. षड्-विध लिङ्ग 87
4.4. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के अनुसार तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध विचार......89
4.4.1. पारमार्थिक रूप से जीवेश्वर का अभेद..89
4.4.2. कारण-कार्य में अनन्यत्व का प्रतिपादन 90
4.5. तत्त्वबोध नामक प्रकरण ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श 93
4.6. वाक्यवृत्ति नामक प्रकरण ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श 95
4.6.1. वाक्यवृत्ति के अनुसार त्वम् पद का वाच्यार्थ...96
4.6.2. वाक्यवृत्ति के अनुसार तत् पद का वाच्यार्थ..98
4.6.3. निषेध-मुख से तत् पद का अर्थ..99
4.6.4. विधि-मुख से तत् पद का अर्थ...101
4.6.5. तत् और त्वम् पदों के अर्थों के तादात्म्य की प्रक्रिया.............................102
4.6.6. तत् और त्वम् पदों की तत्त्विक-एकता..103
4.6.7. तत् और त्वम् पदों के तादात्म्य-ज्ञान का फल 105
4.7. आत्मबोध नामक प्रकरण-ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ-विचार 107
4.8. वेदान्तसार नामक प्रकरण-ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श...............108
4.8.1. तत्त्वमसि महावाक्य का पदार्थ निरूपण 108
4.8.2. तत्त्वमसि महावाक्य का वाक्यार्थ निरूपण..110
4.9. महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का प्रयोजन 112

4.10. नीलमुत्पलम् एवं तत्त्वमसि महावाक्य के वाक्यार्थ-बोध में प्रक्रियागत भेद एवं इस सम्बन्ध में भाष्यकारों का दृष्टिकोण 113

4.10.1. लक्षणा-शक्ति..114

4.11. अहं ब्रह्मास्मि भाव की अनुभूति..115

पंचम-अध्याय 117

अन्य ब्रह्मसूत्रभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण.................................117

5.1. महावाक्य सम्बन्धी चिन्तन...118

5.2. भेदाभेद-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण..........................120

5.2.1. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध...121

5.2.1.1. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध...121

5.2.1.2. तत्त्वमसि महावाक्य के सम्बन्ध में परिणामवाद..........................122

5.2.1.3. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य भेदाभद-सम्बन्ध................................123

5.3. विशिष्टाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण 124

5.3.1. विशिष्टाद्वैत पद सम्बन्धी विग्रह 125

5.3.2. तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श..127

5.3.3. तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा विशिष्टरूप अभेदार्थ का प्रतिपादन................128

5.3.4. तात्पर्य-निर्णायक षड्-विध लिङ्गों द्वारा सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन 130

5.3.5. तत् और त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध...132

5.3.6. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का निराकरण.......143

5.3.7. तत्त्वमसि श्रुतिवाक्य में लक्षणा रूप अद्वैत-पक्ष एवं उसका निराकरण.......145

5.4. द्वैत-वेदान्त में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण................................146
5.4.1. जीवात्मा एवं परमात्मा सम्बन्धी तात्त्विक-भेद का प्रतिपादन................146
5.4.2. तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श..147
5.4.3. जीवपरमात्मैक्य रूप अर्थ में श्रुतितात्पर्य-सम्बन्धी विरोध 149
5.4.4. तत्त्वमसि महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण में प्रयुक्त नव-दृष्टान्तों द्वारा भेद का प्रतिपादन..150
5.4.5. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध..156
5.4.6. जीवेश्वरगत-भेदसिद्धि में श्रुतिप्रमाण 159
5.5. द्वैताद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण..........................160
5.5.1. जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध में द्वैताद्वैत का प्रतिपादन 160
5.5.2. तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण...162
5.5.3. तत्त्वमसि महावाक्य के सम्बन्ध में अखण्डार्थत्व का खण्डन 163
5.5.4. तत्त्वमसि महावाक्य में लक्षणा-शक्ति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के साक्षीरूप अकर्तृत्व का खण्डन 164
5.5.5. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में लक्षणा-शक्ति का निराकरण 165
5.5.6. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध..168
5.6. शुद्धाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण.........................171
5.6.1. शुद्धाद्वैत शब्द की व्याख्या..172
5.6.2. शुद्धाद्वैत-सम्मत तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श 174
5.6.3. तत् एवं त्वं पदार्थ का अभेद...179

5.6.4. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का निराकरण.......179

5.6.5. तत् एवं त्वं पदों के मध्य सम्बन्ध 181

5.7. अविभागाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण...................184

5.7.1. अविभागाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श.......................185

5.7.2. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध..189

5.8. अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण...............196

5.8.2. अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श 198

5.8.3. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध..199

5.8.4. अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में अंश के प्रकार..204

5.8.5. अचिन्त्य-चिन्तन में शक्ति-शक्तिमान का भेदाभेद-स्वरूप......................205

5.9. वीरशैवविशिष्टाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण............207

5.9.1. वीरशैवविशिष्टाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श................208

5.9.2. सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ-निर्धारण 209

5.9.3. विशेषणविशष्यभाव-सम्बन्ध द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ-निर्धारण ...210

5.9.4. लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ-निर्धारण 211

5.9.5. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध..213

5.10. शैवाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण.......................220

5.10.1. तत्त्वमसि श्रुतिवाक्य का शैव-सम्मत अर्थ-निर्धारण में रामानुज प्रतिपादित शरीर-शरीरि भाव द्वारा सादृश्य रूप अभेदार्थ का खण्डन.................................221

5.10.2. कारण-कार्य भाव द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अनन्यत्व 225

5.10.3. अंश-अंशी भाव द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अभिन्नत्व 228

5.11. स्वरूपाद्वैत-सम्प्रदाय 231
5.11.1.स्वरूपाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श 232
5.11.2. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध………………………………………..233
षष्ठ-अध्याय...240
वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ एवं भारतीय समाज पर उसका प्रभाव.............................240
6.1. तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के प्रति आचार्य शङ्कर की दृष्टि 241
6.2. भाष्य लेखन का प्रयोजन 241
6.3. भाष्य-पद्धति की विशिष्टता 242
6.4. अद्वैत-विचारधारा का भारतीय समाज पर प्रभाव.......................................244
6.5. आचार्य शङ्कर का वैश्विक दृष्टिकोण 245
6.6. प्रकृति और मनुष्य के बीच समरसता...248
6.7. सामाजिक-समस्या और उसका समाधान...249
6.8. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वेदान्त की उपादेयता 249
6.9. भक्तिपरक दृष्टिकोण से वैष्णव-सम्प्रदायों का अवलोकन...............................251
6.10. अचिन्त्यभेदाभेद विचारधारा का उद्भव एवं भारतीय समाज पर प्रभाव........253
6.11. आचार्य बलदेव का अचिन्त्य-परम्परा में योगदान.....................................254
6.12. अचिन्त्यभेदाभेद का साहित्यिक योगदान 256
6.13. अचिन्त्यभेदाभेद का सांस्कृतिक योगदान...257
6.14. अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय का मूर्ति निर्माण एवं चित्रकला पर प्रभाव............258
6.15. अचिन्त्य विचारधारा द्वारा समाज में समानता के भाव का विस्तार 258
6.16. अचिन्त्यभेदाभेद का भक्ति परक योगदान एवं जनमानस पर उसका प्रभाव ...259

6.17. संकीर्तन-भक्ति 260

6.18. अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय की भक्ति का वैदेशिकों पर प्रभाव......................262

6.19. निम्बार्क-वेदान्त का भारतीय-समाज पर प्रभाव 262

6.20. वल्लभ-वेदान्त का भारतीय-समाज पर प्रभाव 263

6.21. ज्ञान और भक्ति-मार्ग का लक्ष्य-भेद 267

6.22. चैतन्य महाप्रभु और माध्व मत का भारतीय-समाज पर प्रभाव 268

6.23. स्वरूपाद्वैत-विचारधारा का भारतीय-समाज पर प्रभाव............................268

6.24. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में स्वरूपाद्वैत-विचारधारा..269

7. **उपसंहार** 269

8. **परिशिष्ट** 278

9. **सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची (Bibliography)** 308

प्राथमिक स्रोत (Primary Text) 308

9.1. प्रत्यक्ष-स्रोत...308

9.2. अप्रत्यक्ष-स्रोत...310

द्वितीयक स्रोत (Secondary Text) 314

9.3 स्वतन्त्र-ग्रन्थ…………………………………………………….314

9.4. लेख/पत्रिका/व्याख्यान...323

9.5. कोश-ग्रन्थ...324

9.6. शोध-प्रबन्ध/लघु शोध-प्रबन्ध…………………………………….326

संकेताक्षर-सूची

अ.त.शु.	अद्वैततत्त्वशुद्धि
अथर्व.	अथर्ववेद
अ.सि.	अद्वैतसिद्धि
ई.उ.शां.भा.	ईशावास्योपनिषद् शाङ्करभाष्य
ऐ.उ.शां.भा.	ऐतरेयोपनिषद् शाङ्करभाष्य
ऐ.ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
ऋ.	ऋग्वेद
कठ.उ.शां.भा.	कठोपनिषद् शाङ्करभाष्य
के.उ.शां.भा.	केनोपनिषद् शाङ्करभाष्य
कठ.उ.स.भा.	कठोपनिषद् सम्बन्ध भाष्य
गी.शां.भा.	गीता शाङ्करभाष्य
गौ.का.शां.भा.	गौणपादकारिका शाङ्करभाष्य
छा.उ.	छान्दोग्य उपनिषद्
छा.उ.उ.प्र.टी.	छान्दोग्योपनिषद् उपनिषत्प्रकाशिकाटीका
तै.आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै.उ.शां.भा.	तैत्तिरीय उपनिषद् शाङ्करभाष्य
ब्र.सू.नि.भा.वे.कौ.प्र.टी.	ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य वेदान्तकौस्तुभप्रभा टीका
निरु.	निरुक्त
प.सं.	पदार्थसंग्रह
प्र.च.	प्रमाणचन्द्रिका
ब्र.सू.अ.भा.	ब्रह्मसूत्र अणुभाष्य
ब्र.सू.गो.भा.	ब्रह्मसूत्र गोविन्दभाष्य
ब्र.सू.नि.भा.	ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य

ब्र.सू.नि.भा.भा.दी.टी.	ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य भावदीपिका टीका
ब्र.सू.नि.भा.वे.कौ.टी.	ब्रह्मसूत्र निम्बार्क भाष्य वेदान्त कौस्तुभ टीका
ब्र.सू.पू.प्र.भा.	ब्रह्मसूत्र पूर्णप्रज्ञभाष्य
ब्र.सू.भा.भा.	ब्रह्मसूत्र भास्कर भाष्य
ब्र.सू.वि.भा.	ब्रह्मसूत्र विज्ञानामृतभाष्य
ब्र.सू.श्रीभा.	ब्रह्मसूत्र श्रीभाष्य
ब्र.सू.श.भा.	ब्रह्मसूत्र शक्तिभाष्य
बृ.उ.मा.पा.	बृहदारण्यकोपनिषद् माध्यन्दिन पाठ
बृ.शां.भा.	बृहदारण्यकोपनिषद् शाङ्करभाष्य
महा.भी.प.	महाभारत भीष्मपर्व
मा.उ.शां.भा.	माण्डूक्योपनिषद् शाङ्करभाष्य
मु.उ. शां.भा.	मुण्डकोपनिषद् शाङ्करभाष्य
वि.चू.	विवेकचूडामणि
वि.त.वि.	विष्णुतत्त्वविनिर्णय
वि.सह.शां.भा.	विष्णुसहस्रनाम शाङ्करभाष्य
वे.क.त.	वेदान्तकल्पतरु
वे.कौ.	वेदान्तकौस्तुभ
वे.कौ.प्र.	वेदान्तकौस्तुभप्रभा
श.भा.	शक्तिभाष्य
शां.भा.	शाङ्करभाष्य
शि.द्वै.प.	शिवाद्वैतपरिभाषा
शु.द्वै.मा.	शुद्धाद्वैतमार्तण्ड
शु.द्वै.मा.प्र.व्या.	शुद्धाद्वैतमार्तण्ड प्रकाश व्याख्या
शै.भा.	शैव-भाष्य
स.द.सं.	सर्वदर्शनसंग्रह
सि.शि.	सिद्धान्तशिखामणि

तत्त्वमसि महावाक्य का आरेखीय-प्रस्तुतीकरण

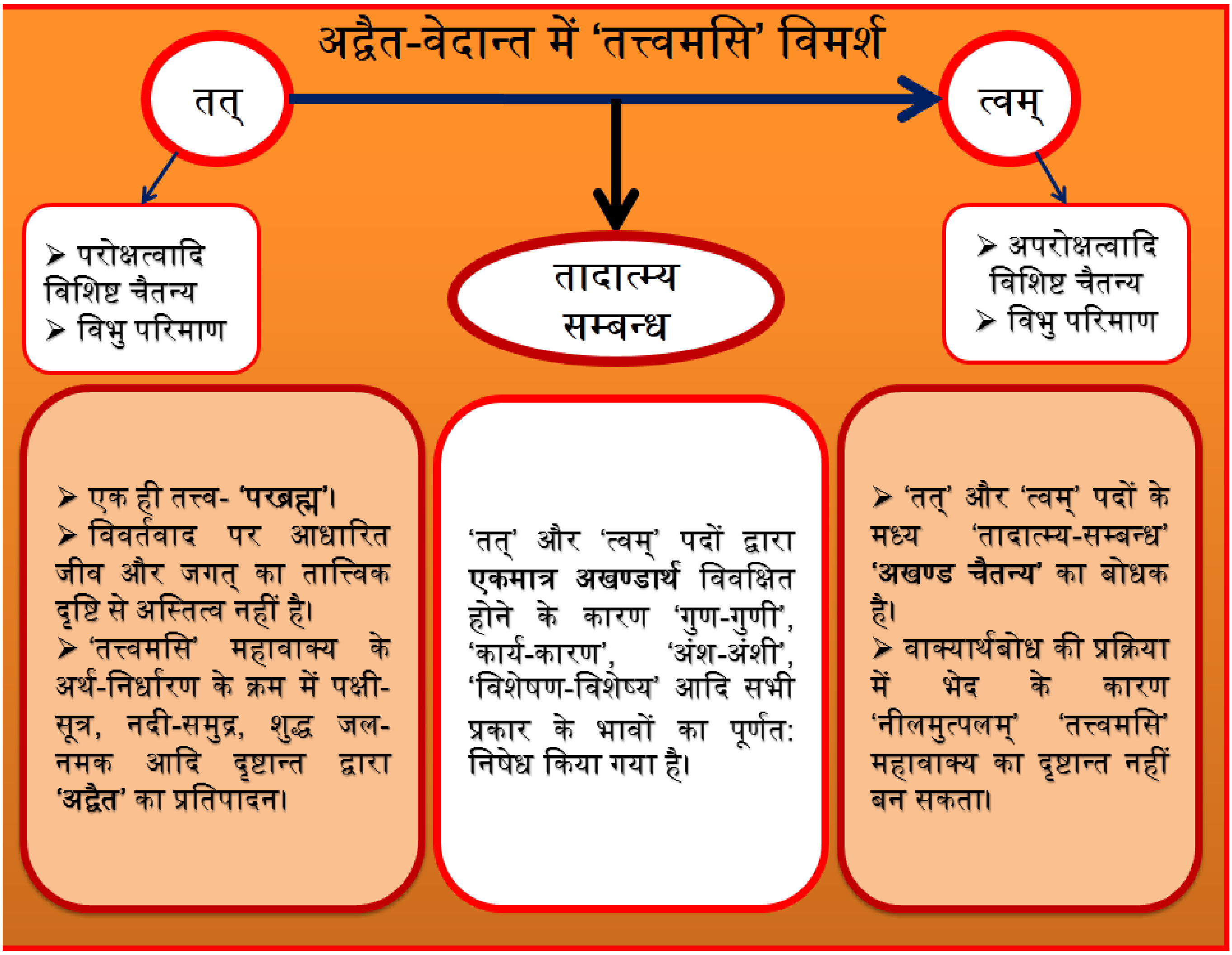

ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध आचार्य शङ्कर के परवर्ती भाष्यकारों के चिन्तन के सम्बन्ध में विचार करें तो अधिकतर भाष्यकार **'गुण-गुणी भाव'**, **'विशेषण-विशेष्य भाव'** से 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या कर अभेद का प्रतिपादन करते हैं। अत: उनके चिन्तन में **'नीलमुत्पलम्'** यह वाक्य अभेद प्रतिपादन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का दृष्टान्त बन सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर का भिन्न दृष्टिकोण है।

अद्वैत-परम्परा में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में **'नीलमुत्पलम्'** में जिस प्रकार 'गुण-गुणी भाव' है, उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदों में **'गुण-गुणी भाव'** नहीं हो सकता, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में एक गुण है और दूसरा द्रव्य तथा यहाँ अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है, जबकि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में दोनों द्रव्य हैं तथा एकमात्र **अखण्डार्थ** विवक्षित है। 'तत्पदार्थ' और 'त्वम्पदार्थ' इन दोनों पदों में कुण्डल और सुवर्ण के समान **'कार्य-कारण भाव'** भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही नित्य और अविकृत हैं। इनमें **'अंश-अंशी भाव'** भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही निरवयव हैं।

इनमें **'विशेषण-विशेष्य भाव'** भी नहीं हो सकता, क्योंकि **'विशेषण-विशेष्य भाव'** के लिए दो तत्त्व आवश्यक है, किन्तु अद्वैत-वेदान्त में तात्त्विक रूप से एक ही सत्ता होने के कारण 'विशेषण-विशेष्य भाव' सम्भव नहीं है। इस प्रकार अद्वैत-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में सभी प्रकार के भावों का पूर्णत: निषेध किया गया है, क्योंकि इनमें से कोई भी सम्बन्ध स्वीकार करने पर वाक्यार्थ संसृष्ट माना जायेगा और संसृष्टार्थक वाक्य अखण्डार्थ का बोधक नहीं हो सकता।

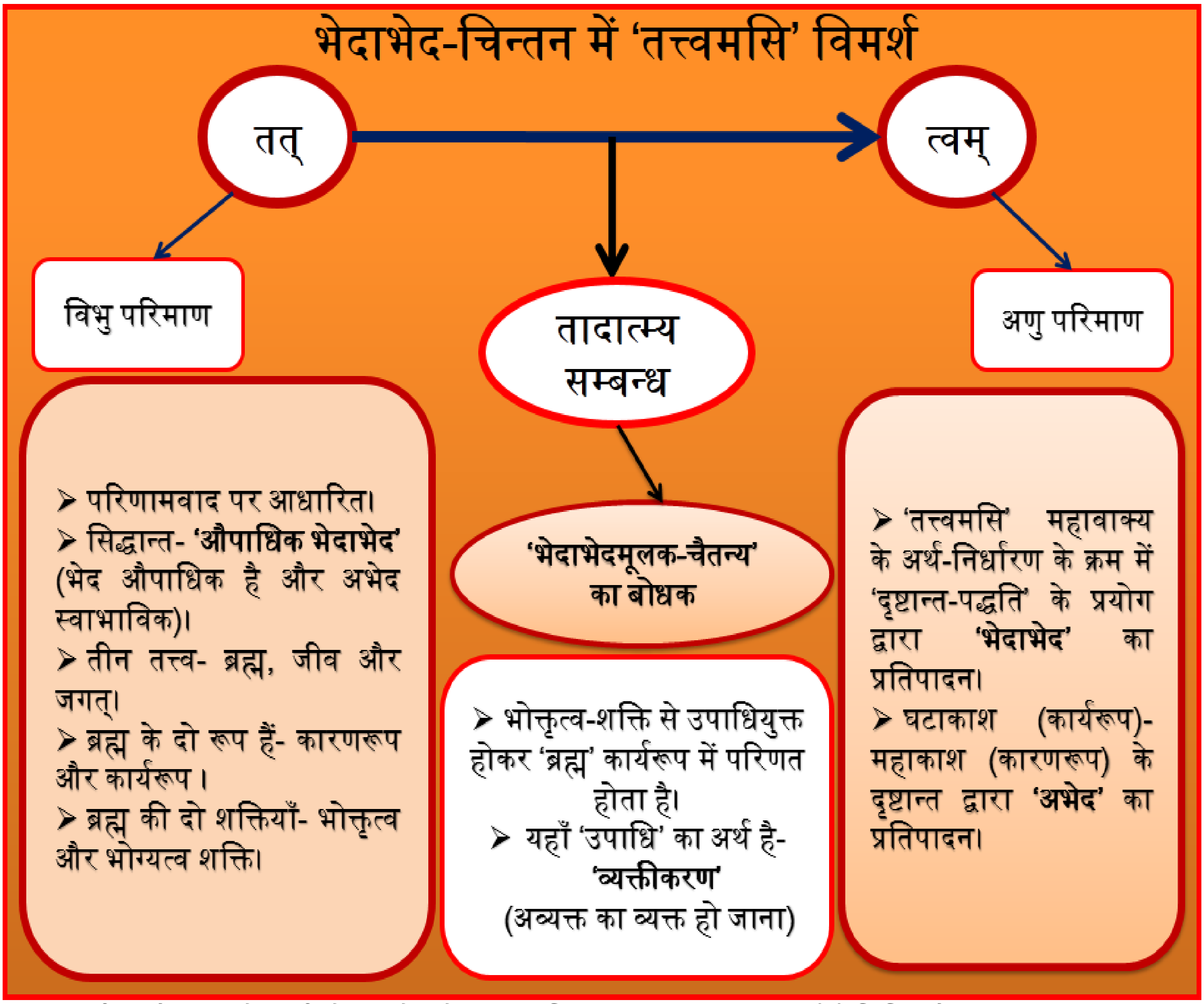

- जीव और ब्रह्म के इसी भेद-अभेद में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्यार्थ निहित है।
- **दृष्टान्त-पद्धति-** सागर अपनी शक्ति-विशेष की अभिव्यक्ति लहर, तरंग की दृष्टि से भिन्न प्रतीत होता है, किन्तु अपनी शक्ति से वह अभिन्न है। अत: लहर, तरंग रूपी भेद का आधार भी वस्तुत: सागर (अभेद) ही है। वैसे ही जीव, जगत् रूपी भेद का आधार परब्रह्म (अभेद) है।
- **'कार्यरूपेण नानात्वमभेद: कारणात्मना'** अर्थात् कार्यरूप में भेद तथा कारणरूप में अभेद है।

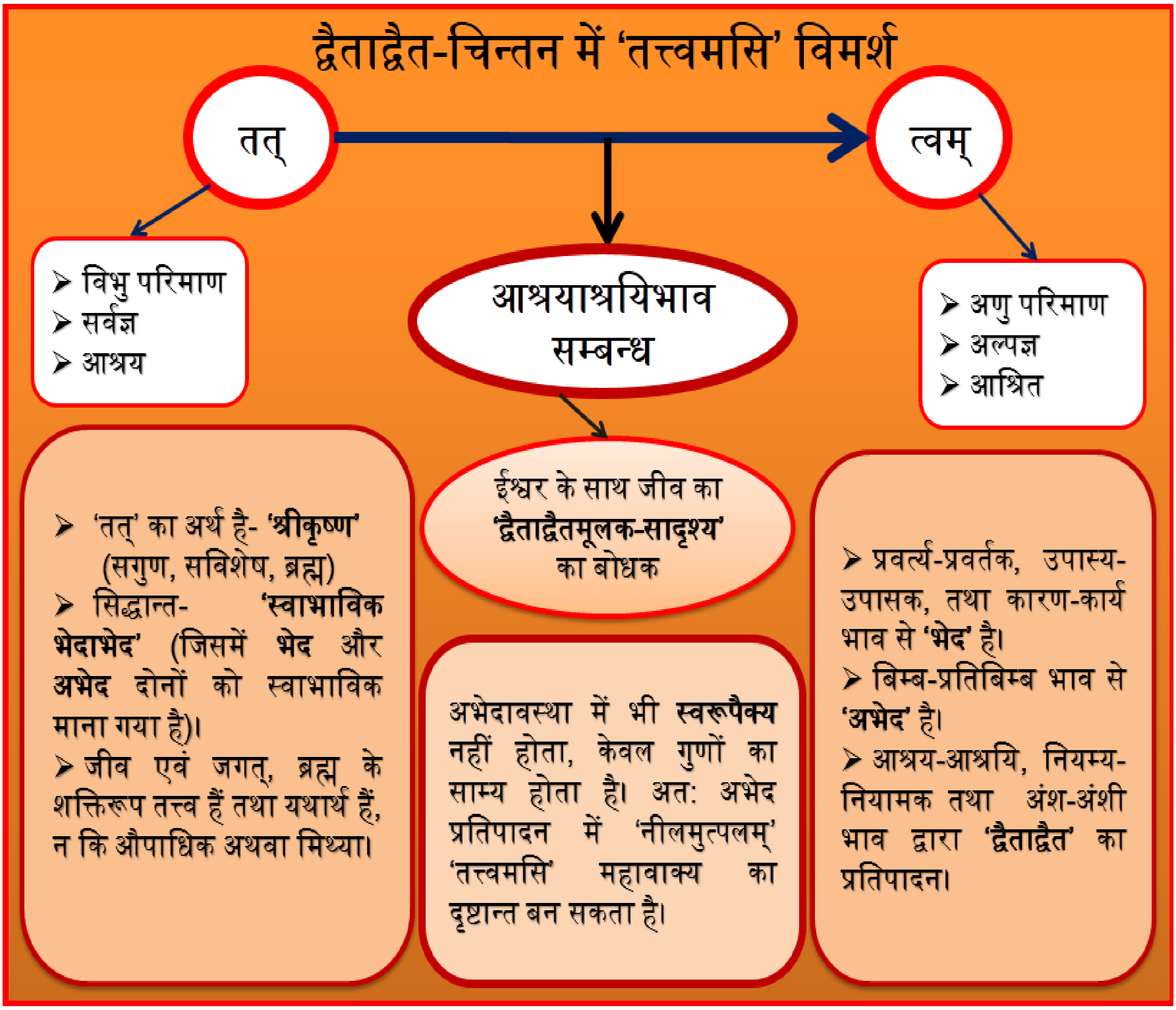

- कार्यरूप जीव और जगत् सम्बन्धी भेद औपाधिक है, किन्तु मिथ्या नहीं।
- द्वैताद्वैत चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है, अपितु **'द्वैताद्वैतमूलक सादृश्यत्व'** में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अभिप्राय निहित है।
- **दृष्टान्त-** जैसे रात्रिकाल में पक्षी वन में विलीन हो जाते हैं, किन्तु उस विलीनावस्था में भी उनकी सत्ता यथावत् बनी रहती है, वैसे ही मुक्तावस्था में जीव का 'जीवत्व' नष्ट नहीं होता।
- जीव और जगत् सत्य एवं नित्य तत्त्व हैं, अध्यस्त (भ्रान्तिमात्र अथवा कल्पनाजन्य) नहीं।
- ब्रह्म स्वतन्त्र सत्ता है तथा गुणों में तारतम्य के कारण चित्, अचित् तत्त्व ब्रह्माश्रित (परतन्त्र) हैं। अत: अभेदपरक श्रुतियाँ स्वतन्त्र सत्ता विषयक तथा भेदपरक श्रुतियाँ परतन्त्र सत्ता विषयक हैं।
- सूर्य की किरणें (अनेक रश्मियों की अभिव्यक्ति के कारण नानात्व तथा प्रकाशत्व के कारण एकत्व), समुद्र की लहरें जलादि से भिन्न तथा अभिन्न दोनों हैं। अत: इस रूप में द्वैत-अद्वैत दोनों की सत्ता वास्तविक (सत्य) है।

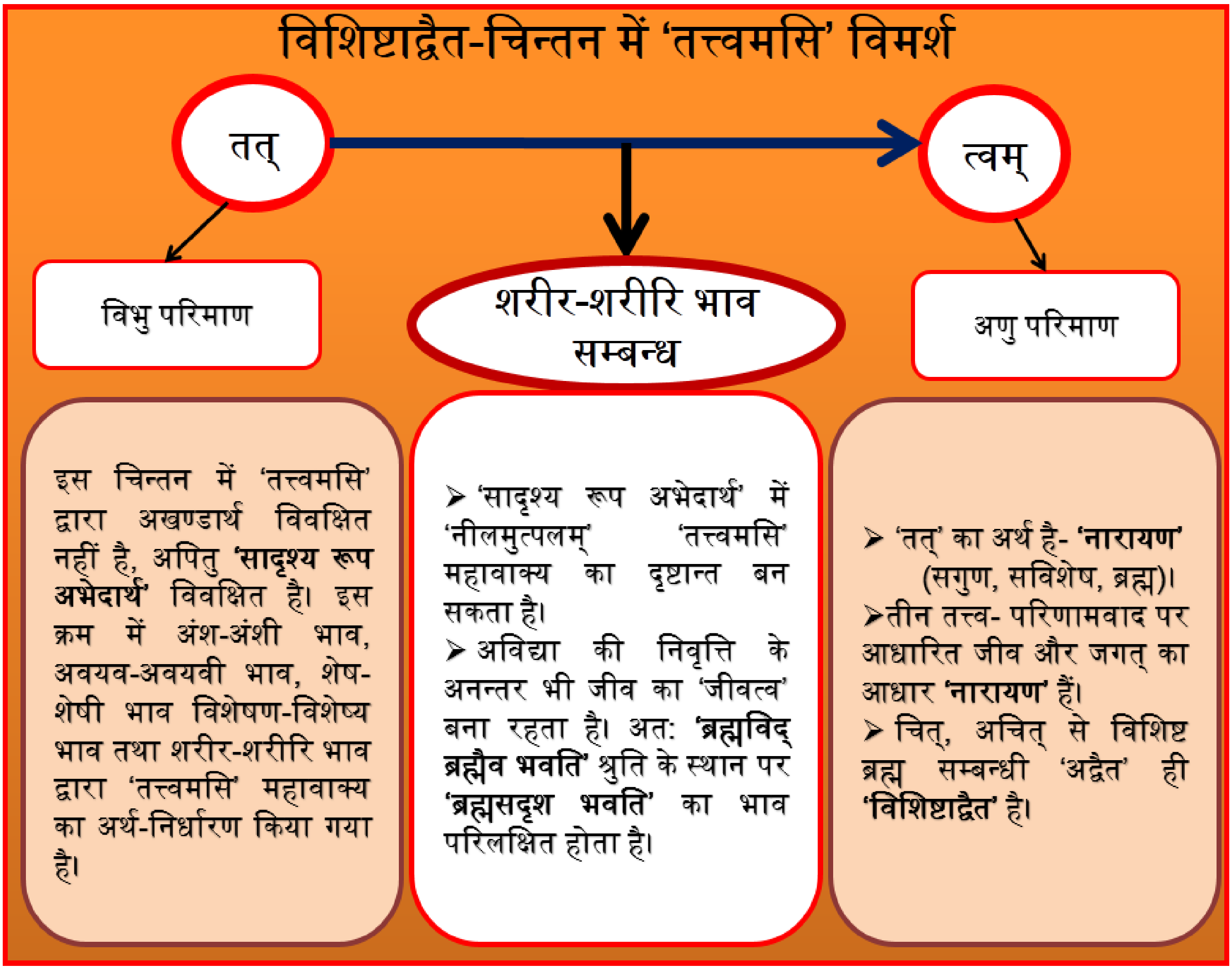

- **विशिष्टाद्वैत- 'विशिष्टं च तद् अद्वैतं च विशिष्टाद्वैतम्। विशिष्टनिष्ठ अभेद इत्यर्थ:।'**
- तीन तत्त्व- **'तत्त्वत्रयं समायाति विशिष्टाद्वैतवादिनाम्।'**
- इस चिन्तन में नानात्व को एकत्व का विरोधी नहीं, अपितु विशेषण माना गया है। विशेषणों के अनेक होने पर भी उनसे विशिष्ट वस्तु अद्वैत रूप में एक ही है।
- जगत् (चित् + अचित्) सगुण ब्रह्म का शरीर है। अत: चित् का परिच्छिन्नत्व और अचित् का परिवर्तन ब्रह्म के शरीर रूपी परिधि के अन्तर्गत ही होते हैं।
- **'शरीर-शरीरि भाव'** द्वारा यह बताया गया है कि जिस प्रकार शारीरिक विकारों या त्रुटियों से आत्मा प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार जगत् सम्बन्धी विकारों से 'ब्रह्म' प्रभावित नहीं होता।
- अविद्या तथा कर्म की निवृत्ति हो जाने पर भी नित्य तत्त्व होने के कारण जीवात्मा का स्वरूप नाश नहीं होता। अंश रूप में प्रलय और मोक्षकाल में भी उसकी सत्ता बनी रहती है।
- 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य-भगवान् और भक्त के मध्य **'सेव्य-सेवक भाव'** का है। अत: इसी भाव के कारण 'तत्त्वमसि' की व्याख्या **'तस्मै त्वम् असि'** के रूप में की गयी है।

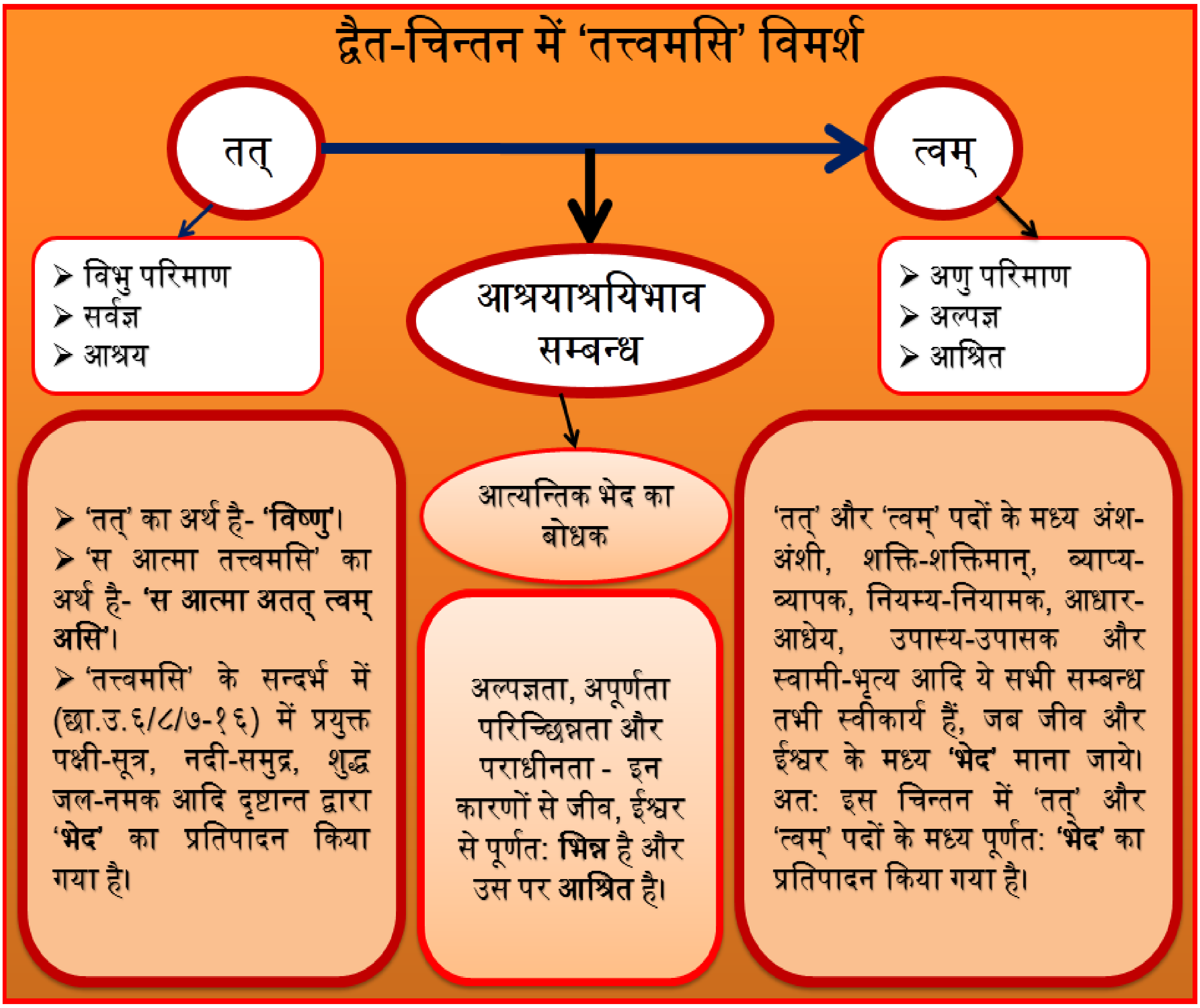

- मध्व चिन्तन का मुख्य स्रोत ग्रन्थ- भागवत पुराण और विष्णु पुराण।
- सत्ता के दो भेद- **'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते।'**
- 'तत्' और 'त्वम्' पदों के मध्य **'अंश-अंशी भाव'** द्वारा **द्वैत** का प्रतिपादन किया गया है।
- *'अंशा द्विविधा: करचरणादिवत् स्वांशा: पुत्रादिवत् विभिन्नांशा:। विभिन्नांशा जीवा:।'*
- *'विभिन्नांशा: सदा जीवा न स्वांशा इति निश्चय:। जीवेषु न कदापि ब्रह्मत्वम्।'*
- **दृष्टान्त-** जैसे छाया पुरुषाकार पर आश्रित होती है तथा पुरुष की अधीनता को बताती है, वैसे ही जीव पूर्णतया परतन्त्र और ईश्वराश्रित है। समस्त जीवों का आधार परमात्मा है।
- केवल 'ज्ञान' से अविद्या की निवृत्ति सम्भव नहीं है। अविद्या ईश्वर की माया से उत्पन्न होती है, अत: उसकी निवृत्ति भी ईश्वरेच्छाधीन है।
- **मोक्ष-** जीव को ईश्वराधीनत्व का बोध होना तथा उसका सादृश्य प्राप्त करना ही 'मोक्ष' है।

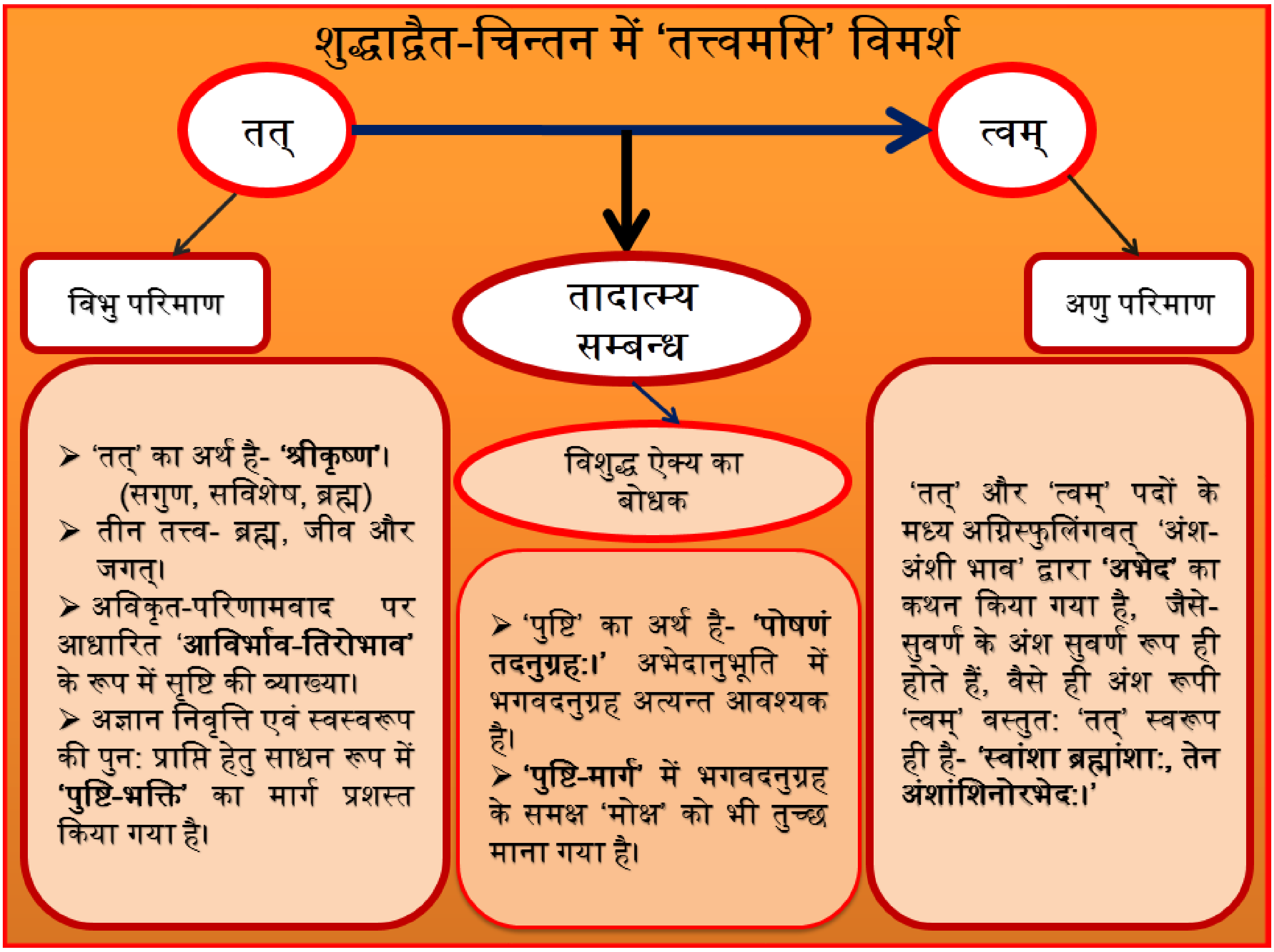

➢ **शुद्धाद्वैत- 'माया सम्बन्धरहितं शुद्धम् ।... शुद्धम् च इदम् अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम्।'**

➢ **'ब्रह्म सत्यं जगत् सत्यं अंशो जीवो हि नापर:।'....'कार्यरूपेण भेदो हि न भेद: कारणात्मना।'**

➢ **परिणामवाद-** परिणामवाद के दो भेद-विकृत और अविकृत। **विकृत-परिणामवाद-** परिणमित होने पर वस्तु पुन: अपनी पूर्वावस्था में नहीं आ सकती, जैसे- दूध, दही के रूप में।

➢ **अविकृत-परिणामवाद-** इसमें वास्तविक विकार नहीं होता। जीव में यह सामर्थ्य है कि वह आज्ञानादि की निवृत्ति के अनन्तर पुन: अपनी पूर्वावस्था में आ सके। जैसे- अंश, अंशी के रूप में।

➢ इस चिन्तन में **'अविकृत-परिणामवाद'** के आधार पर जैसे- स्वर्ण कुण्डल, स्वर्ण मुद्रिका से भिन्न है, किन्तु स्वर्णत्व धर्म के कारण दोनों में अभेद है। इसी रूप में जीव-जगत् की व्याख्या करते हुए यह बताया गया है कि कार्य में यह सामर्थ्य है, कि वह पुन: अपनी पूर्वावस्था में आ सके।

➢ **दृष्टान्त-** जैसे लपेटे हुए कपड़े को फैला दें तो उसका विस्तार हो जाता है (यह विस्तार उस कपड़े से भिन्न नहीं है) तथा उसको मोड़ दें तो उसका तिरोभाव हो जाता है। इस **आविर्भाव-तिरोभाव** रूप प्रक्रिया से कपड़े के स्वरूप में कोई विकार नहीं हुआ, ठीक वैसे ही सृष्टिकाल में ब्रह्म का जीव-जगत् रूप में आविर्भाव और प्रलय व मोक्ष की अवस्था में तिरोभाव होते हुए भी उसके स्वरूप में कोई विकार नहीं होता।

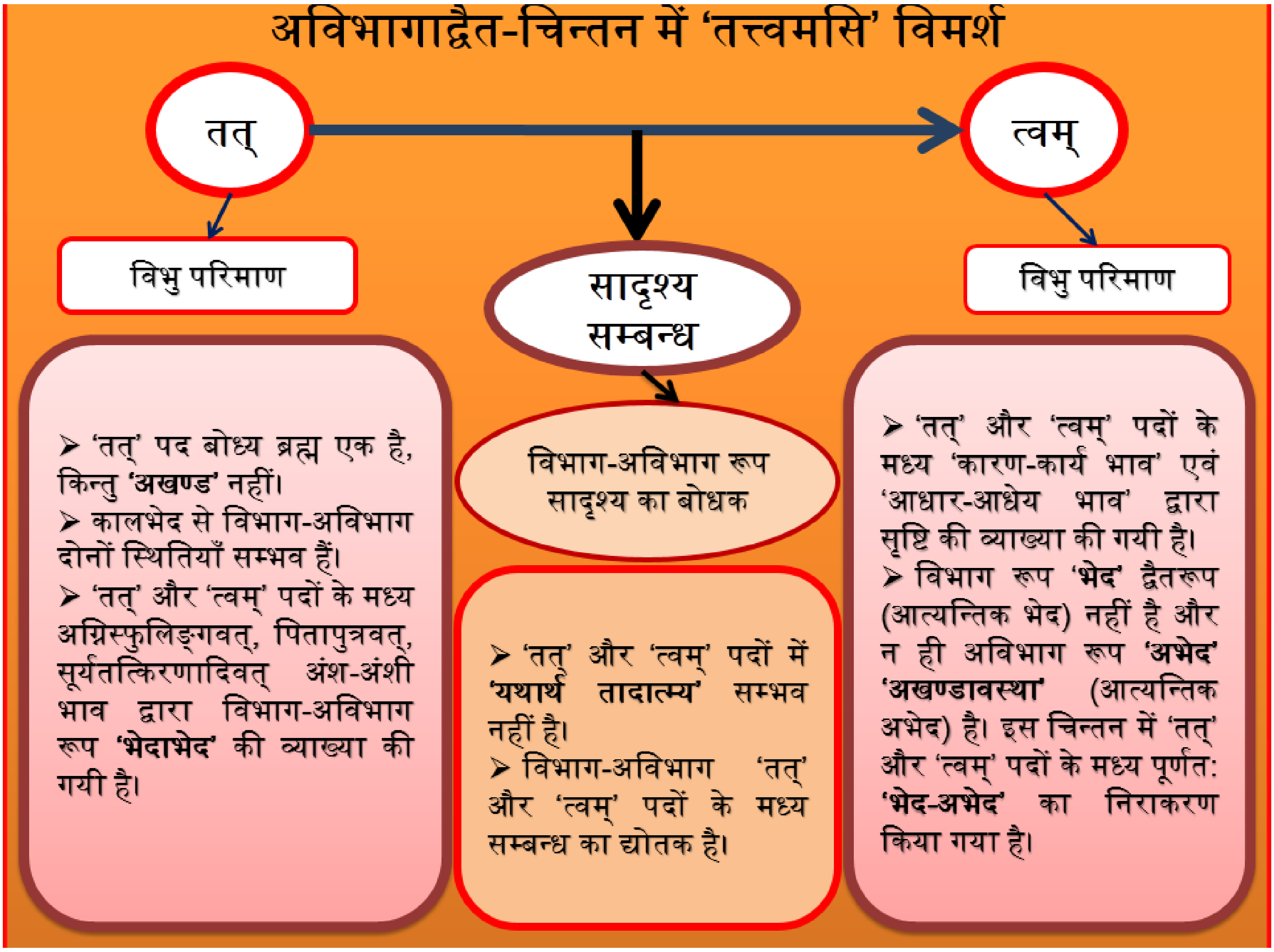

- **अविभाग-** *'अविभागश्च-आधारतावत्स्वरूपसम्बन्धविशेषोऽत्यन्तसंमिश्रणरूपो दुग्धजलाद्येक-ताप्रत्ययनियामकः।'* अर्थात् दुग्ध-जल आदि एकता के नियामक अत्यन्त समिश्रण रूप आधारता के समान ही स्वरूप-सम्बन्ध विशेष को 'अविभाग' कहा जाता है।
- 'भेद-अभेद' दोनों एक ही काल में नहीं रहते। सर्गकाल में 'विभागरूप-भेद' और प्रलय व मोक्षकाल में 'अविभागरूप-अभेद'। अतः कालभेदात् न विरोधः दृश्यते।
- **अविभाग सम्बन्धी दृष्टान्त- 1. 'नदी-समुद्र'-** मोक्षकाल में जीव 'अंशांशी रूप अविभाग' द्वारा ब्रह्म में उसी प्रकार लयता को प्राप्त होता है, जैसे- **समुद्र में नदी** । यहाँ लय का अर्थ- अत्यन्त विनाश नहीं है, अपितु 'व्यक्त' का 'अव्यक्त' अवस्था में विद्यमान होना है। **2. जल में नमक -** यद्यपि नमक और जल दोनों की सत्ता भिन्न है, किन्तु अविभागावस्था में एक प्रतीत होते हैं, वैसे ही जीव-जगत् के सम्बन्ध में यद्यपि दोनों की सत्ता वास्तविक है, फिर भी **'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'** इस रूप में 'अविभाग' है।
- इस चिन्तन में जीव को उपाधि, विशेषण, प्रतिबिम्ब अथवा आभास नहीं माना गया है, अपितु ब्रह्म (शक्तिमान्) की अन्तर्लीन शक्ति माना गया है। ब्रह्म एक परिधि है, जिसमें जीव और जगत् सत् (वास्तविक) रूप में विद्यमान हैं।

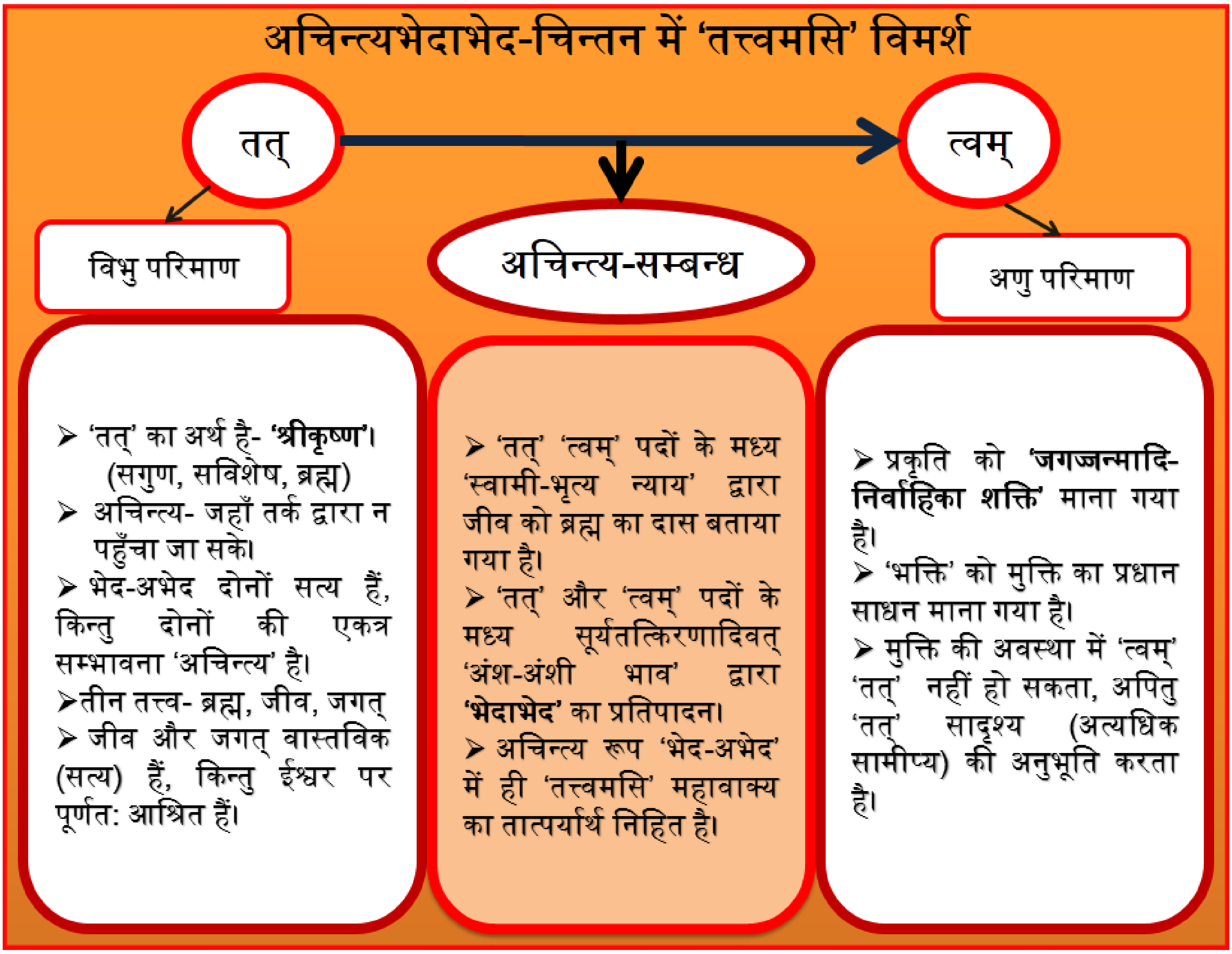

- **अचिन्त्य-** ब्रह्म किस प्रकार एक रहकर बहुत हो जाता है, अविकारी रहकर भी जगत् रूप में परिणत हो जाता है और निरंश रहकर भी अंशयुक्त हो जाता है-ये सारे रहस्य हमारी बुद्धि की समझ से परे होने के कारण 'अचिन्त्य' हैं। ... भगवान् की शक्ति चिन्तन का विषय न होने के कारण 'अचिन्त्य' है- *'अचिन्त्या खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।'* (सर्वसंवादिनी)
- लीला रूप जगत् प्रपञ्च भगवान् से एकान्तिक रूप से न तो भिन्न है न अभिन्न। यह 'तत्', 'त्वम्' सम्बन्धी भिन्नाभिन्नात्मकता **'अचिन्त्य'** है।
- **दृष्टान्त- अहिकुण्डलवत्-** जैसे सर्प स्वेच्छानुसार अपने संकल्प से उत्पन्न विशिष्ट संयोग द्वारा 'कुण्डलता' को प्राप्त होता है और स्वेच्छानुसार सीधा हो जाता है। इस प्रक्रिया में सर्प के आकार में परिवर्तन तो होता है, किन्तु स्वरूप में नहीं। वैसे ही ब्रह्म स्वसंकल्प द्वारा अपने को विश्वरूप में परिणत कर लेता है और स्वेच्छानुसार पुन: जगत् को अपने अन्दर समेट लेता है। (सर्प ही कुण्डल है, इस रूप में) कुण्डल सर्प से **अभिन्न** होने पर भी 'कुण्डलत्व रूप ऋज्वाकार' से **भिन्न** है। वैसे ही (ब्रह्म ही जगत् है, इस रूप में) जगत् ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी 'व्यक्त रूप' में नानात्व (भिन्नता) को प्राप्त होता है।

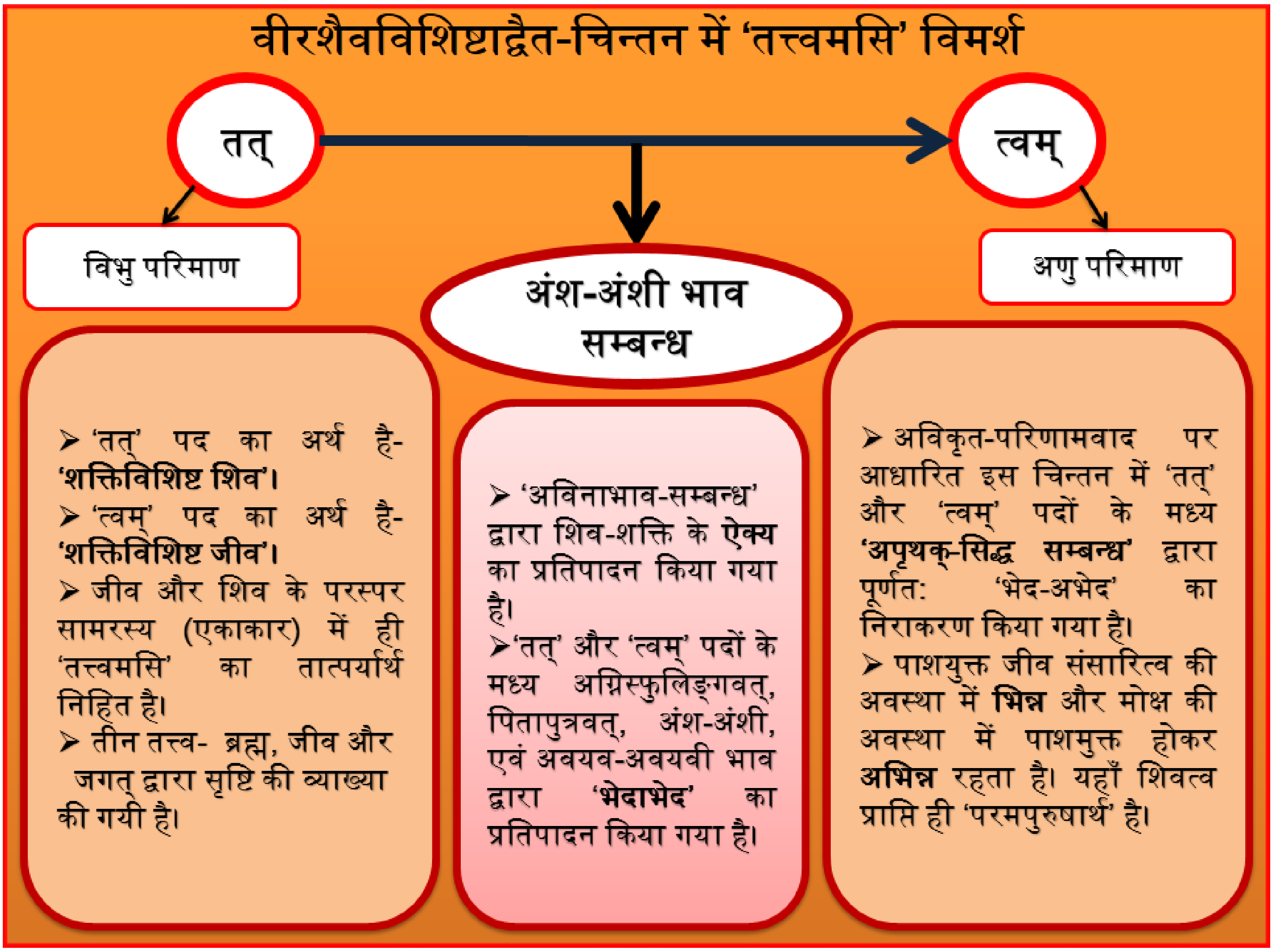

- **वीरशैवविशिष्टाद्वैत** (शक्तिविशिष्टाद्वैत)- *'वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका'* अर्थात् शिव और जीव के अभेद (ऐक्य अर्थ) को बताने वाला चिन्तन 'वीरशैव' कहलाता है।
- **अविनाभाव-सम्बन्ध-** सम्बन्धी से जिस सम्बन्ध को अलग नहीं किया जा सके। जैसे-अग्नि में दाहकता, पुष्प में गन्ध, शर्करा में मिठास जिस प्रकार प्रकार 'अविनाभाव-सम्बन्ध' से विद्यमान है, वैसे ही शक्ति शिव में।
- **अंश-अंशी भाव द्वारा भेदाभेद का प्रतिपादन-** *'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगा: सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:।'* जैसे अग्नि और उससे आविर्भूत कण इन दोनों में न आत्यन्तिक भेद है, न अत्यन्त अभेद। वैसे ही शिव और शिवांशवाचक जीवों में न आत्यन्तिक भेद है, न अत्यन्त अभेद।
- **अभेद का स्वरूप-** *'परे ब्रह्मणि लीनात्मा विभागेन न दृश्यते।'* (सि.शि.परि.२०) अर्थात् उस परब्रह्म में सामरस्य को पाकर जीव शिवसायुज्य रूप **सादृश्य** की अनुभूति करता है।
- **सत्ता (तत्त्व)-** *'शिव: सत्यं जगत् सत्यं जीव: सत्यं स्वभावत:।'* अर्थात् शिव, जीव और जगत् की सत्ता वास्तविक (सत्य) एवं नित्य है।
- **दृष्टान्त-** जैसे उदित होते हुए सूर्य से हजारों किरणें निकलती हैं (नानात्व का बोधक) और अस्त होते समय पुन: उसी में विलीन हो जाती हैं (एकत्व का बोधक), वैसे ही शिव परिणमन की

अवस्था में नाना रूपों में परिणत होता है और स्वेच्छानुसार सम्पूर्ण जगत् को अपने में विलीन करता हुआ एकत्व को प्राप्त होता है।

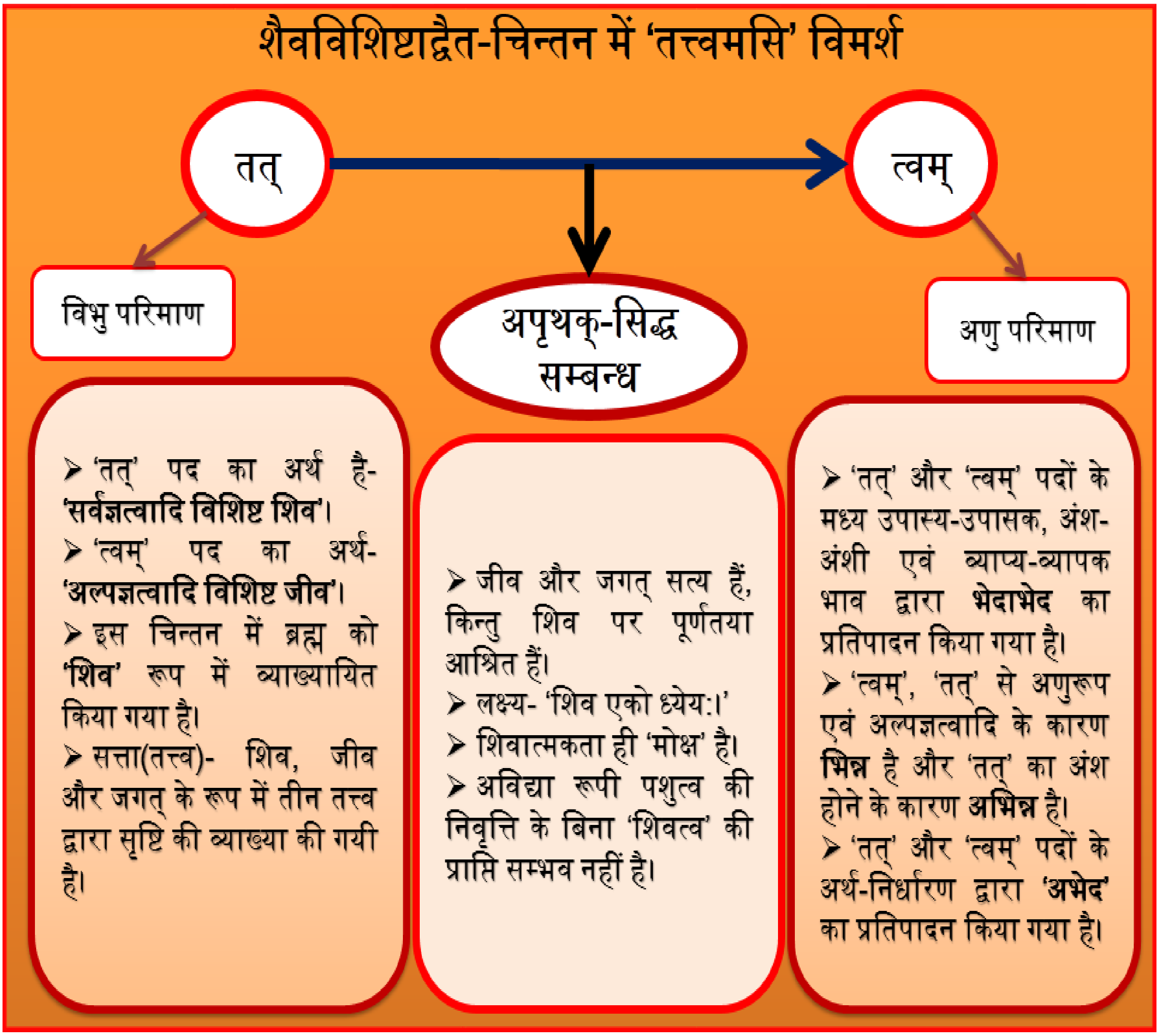

- **कारण-कार्य भाव-** इस चिन्तन में 'तत्' पद बोध्य सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट शिव कारण है और 'त्वम्' पद बोध्य जीव एवं स्थूलचिदचिद् विशिष्ट जगत् कार्य है।
- शैवाद्वैत-चिन्तन में ब्रह्म को धर्मी के रूप में स्वीकार किया गया है। अत: सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूप नहीं, अपितु धर्म (गुण) हैं।
- 'गुण-गुणी भाव' द्वारा शैवाद्वैत की व्याख्या करने के कारण 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में 'नीलमुत्पलम्' दृष्टान्त बन सकता है।
- 'व्याप्य-व्यापक भाव' द्वारा शिव जगत् रूप में परिणत होते हुए जीव-जगत् को व्याप्त कर सर्वत्र अन्तर्यामी रूप में अनुस्यूत है।

- **शक्तिविशिष्टब्रह्म का स्वरूप-** *'नित्यसम्बद्ध-चिदचिदुभयपर्यायसत्ताविशेष: ब्रह्म'।*
- इस चिन्तन में जीव को 'चिदचिदुभयात्मक' माना गया है। आचार्य शङ्कर के समान केवल चेतन नहीं, क्योंकि केवल चिदंश से अथवा केवल अचिदंश से नामरूप का प्रकटीकरण नहीं हो सकता।
- जीव का जो चिदचिदुभयात्मकत्व रूप है, उसमें चित् का अर्थ-प्रतिबिम्ब है, जो बिम्ब (ब्रह्म) से भिन्न है। अचित् का अर्थ- महत्तत्वादि स्वरूप त्रिगुणात्मक कार्य है, जो कारण प्रकृति से भिन्न है।
- प्रतिबिम्ब, बिम्ब का स्वरूप होने के कारण बिम्ब के अधीन होता है, वैसे ही जीव ब्रह्म का स्वरूप होने के कारण ब्रह्म के अधीन (आश्रित) है।
- स्वरूपाद्वैत का आधार सत्ता की उभयात्मकता है। चित्, अचित्- इनमें से किसी एक अथवा दूसरे को छोड़कर सत्ता को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। दोनों नित्य-सम्बद्ध हैं।
- 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा जीव का 'तत्स्वरूपत्व' ही कहा गया है। हे श्वेतकेतो ! तुम वही चिदचिदात्मक ब्रह्म हो।

प्रथम-अध्याय

विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना

प्रथम-अध्याय

विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना

1.1. **प्रस्तावित शोध कार्य का क्षेत्र** (Area of Research and Objective)

भारतीय ज्ञान और संस्कृति को समझने के लिए तथा दार्शनिक गुत्थियों के समाधान हेतु वेदों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के निवारण के लिए अलौकिक उपायों का केन्द्र वेद ही है- *'इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।'* (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.३०) *'विद्यते ज्ञायतेऽनेनेति वेदः'* इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा कोई ज्ञान प्राप्त किया जाये, उसे वेद कहते हैं। *'मन्त्रब्राह्मणयोः वेदनामधेयम्'* (आपस्तम्बसूत्र, यज्ञपरिभाषा,३१) के अनुसार वेद के दो विभाग किये गये हैं- 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण'। मन्त्र को पुनः चार भागों में विभाजित किया गया है- *'यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः चतुर्विधं मन्त्रजातम्।'(बृ.शां.भा.२/४/१०)* अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद के रूप में चार प्रकार का मन्त्र समुदाय है, इसी को संहिता भी कहा जाता है। इसी क्रम में ब्राह्मण के तीन विभाग किये गये हैं- ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। पुनः उपनिषद् के दो विभाग किये गये हैं- संहितापरक उपनिषद् तथा ब्राह्मणपरक उपनिषद्।

उपनिषद् शब्द का प्रयोग ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या के लिए किया जाता है, जिसमें वेदों के चरम तात्पर्य को निरूपित किया गया है- *'वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च' (वेदान्तसार पृ.२५)।* वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग होने के कारण मुख्यतः उपनिषदों को 'वेदान्त' कहा जाता है। उनका उपकारक होने के कारण शारीरक-सूत्र

आदि को भी 'वेदान्त' शब्द से अभिहित किया गया है। सृष्टि के गूढ़तम रहस्यों को ऋषियों द्वारा अत्यन्त संक्षिप्त शब्दावली में कहा गया है। इन संक्षिप्त शब्दावली से युक्त गूढ़-दार्शनिक निष्कर्षों को प्रस्तुत करने वाले वाक्यों को 'महावाक्य' कहते हैं।

1.1.1. महावाक्य

महावाक्य शब्द वेदान्त दर्शन में पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है। समस्त वेद के अर्थ का सार तथा वेदान्त का सर्वोच्च ज्ञान महावाक्यों में निहित है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अनेक मूल्यवान् निर्देश, वेदों का तात्पर्यार्थ तथा सृष्टि के रहस्यमय भाव बीज रूप में समाहित होने के कारण ऐसे वाक्यों को महावाक्य के रूप में अभिहित किया गया है। महावाक्यों में निहित ज्ञान की पराकाष्ठा तथा अर्थ-गाम्भीर्य के कारण ही वेदान्त को वेद का सार कहा गया तथा इनको आधार बनाकर अनेकानेक भाष्य लिखे गये।

वैसे तो गूढ़ार्थ रहस्यों को उद्घाटित करने वाले अनेक महावाक्यों की परिगणना विद्वानों ने की है, किन्तु उनमें से ऋग्वेद के ऐतरेय-आरण्यक का *'प्रज्ञानं ब्रह्म' (५/३),* शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् का *'अहं ब्रह्मास्मि' (१/४/१०),* सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का *'तत्त्वमसि' (६/८/७)* तथा अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् का *'अयमात्मा ब्रह्म' (मंत्र २)* इत्यादि महावाक्य अति प्रख्यात हैं।

1.1.1.1. चारों वेदों से सम्बद्ध चार महावाक्यों का अतिसंक्षिप्त परिचय

चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करने वाले इन चार महावाक्यों का अतिसंक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(i) ऋग्वेद के ऐतरेय-आरण्यक का 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (५/३)

इस महावाक्य में बताया गया है कि ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। यहाँ 'प्रज्ञान' से तात्पर्य है- 'नित्य चेतनस्वरूप'। वही हमारी बुद्धि की चेतना है और उसी से हमारे समस्त विचार प्रकाशित होते हैं। जिस चेतना के द्वारा मनुष्य इस जगत् को देखता है, सुनता है, सूँघता है, बोलता है और स्वाद लेता है, उसे 'प्रज्ञान' कहते हैं। ब्रह्मादि देवताओं से लेकर मनुष्य, हाथी, घोड़े और पेड़-पौधों तक वह एक चैतन्य व्याप्त होकर सबको प्रकाशित

कर रहा है। वही प्रज्ञान ब्रह्म है। इस प्रकार इस महावाक्य द्वारा ब्रह्म का लक्षण बताया गया है।

(ii) अथर्ववेदीय माण्डूक्योपनिषद् (मंत्र २) तथा बृहदारण्यकोपनिषद् (१/५/१९) का 'अयमात्मा ब्रह्म'

इस महावाक्य में बताया गया है कि यह आत्मा ही ब्रह्म है। गुरु उपदेश सुनकर जब शिष्य अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करता है तो गुरु उसका समर्थन करते हुए कहता है कि यही आत्मा ब्रह्म है। शिष्य भी स्वीकार करता है कि अपने अनुभव में आने वाला आत्मा ही 'ब्रह्म' है।

(iii) सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि' (६/८/७)

इस महावाक्य को 'उपदेश-वाक्य' कहते हैं। इसके द्वारा गुरु शिष्य को बताता है कि वह ब्रह्म ही तुम हो। सृष्टि उत्पन्न होने के पूर्व नामरूप रहित एक ही अद्वितीय सत् वस्तु थी और इस समय भी वह सत् तद्वत् है। उपदेश ग्रहण करने वाला शिष्य 'त्वं' पद से इंगित किया गया है। वह अपनी शरीर आदि उपाधियों से अतीत सत्ता को पहचाने तो वही 'ब्रह्म' है।

(iv) शुक्लयजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् का 'अहं ब्रह्मास्मि' (१/४/१०)

इस महावाक्य को 'अनुभव-वाक्य' की संज्ञा से अभिहित किया गया है। जब आचार्य के द्वारा अध्यारोप और अपवाद के माध्यम से अधिकारी शिष्य को 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थबोध करा दिया जाता है, तो अधिकारी शिष्य के चित्त में 'मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव वाला अद्वितीय ब्रह्म हूँ'- इस प्रकार की ऐक्यबोधक चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। एवंविध अनुभूति के बोधक वाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' है।

जब शिष्य अपने आत्मभाव में स्थित होता है, तो वह आत्मा और ब्रह्म की एकता का अनुभव कर स्वीकार करता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। इस प्रकार *'ब्रह्मैव जीव: स्वयम्'* (विवेकचूडामणि, श्लोक,३९५) के भाव का मनन कर ब्रह्म में अपना, अपने जगत् और ईश्वर की तात्त्विक एकता को जानना, समझना और भली-भाँति निश्चय करना ही जीवन की पूर्णता और वेदान्त का चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार आत्मज्ञान कराने वाले अनेक महावाक्य उपनिषदों में मिलते हैं, किन्तु आचार्यों ने उपर्युक्त चार महावाक्यों को प्रमुख माना है। इन चारों के द्वारा आत्मज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिलती है। वस्तुत: आत्मज्ञान में यही वाक्य प्रमाण हैं।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि *'प्रज्ञानं ब्रह्म'* में वस्तु और व्यक्तियों के सतत परिवर्तनशील दृश्यमान जगत् के परे विद्ययमान परम सत् की परिभाषा मिलती है। *'तत्त्वमसि'* उपदेश वाक्य है। गुरु से सुनकर वह साधक अपने आत्मचिन्तन के क्षणों में अनुभव करता है कि *'अयमात्मा ब्रह्म'* यह आत्मा ही ब्रह्म है और अन्त में परमपद प्राप्त कर वह साधक अपने हृदय में आनन्दमय उद्घोष करता है और पूर्ण तृप्ति के साथ कहता है- *'अहं ब्रह्मास्मि'* मैं ही ब्रह्म हूँ।

1.1.2. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में भाष्यकारों का दृष्टि-वैविध्य

प्रस्तुत शोध-कार्य में ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध एकादश-भाष्यों के आधार पर *'तत्त्वमसि' (६/८/७)* महावाक्य का विश्लेषण करते हुए जीव और ब्रह्म की एकता के (ब्रह्मात्मैक्य) विवेचन के क्रम में मुख्यतया भाष्यकारों का भिन्न-भिन्न चिन्तन, दृष्टिकोण तथा उनकी व्याख्या-पद्धति सम्बन्धी विश्लेषण करते हुए अर्थ-निर्धारण किया जायेगा। *'तत्त्वमसि' (६/८/७)* महावाक्य को आधार बनाकर ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध मुख्यतया एकादश-भाष्यों के आधार पर उन भाष्यकारों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण तथा उनकी व्याख्या-पद्धति सम्बन्धी विवेचन इस प्रकार है-

1.1.2.1. अद्वैत-वेदान्त

अद्वैत वेदान्त के अनुसार *'जीवो ब्रह्मैव नापर:' (ब्रह्मज्ञानावलीमाला, २०)* इस तथ्य के प्रतिपादन हेतु गुरु द्वारा शिष्य को *'तत्त्वमसि' (छा.उ. ६/८/७)* महावाक्य का कथन किया जाता है। 'तत्' और 'त्वम्' पदों के तात्त्विक एकता के प्रसंग में आचार्य शङ्कर का कथन है- *'स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वंपदवाच्यार्थ:। उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशासम्पन्नं शुद्धचैतन्यं त्वंपदलक्ष्यार्थ:।' (तत्त्वबोध, अध्याय ५)* अर्थात् 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ स्थूल और सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव है, किन्तु 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ उपाधि रहित तथा समाधि दशा में अनुभव होने वाला शुद्ध-चैतन्य है।

इसी क्रम में 'तत्' पद को परिभाषित करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है- *'एवं सर्वज्ञत्वादि-विशिष्टईश्वर: तत्पदवाच्यार्थ: उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थ:।' (वही.)* अर्थात् 'तत्' पद का वाच्यार्थ सर्वज्ञत्वादि उपाधि विशिष्ट ईश्वर है, किन्तु 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ उपाधि शून्य शुद्ध-चैतन्य है। लक्ष्यार्थ में ही वेदान्त मत का तात्पर्यार्थ निहित है। सम्पूर्ण वेदान्त का तात्पर्य जीवब्रह्मैक्य में निहित होने से आचार्य शङ्कर का कथन है-

तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थं यज्जीवपरमात्मनो:।
तादात्म्यविषयं ज्ञानं तदिदं मुक्ति साधनम्॥

- (वाक्यवृत्ति,६)

अर्थात् *'तत्त्वमसि'* महावाक्य से उत्पन्न होने वाला जीव और परमात्मा का तादात्म्य विषयक ज्ञान मुक्ति का साधन है। सामान्य रूप में 'त्वम्' पद का शाब्दिक अर्थ वैयक्तिक अहं है, किन्तु लाक्षणिक अर्थ 'आत्मचैतन्य' है। 'त्वम्' पद के इस लाक्षणिक अर्थ को दृढ़ करने के लिए *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' पद का अर्थ समझना आवश्यक है। उपनिषदों में निषेध मुख से 'तत्' (ब्रह्म) से पृथक् जो कुछ प्रतीत होता है, उसकी व्यावृत्ति करते हुए विधि-मुख से 'तत्' (ब्रह्म) का साक्षात् निरूपण किया गया है। 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ निर्धारण के अनन्तर सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ निश्चित करने के प्रसंग में आचार्य शङ्कर का कथन है-

तत्त्वंपदार्थो निर्णीतौ वाक्यार्थश्चिन्त्येतऽधुना।
तादात्म्यमत्र वाक्यार्थस्तयोरेव पदार्थयो:॥ (वही,३७)

सम्पूर्ण *'तत्त्वमसि'* महावाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ की एकता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य को सूचित करता है। इसी क्रम में आचार्य शङ्कर 'तत्' और 'त्वम्' पदों के लक्ष्यार्थ में तादात्म्य को सूचित करते हैं-

तत्त्वमस्यादिवाक्यं च तादात्म्यप्रतिपादने ।
लक्ष्यौ तत्त्वंपदार्थौ द्वावुपादाय प्रवर्तते ॥ (वही,४२)

यहाँ समस्या उपस्थित होती है कि जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म सर्वज्ञ, इन दोनों में अत्यन्त विलक्षणता के कारण *'तत्त्वमसि'* महावाक्य के द्वारा अखण्डार्थ (जीवब्रह्मैक्य) का प्रतिपादन कैसे किया जाये? इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष की उद्भावना करते हुए नृसिंह सरस्वती का कथन है-

'ननु जीवेश्वरयोः किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिविशिष्टयोरत्यन्तविलक्षणयोः तत्त्वमस्यादि महावाक्यानि परस्परविरुद्धार्थ-प्रतिपादकानि कथमखण्डैकरसं ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।' (वेदान्तसार, सुबोधिनी टीका, पृ.१०१) इस समस्या के समाधान हेतु सुरेश्वराचार्य का कथन है-

सामानाधिकरण्यञ्च विशेषणविशेष्यता ।
लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम् ॥

- (नैष्कर्म्यसिद्धि, ३/३)

सामानाधिकरण्य, विशेषण-विशेष्यभाव तथा लक्ष्य-लक्षणभाव, इन त्रिविध सम्बन्धों के द्वारा *'तत्त्वमसि'* महावाक्य के माध्यम से जीव और ब्रह्म में अखण्डार्थ का प्रतिपादन किया जा सकता है।

सामानाधिकरण्य की व्याख्या करते हुए नृसिंह सरस्वती का कथन है- *'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोः शब्दयोरेकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः सामानाधिकरण्यम्।'(सुबोधिनी टीका, पृ.१०३)* अर्थात् जिन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हो, ऐसे दो शब्दों का एक ही अर्थ में प्रवृत्त होना सामानाधिकरण्य कहलाता है। *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में 'तत्', 'त्वम्' और 'असि' ये तीन पद हैं। 'असि' पद 'तत्' और 'त्वम्' को सम्बन्धित करता है। यहाँ 'तत्' पद परोक्षत्व तथा सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है और 'त्वम्' पद प्रत्यक्षत्व तथा अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है। दोनों भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तक होने पर भी सामानाधिकरण्य सम्बन्ध से शुद्ध चैतन्य रूप एक ही तात्पर्य के द्योतक हैं।

दूसरा *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में विशेषण-विशेष्य भाव सम्बन्ध द्वारा जीव और ब्रह्म में अद्वैत की सिद्धि की जाती है। यहाँ 'तत्' पद से परोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्' पद से अपरोक्षत्वादि विशिष्ट चैतन्य रूप अर्थ गृहीत होता है। यहाँ परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व इस प्रतीयमान विरोध का अन्योऽन्यभेद के व्यावर्तक विशेषण-विशेष्य भाव द्वारा परिहार कर शुद्ध चैतन्यमात्र का बोध कराया जाता है।

इसी प्रकार लक्ष्य-लक्षणभाव सम्बन्ध के माध्यम से *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में जहदजहल्लक्षणा द्वारा परोक्षत्वादिविशिष्टत्व तथा अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व इस विरुद्धांश का त्याग तथा अखण्ड चैतन्य रूप अविरुद्धांश को ग्रहण कर अखण्डार्थ का बोध कराया जाता है।

1.1.2.2. भेदाभेद-सम्प्रदाय

भास्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते हुए जीव और ब्रह्म के मध्य भेदाभेद का प्रतिपादन किया है। उन्होंने ब्रह्म को जीव से भिन्न एवं अभिन्न दोनों रूप में स्वीकार किया है- *'भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्म इति स्थितम्।'(ब्र.सू.भास्करभाष्य १/१/४)* कारणावस्था में वह अभिन्न और कार्यावस्था में भिन्न है- *'ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय।' (वही, २/१/२४)* अर्थात् दुग्ध का दधिरूप में जिस प्रकार परिणमन होता है, वैसे ही ब्रह्म का भी जीव एवं प्रपञ्च रूप में परिणमन होता है। वह ब्रह्म अपनी इच्छा से लोक हित के निमित्त स्वशक्त्यनुसार परिवर्तित होता है-

'स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति।' (वही. २/१/१४) पारमार्थिक रूप से ब्रह्म और जीव जल-तरंग तुल्य हैं, जिसमें ऐक्य स्वाभाविक और वैभिन्य औपाधिक है- *'स च ब्रह्मणो भिन्नाभिन्नः। तस्याऽभिन्नत्वं स्वाभाविकं, भिन्नत्वमौपाधिकम्' (भास्करमत, २/३/५३ अणुभाष्य में उद्धृत)।*

'तत्त्वमसीति श्रुतेर्भिन्नाभिन्नो जीवः स्वाभाविकं नित्यसिद्धमभिन्नं रूपमितरदौपाधिकं प्रवाहनित्यमिति विवेकः।'(ब्र.सू.भास्करभाष्य,३/२/६) अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा संसारोपाधि के नष्ट होने पर ब्रह्म और जीव का अभेद वास्तविक प्रतीत होता है। उपाधिगत भेद के नाश होने पर जैसे घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही अविद्या रूपी उपाधि के नाश होने पर जीव ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है- *'यतः प्रादुर्भूताः तत्रैव स्वकारणे प्रलीयन्ते' (ब्र.सू.भास्करभाष्य,४/२/१४)।*

1.1.2.3. विशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय

शाङ्कर वेदान्त और रामानुज वेदान्त में *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में समन्वय की दिशा में भेद है। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद

अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप जीव का बोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंशों में विरोध होने पर भी भागत्याग लक्षणा द्वारा ब्रह्मात्मैक्य का प्रतिपादन किया जाता है।

आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शाङ्कर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है। उनके अनुसार जीव चित्, जगत् अचित् तथा चित् और अचित् से विशिष्ट तत्त्व ब्रह्म है - *'तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेनैका-र्थाभिधायित्वात्।' (श्रीभाष्य २/३/४५)* *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प एवं जगत् कारणरूप ब्रह्म का और 'त्वम्' पद अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का बोधक है- *'तत् सामानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकंब्रह्म प्रतिपादयति।'(वही,१/१/१)* रामानुज वेदान्त में अचिद्विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का अन्तर्यामी रूप से कथन करते हुए 'तत्' और 'त्वम्' पद का वाच्य अन्ततः एक ही शुद्ध चैतन्य में माना गया है- *'अन्तर्यामिरूपेण अवस्थितस्य परस्य शरीरतया प्रकारत्वात् जीवात्मनः तत्प्रकारं ब्रह्मैव त्वम् इति शब्देन अभिधीयते।' (वेदार्थसंग्रह, पृ. ९२)*

रामानुजाचार्य के मतानुसार जीवात्मा के वाचक *'तत्त्वमसि'* आदि महावाक्य के अन्तर्वर्ती 'त्वम्' आदि शब्दों का परमात्मा में ही पर्यवसान होता है- *'जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादि शब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा 'मामेवविजानीहि'- 'मामुपासस्व' इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश।'(श्रीभाष्य,१/१/३१)* विशिष्टाद्वैत में जीव एवं ब्रह्म के बीच शरीर-शरीरीभाव माना गया है- *'जीवपरमात्मनोः शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मणः शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मकः'(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ.१७६)।* ब्रह्म शरीरी एवं जीव-जगत् (चित् और अचित्) ब्रह्म के शरीर हैं। वह शरीरी ब्रह्म शरीर रूप जीव-जगत् का आधार है, इसलिए *'मामेवविजानीहि' 'मामुपासस्व'* -'मुझे ही जानो' और 'मेरी ही उपासना करो' इत्यादि में आत्मा के शरीरी परमात्मा का उपास्य रूप से उपदेश दिया गया है। अन्य स्थलों पर जीव शेष एवं ब्रह्म को शेषी के रूप में बताते हुए शेष-शेषी भाव भी माना गया है।

रामानुजाचार्य ने 'तत्' पदबोध्य जगत् कारणरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पदबोध्य जीव के ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए वेदार्थसंग्रह में कहा है- *'तत् त्वम् इति सामानाधिकरण्येन, जीवशरीरतया*

जीवप्रकारं ब्रह्मैव अभिहितम्। ... तत् त्वम् इति सामानाधिकरणवृत्तयो: द्वयोरपिपदयो: ब्रह्मैव वाच्यम्।' (वेदार्थसंग्रह, पृ. १९)

शाङ्कर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त में *('ब्रह्मैव जीव: स्वयम्'-वि.चू. ३९५)* जीव एवं ब्रह्म में अद्वैतता न मानकर अंशांशिभाव का प्रतिपादन किया गया है। जिसके अनुसार ब्रह्म अंशी एवं जीव अंश है। वस्तु का एकदेशीय भाग अंश कहलाता है- *'एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्' (श्रीभाष्य, २/३/४५)।* ब्रह्म भेदों से रहित होने के कारण जीव ब्रह्म का पृथक्-कृत अंश नहीं है, अपितु विशेषण एवं प्रकार होने के कारण उन्हें ब्रह्म का अंश कहा गया है- *'विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वभावभेदश्चोपपद्यते।' (वही.)* यहाँ जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है, अपितु ब्रह्म का अंश होने से भिन्नाभिन्न है- *'जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्न:। अपितु ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्न:। तत्राभेद एव स्वाभाविक:, भेदस्त्वौपाधिक:।'(श्रीभाष्य, १/१/४)* रामानुज दर्शन में मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ ऐक्य को प्राप्त न होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है- *'ब्रह्मणो भाव: न तु स्वरूपैक्यम्' (श्रीभाष्य, १/१/१)।*

1.1.2.4. द्वैत-सम्प्रदाय

आचार्य मध्व *'तत्त्वमसि'* महावाक्य से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को स्वीकार न करके मध्वभाष्य (२/३/२९) में *'भिन्ना: जीवा: परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपत:'* के द्वारा जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए आत्यन्तिक भेद का प्रतिपादन करते हैं-

आह नित्यपरोक्षं तु त्वच्छब्दो ह्यविशेषत:।
त्वंशब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत्॥

- (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ.२३३)

'तत्' शब्द सामान्य-रूप से नित्य-परोक्ष पदार्थ का बोध कराता है, जबकि 'त्वम्' पद प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक है, अत: दोनों में ऐक्य सम्भव नहीं है। ईश्वर अनन्त गुणों से युक्त होने के कारण पूर्ण है, जबकि जीव अल्प है- *'ब्रह्मशब्देन पूर्णगुणत्वेनानुभवसिद्धात्मगुणो जीवो भेद:' (न्यायविवरण, १/१/१)।*

मध्वाचार्य ने 'तत्त्वसंख्यान' नामक ग्रन्थ में स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र के रूप में सत्ता के दो भेद किये हैं- *'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते' (तत्त्वसंख्यान, पृ. १)।* द्वैत मत में जीव को ईश्वर से भिन्न किन्तु ईश्वर का अंश मानते हुए *'जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु' (सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २३३)* के द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' की एकता असंभव होने पर भी जीव को ब्रह्म का समरूप (सादृश्य) मानने का तात्पर्य लिया जाता है। इसी क्रम में शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में भी पूर्णत: भेद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *'विभिन्नांशा: सदा जीवा न स्वांशा इति निश्चय:' (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृ. २७)।* इस प्रकार द्वैत वेदान्त में जीवों का एक-दूसरे से भेद तथा परमात्मा से भेद नित्य रूप से माना गया है- *'सर्वेपि जीवा: परस्परं परमात्मना च भिन्ना:' (पद्मनाभसूरिकृत पदार्थसंग्रह, ८५)।*

आचार्य मध्व ने *'तत्त्वमसि'* महावाक्य का अर्थ *'त्वं तदीय: असि'* एवं *'त्वं तस्य असि'* के रूप में किया है। द्वैत मत में *'स आत्मातत्त्वमसि'* महावाक्य की *'स आत्मा अतत्त्वमसि'* के रूप में व्याख्या करते हुए कहा गया है- *'आत्मा अतत् त्वम् असि'* तुम वही (परमात्मा) नहीं हो, क्योंकि स्वतन्त्रता, सर्वज्ञत्वादि गुण तुममें नहीं है।

1.1.2.5. द्वैताद्वैत-सम्प्रदाय

आचार्य निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म तथा जीव और जगत् में आश्रयाश्रित सम्बन्ध है। जीव और जगत् ब्रह्म के आश्रित तथा ब्रह्म आश्रय है। इस मत के अनुसार जीव एवं ब्रह्म में अंशांशिभाव है। जीव अंश तथा ब्रह्म अंशी है- *'अंशवाची हि पादशब्दस्तेन ब्रह्मांशो जीव:।' (ब्र.सू.नि.भा. भावदीपिकाटीका, २। ३। ४२)* यहाँ अंश शब्द का अर्थ अवयव नहीं है, अपितु- *'अंशोहि शक्तिरूपोग्राह्य:।' (ब्र.सू.वे.कौ.टी. २। ३। ४२)* अंश शब्द का अर्थ 'अर्थशक्ति' किया गया है। अंश होने के कारण जीव ब्रह्म से भिन्न एवं अभिन्न दोनों है- *'ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञ: स्वस्वरूपतो भिन्न एव' (वेदान्तपारिजातसौरभ, २/१/२२)।*

जीव और ब्रह्म के मध्य प्रवर्त्य-प्रवर्तक भाव तथा जीव 'अज्ञ' और ब्रह्म के 'ज्ञ' होने से ब्रह्म से जीव भिन्न है- *'जीवेश्वरयो: प्रवर्त्यप्रवर्तकभावेराजभृत्ययोरिवात्यन्तभिन्न एवांश:'(ब्र.सू.नि.भा.*

भा.दी.टी.२/३/४२)। अंश-अंशी भाव होने से जीवेश्वर अभिन्न भी है- *'प्रतिबिम्बो जीव: बिम्बस्थानीयो हीश्वर:, उभयानुस्यूतं शुद्धं चैतन्यम्' (ब्र.सू.नि.भा.वे.कौ.टी.४/४/७)।*
वेदान्त पारिजात के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य का कथन है- *'चिदचित्स्वाभाविक भेदाभेदाश्रयो भगवान्वासुदेव: श्रीपुरुषोत्तम:।' (वही,१/१/१)* अर्थात् भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम चिदचिद् स्वाभाविक भेदाभेद के आश्रय हैं। निम्बार्क दार्शनिक भेद और अभेद दोनों को ही परमार्थत: सत्य मानते हैं। इस सम्प्रदाय में जीवेश्वर में स्वाभाविक भेदाभेद सम्बन्ध को मानते हुए *'तत्त्वमसि'* महावाक्य की व्याख्या के प्रसंग में मात्र अभेदपरक व्याख्या (एकत्ववाद) का खण्डन करते हुए शाङ्कर वेदान्त के विपरीत निम्बार्क वेदान्त में *'सोऽयं देवदत्त:'* इस दृष्टान्त में देवदत्त धर्म एक ही है, इसलिए कालभेद और देशभेद से भासमान उक्त धर्मद्वय देवदत्त धर्मी के विरुद्ध नहीं है। *'तत्त्वमसि'* महावाक्य में 'तत्' पदार्थ द्वारा बोधित सर्वज्ञत्व एवं 'त्वम्' पदार्थ द्वारा बोधित असर्वज्ञत्व दोनों ही एक काल में भासित होते हैं।
निम्बार्क दार्शनिक ने अखण्डार्थक वाक्य का खण्डन किया है। उनके अनुसार कोई भी वाक्य अखण्डार्थक नहीं हो सकता। समस्त वाक्य सखण्डार्थक एवं समस्त ज्ञान सविकल्पक है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद भी संसृष्टार्थ का बोधक है। अत: *'तत्त्वमसि'* महावाक्य को अखण्डार्थ बोधक वाक्य नहीं कह सकते। *'सोऽयं देवदत्त:'* इस दृष्टान्त में भी विशेषणविशिष्ट विषयक प्रतीति होती है। वह प्रतीति निष्प्रकारक न होने के कारण अखण्डार्थ विषयक प्रतीति नहीं है। इसलिए अखण्डार्थ बोध में *'सोऽयं देवदत्त:'* दृष्टान्त नहीं बन सकता।
निम्बार्क मत में जीव और ब्रह्म में पूर्णतया ऐक्य प्रतिपादन करना *'तत्त्वमसि'* महावाक्य द्वारा अभिप्रेत नहीं है, अन्यथा भेदप्रतिपादक श्रुतियाँ बाधित हो जायेंगी। ब्रह्म से जीवात्माओं का अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध *'तत्त्वमसि'* महावाक्य द्वारा कहा गया है। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* इत्यादि श्रुतियों द्वारा भी जीव-ब्रह्म में अपृथक्-सम्बन्ध ही बताया गया है।
निम्बार्क सम्प्रदाय के आचार्य श्री केशव काश्मीरीभट्ट ने वेदान्तकौस्तुभप्रभा में *'तत्त्वमसि'* महावाक्य की व्याख्या करते हुए 'तत्' एवं 'त्वम्' पद का निर्धारण इस प्रकार से किया है- *'सर्वज्ञ: सर्वशक्ति: स्वतन्त्रसत्ताश्रय: श्रीपुरुषोत्तमस्तत्पदार्थ:। तदात्मक: परतन्त्रसत्ताश्रयश्चे – तनस्त्वंपदार्थ:।असिशब्दश्च तयोस्तादात्म्यसम्बन्धाभिधायक:।'(वेदान्तकौस्तुभप्रभा,२/३/४२)*

अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र सत्ताश्रय श्री पुरुषोत्तम 'तत्' पद का अर्थ है एवं तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन 'त्वम्' पद का अर्थ है। 'असि' शब्द दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का अभिधायक है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ हुआ विश्वात्मा, परब्रह्म, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वतन्त्र सत्ता अवच्छिन्न, तत् पदार्थ अभिन्न, तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन 'त्वम्' है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में उक्त प्रकार से जीव-ब्रह्म में अभेद प्रतिपादित होने पर भी निम्बार्क मत में जीव और ब्रह्म में स्वाभाविक भेद होने से सर्वथा एकान्त अभेद नहीं है। अत: *'जीवपरमात्मनो: स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवत इत्यर्थ:।' (वेदान्तकौस्तुभ, २/३/४२)* के अनुसार निम्बार्क मत में भेद भी स्वाभाविक है और अभेद भी स्वाभाविक है।

1.1.2.6. शुद्धाद्वैत-सम्प्रदाय

वल्लभाचार्य ने जीव और ईश्वर के बीच अंशांशिभावसम्बन्ध माना है। मध्व-दर्शन में भी जीव और ईश्वर के बीच अंशांशिभावसम्बन्ध बताया गया है, किन्तु वहाँ जीवों की सत्ता ईश्वर से भिन्न है, जबकि वल्लभ वेदान्त में *'जीवो नाम ब्रह्मणो अंश:' (ब्र.सू.व.भा. २/३/४३)* के अनुसार जीव ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न है। वल्लभ मत में तादात्म्यरूप अद्वैत को स्वीकार किया गया है। यहाँ प्रत्यक्-बोध चैतन्यरूप जीव 'त्वम्' पद का तात्विक रूप है और पूर्ण अद्वितीय आनन्दरूप ईश्वर 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के विश्लेषण के क्रम में 'तत्' और 'त्वम्' का प्रतिपादन करते हुए शुद्धाद्वैतमार्तण्ड में गोस्वामी गिरिधरदास जी का कथन है-

केचित्तत्त्वमसीतिवाक्यविषये तत्त्वम्पदे लक्षणां।
केचित्तत्र ङसो लुकं विदधते भाष्यं तु केचिज्जगु:॥
केचिच्चिद्विषयादभेदमपरे छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं।
सिद्धान्ते तु सुवर्णवज्जगदिदं ब्रह्मैव जीवस्तथा॥

- (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, पृ. १६)

'सुवर्णस्यांशा: सुवर्णरूपास्तथा ब्रह्मांशं जगद् ब्रह्मैव, तथा जीवोऽपि चिदंशो ब्रह्मानेन वाक्येन बोध्यते' (वही, रामकृष्णभट्टप्रणीत प्रकाश व्याख्या, पृ.१६)। जिस प्रकार सुवर्ण के अंश सुवर्ण रूप वाले होते हैं, वैसे ही ब्रह्मांश जगत् तथा चिदंश जीव भी ब्रह्ममय (अभिन्न) है।

1.1.2.7. अविभागाद्वैत-सम्प्रदाय

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार जीव वस्तुत: ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी ब्रह्मस्वभाव सम्पन्न है। ब्रह्म और जीव के बीच अंश-अंशी भाव रूप सम्बन्ध है। यहाँ जीव को ब्रह्म का अंश बताते हुए कहा गया है- *'तस्मात् पितापुत्रवदग्निस्फुलिङ्गसूर्यतत्किरणादिवच्चैव ब्रह्मजीवयोरंशांशिभावो मतव्य:।' (विज्ञानामृतभाष्य, २/१/४३)* अर्थात् जिस प्रकार पुत्र पिता का अंश, चिन्गारी अग्नि का और किरण सूर्य का अंश होती है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का अंश है। सृष्टि काल में जीव ब्रह्म से पृथक् (विभक्त) तथा प्रलय व मोक्ष दशा में उससे अविभाग-सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है- *'प्रलये जीवावस्थानं ब्रह्माविभागेनैव संभवति ... ततश्च सर्गकाले जीवा: पितुरिव पुत्रा विभक्ता भवन्ति' (वही, २/१/१४)।* दृष्टान्त-पद्धति के माध्यम से अविभाग-सम्बन्ध को बताते हुए विज्ञानभिक्षु का कथन है कि जिस प्रकार जल का दुग्ध से अथवा नमक का समुद्र से अविभाग-सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार का अविभाग जीव और ब्रह्म के मध्य मानना चाहिए- *'जलस्य दुग्धे लवणस्य समुद्रे अविभागव्यवहार: ... जीवस्यापि ब्रह्मण्यविभाग:' (वही, १/१/२)।*

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में विज्ञानभिक्षु का कथन है- *'अविद्यानिवर्तकतयाऽभ्यर्हितत्वेन बाधकाभावे सर्वत्रैवाभेदवाक्येषु ब्रह्मात्मतापरत्वस्यौत्सर्गिकत्वात्।' (वही, १/१/२)* अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा अज्ञान रूपी बन्धन की परिसमाप्ति होने पर शुद्ध अन्त:करण में जीवब्रह्मैक्य विषयक (अविभक्त) प्रतीति होती है। किन्तु यहाँ अविभक्तावस्था में भी भेद रहता है- *'मोक्षकालेऽपि भेदघटितं साम्यं श्रूयते।' (वही.)* भिक्षु मत में विभाग और अविभाग ब्रह्म और जीव के मध्य सम्बन्ध को द्योतित करता है।

1.1.2.8. अचिन्त्यभेदाभेद-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्म और उसकी शक्तियों के भेद और अभेद दोनों को वास्तविक तथा यथार्थ माना है। *'परेशस्यांशो जीव: अंशुविरांशुमत: तद्भिन्नस्तदनुयायी तत्सम्बन्धापेक्षीत्यर्थ:' (ब्र.सू.गोविन्दभाष्य, २/३/४१)* के अनुसार जीव ब्रह्म का उसी तरह अंश है, जैसे सूर्य किरण सूर्य का अंश है। यहाँ अंश का तात्पर्य 'शक्ति' से है- *'ब्रह्मशक्तिर्जीवो*

ब्रह्मैकदेशत्वात् ब्रह्मांशो भवति।'(वही.) अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म का एक देश अथवा शक्ति है। यहाँ ब्रह्म और जीव के मध्य अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध माना गया है।

1.1.2.9. वीरशैवविशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय के अनुसार जीव को शिव का अवयव माना गया है- *'तस्मान्मायिनः परमशिवावयवलेशः पुरुषो जीवः' (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य,२/३/४१)*। इसी क्रम में सिद्धान्त-शिखामणि में भी अनादि अविद्या के सम्बन्ध से जीव को परम शिव का अंशभूत ही माना गया है- *'अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामकः' (सिद्धान्तशिखामणि,५/३४)।* यहाँ जीव और ब्रह्म में चित् के एकत्व किन्तु अणुत्व तथा विभुत्व के विरुद्ध प्रमाणत्व के कारण भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकार किया गया है- *'जीवब्रह्मणोर्भेदाऽभेद एवाङ्गीकर्तव्यः। जीवाः ब्रह्मणः अंशा एव। ... शिवांशोजीवः।' (वही,२/३/४०-४१)* जीव और ब्रह्म में विशेषण-विशेष्य या अंशांशिभाव होते हुए भी जीव का भेद और अभेद दोनों ही पारमार्थिक एवं स्वाभाविक है- *'जीवपरयोर्विशेषण विशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते।' (वही,२/३/४३)* जैसे अग्नि के अग्न्यांशों का अत्यन्त भेद या अत्यन्त अभेद न होकर वस्तुतः भेदाभेद होता है, वैसे ही जीव-शिव का सम्बन्ध है।

1.1.2.10.शैवविशिष्टाद्वैत-सम्प्रदाय

इस सम्प्रदाय में ब्रह्म को शिव रूप में व्याख्यायित किया गया है। उनके अनुसार जीव का शिव के साथ सह-अस्तित्व होने से जीव ब्रह्म का अंश है- *'तस्माज्जीवो ब्रह्मणोंऽशभूत एव तत्स्वरूपं प्रतिपद्यते।' (शैवभाष्य,२/३/४२)* इसी सम्बन्ध में जीव को शिव के अंश रूप में प्रतिपादित करते हुए शिवार्कमणिदीपिकाटीका(*२/३/४२*) में कहा गया है- *'पारमार्थिके सत्येव विशेषणत्वेन विशिष्टैकदेशतया परमेश्वरांशो जीव इति।'* जब ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या का क्षय हो जाता है, तब जीव ब्रह्म के समान हो जाता है। अविद्यारूपी पशुत्व की निवृत्ति के विना जीव शिवत्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। अतः *'शिव एको ध्येयः' (शैवभाष्यभूमिका में उद्धृत)* श्रुति के अनुसार सतत शिवोऽहं का भाव प्रवाहित होने से अविद्यादि बन्धन के शिथिल होने पर उपासक शिवरूप हो जाता है- *'तत्त्वमस्यादिवाक्यानां शरीरशरीरिभावार्थकत्वाभावे-*

ऽप्यारोपित भेदोपासनाविधि परत्वमस्त्विति शंकाश्च निवृत्तब्राह्मणादिदेहाभिमानमय-पशुभावस्य निरतिशयस्वरूपानन्द साक्षिस्वप्रकाश शिवरूप पराहंभावापत्तिर्मुक्तिः' (शैवभाष्यभूमिका, पृ. ९)।

शैवविशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में जीव और ब्रह्म में ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *'जीव एव ब्रह्म स च सर्वेषामसन्दिग्धाविपर्यस्तप्रत्यक्षानुभव सिद्धः।...जीव एव ब्रह्मेति तद्ज्ञानस्य कर्तृसंस्कारद्वारा क्रत्वर्थत्वात् 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।'(शैवभाष्यभूमिका, पृ. ८-९)* 'अंशो नानाव्यपदेशात्' अधिकरण में ब्रह्म को ही जीव रूप उपाधि में अभिव्यक्त हुआ माना गया है- *'ब्रह्मैवोपाधिवशात् जीवभावमापद्यते।' (वही.)* यहाँ *'तत्त्वमसि'* महावाक्य की व्याख्या करते हुए *'जीवब्रह्मणोर्व्याप्यिव्यापकभावेनानन्यत्वम्' (वही.)* के द्वारा जीव और ब्रह्म में व्याप्य-व्यापक भाव सम्बन्ध बताते हुए ब्रह्मात्मैक्य भाव का प्रतिपादन किया गया है।

1.1.2.11.स्वरूपाद्वैत-सम्प्रदाय

श्रीपञ्चाननतर्करत्न भट्टाचार्य जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेद-सम्बन्ध मानते हैं। उनके मत में भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक है। यहाँ ब्रह्म बिम्ब तथा जीव उसका प्रतिबिम्ब है। जीव और ब्रह्म के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव बताते हुए कहा गया है- *'बिम्बभूतस्य परमात्मन एकत्वमंशित्वं च प्रतिबिम्बत्वपर्यवसन्नमंशत्वं नानात्वं च जीवानां सिद्ध्यति' (वही, २/३/४४)।* इसी क्रम में शक्ति-भाष्य में *'तत्त्वमसि'* महावाक्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है- *'तत् सत्यं' तत्पदार्थश्चिदचिद्रूपः तस्य सत्यत्वमपि तदुभयरूपतया ... हे श्वेतकेतो! त्वं तदसि चिदचिदुभयात्मकं ब्रह्मासीति जीवस्यापि यत् चिदचिदुभयात्मकत्वं तत्र चित् प्रतिबिम्बम्, बिम्बादन्यत्, अचित् कार्यं।'(शक्तिभाष्य, १/१/६)* यहाँ 'तत्' पदार्थरूप ब्रह्म चिदचिद् से विशिष्ट है तथा 'त्वम्' पदार्थरूप जीवात्मा भी चिदचिदुभयात्मक है। चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और जीव में यद्यपि पूर्ण अभेद है, तथापि उपास्य-उपासक भाव से दोनों में भेद भी विद्यमान है। ब्रह्म उपास्य है और जीव उपासक है। जीव की संज्ञा अणु है, वह सर्वान्तर्यामी ब्रह्म के अधीन है। *'तत्त्वमसि'* महावाक्य की व्याख्या के सन्दर्भ में कहा गया है- *'तत्पदश्च न प्रक्रान्तपरामर्शकं*

किन्तु ब्रह्मवाचकं ... स एवात्मा तस्यैव त्वंपदार्थेन सहाभेदो दर्शितः।' (शक्तिभाष्य, १/४/१)।
इस प्रकार ब्रह्म और जीव आश्रयाश्रयिभाव से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं।
उपर्युक्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में शोधार्थी को यह प्राप्त हुआ है कि 'तत्' पद को कहीं सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य, कहीं चिदचिद् से विशिष्ट चैतन्य, कहीं अंशी के रूप में, कहीं शरीरी के रूप में, कहीं शेषी के रूप में, कहीं आश्रय के रूप में, कहीं अतत् के रूप में, कहीं शिव के रूप में और कहीं शक्ति के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस प्रकार 'तत्' सम्बन्धी अनेक मत व्याख्या के क्रम में प्राप्त होते हैं।
यह एक गम्भीर विषय है कि 'तत्' के भिन्न-भिन्न अर्थ, 'त्वम्' के भिन्न-भिन्न अर्थ और दृष्टिकोण भिन्न होने से 'तत्' और 'त्वम्' के सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के कारण किस प्रकार अनेक अर्थ-निर्धारित किये गये? अर्थ-निर्धारण के सिद्धान्त क्या हैं और शोध-प्रविधि क्या है? जिसके आधार पर एक ही पद के अनेक प्रकार से अर्थ किये गये और सभी अर्थ मान्यता प्राप्त हैं तथा समाज में उसके लाखों अनुयायी हैं। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण होने से अर्थभेद होने पर भी समाज भेद नहीं है, यह लोगों को एक-दूसरे से जोड़ता है।

1.1.3. अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में चार प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय

शोध-कार्य के क्रम में मेरा यह भी विषय होगा कि किस भाष्यकार ने किस पद्धति का उपयोग किया है। अर्थ-निर्धारण के क्रम में चार प्रमुख सिद्धान्त हैं-

- कुमारिल भट्ट का अभिहितान्वयवाद।
- प्रभाकर मिश्र का अन्विताभिधानवाद।
- जयन्त भट्ट का तात्पर्यवाद।
- गदाधर भट्टाचार्य का संसर्गमर्यादावाद।

इन चारों सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय अवलोकनीय है-

1.1.3.1. अभिहितान्वयवाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है, जिसमें अभिहित का अर्थ है- पदों के द्वारा कथित, अन्वय का अर्थ है- दो पदों के

बीच का सम्बन्ध और वाद का अर्थ है- सिद्धान्त। 'अभिहितान्वय' में षष्ठी-तत्पुरुष समास है, जिसका अर्थ होता है- *'अभिहितानां पदार्थानाम् अन्वय:'* अर्थात् जो अर्थ शब्दों के द्वारा कहे जा चुके हैं, उनका परस्पर अन्वय। इस प्रकार इस मत के अनुसार पहले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति के द्वारा बोधित होते हैं, तत्पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के बल से उनका परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।[21] इस प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है।

1.1.3.2. अन्विताभिधानवाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में प्रभाकर मिश्र का सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है, जिसका अर्थ है- *'अन्वितानां (पदार्थानाम्) अभिधानम्'* अर्थात् अन्वित पदार्थों का ही (अभिधान) अभिधा शक्ति से बोध होना। प्रत्येक पद केवल अपने पदार्थ का ही बोध नहीं कराता है, अपितु समन्वययुक्त पदार्थों का बोध कराते हैं। इस मत के अनुसार वाच्य ही वाक्यार्थ है- *'वाच्य एव वाच्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिन:।'*

1.1.3.3. तात्पर्यवाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में जयन्तभट्ट का सिद्धान्त 'तात्पर्यवाद' कहलाता है। यह सिद्धान्त दो स्तरों पर कार्य करता है-

- **अभिप्रेतार्थ निर्धारण**

जहाँ एक शब्द के अनेक अर्थ हों वहाँ एक अर्थ का निर्धारण तात्पर्य शक्ति से करते हैं। जैसे- 'सैन्धवम् आनय' यहाँ सैन्धव शब्द के 'अश्व' और 'नमक' दो अर्थ हैं। आचार्य जयन्तभट्ट के अनुसार इस वाक्य का निर्धारण प्रसंग के आधार पर तथा वक्ता के तात्पर्य के अनुसार निश्चित होगा।

---

21 *'अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या प्रतिपादितानामर्थानाम् अन्वय: इति वदन्ति ये ते अभिहितान्वयवादिन:।'*

- **पदार्थद्वय संसर्ग निर्धारण**

  आचार्य जयन्तभट्ट के अनुसार वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में पद से पदार्थ का ग्रहण अभिधा शक्ति के द्वारा होता है, तत्पश्चात् तात्पर्य-शक्ति के द्वारा दो पदार्थ परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ बोध कराते है। इस प्रकार दो पदार्थों का परस्पर अन्वय (संसर्ग) तात्पर्य-शक्ति के द्वारा होता है।

1.1.3.4. संसर्ग-मर्यादा वाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में गदाधर भट्टाचार्य का सिद्धान्त 'संसर्ग-मर्यादा वाद' कहलाता है। जिसमें संसर्ग का अर्थ है- दो पदों के बीच का सम्बन्ध, मर्यादा का अर्थ है- दो पदों के बीच की आकांक्षा और वाद का अर्थ है- सिद्धान्त। आचार्य गदाधर भट्ट के अनुसार- *'अपदार्थोऽपि संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।'* अर्थात् दो पदार्थों के बीच के सम्बन्ध को किसी अन्य पदार्थ के द्वारा नहीं कहा गया है, अतः *'शाब्दबोधे एकपदार्थस्य अन्यपदार्थे संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।'*

आचार्य शङ्कर के विषय में यह स्पष्ट है कि उन्होंने भाष्य लेखन के क्रम में तथा वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का अनुसरण करते हुए अभिहितान्वयवाद का उपयोग किया है।

1.1.4. वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ

वैदिक ज्ञान परम्परा में ऋषियों द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा प्राप्त स्वानुभव जन्य ज्ञान को जन-सामान्य तक पहुँचाने में अनेकविध-पद्धतियों का विकास किया गया, जो निम्नलिखित हैं-

1.1.4.1. अनुव्याख्यान-पद्धति

'अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि, व्याख्यानान्यर्थवादाः, अथवा वस्तुसङ्ग्रहवाक्यविवरणान्यनुव्याख्यानानि।'(बृ.उ. २/४/१०) अर्थात् मन्त्र सम्बन्धी विवरण, व्याख्यान, अर्थवाद अथवा वस्तुसंग्रह वाक्य के विवरण को 'अनुव्याख्यान' कहा गया है। मन्त्रविवरण का अर्थ मन्त्रव्याख्यान कहलाता है।

इसी प्रकार दृष्टान्त-पद्धति, आख्यान-पद्धति, इतिहास-पद्धति, पुराण-पद्धति, श्लोक-पद्धति, प्रश्नोत्तर-पद्धति, लक्षण-परिभाषा-पद्धति, उद्धरण-पद्धति, इत्यादि बहुविध-पद्धतियों का विकास कर ऋषियों द्वारा स्वानुभव जन्य ज्ञान को आगामी पीढ़ी के लिए प्रस्तुत किया गया।

भारतीय ज्ञान परम्परा में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकादि ग्रन्थों का प्रणयन किया गया, किन्तु मेधा-शक्ति के क्रमिक ह्रास के परिणामस्वरूप इन ग्रन्थों में निहित ज्ञान के अवबोध में क्लिष्टता के कारण आचार्यों ने ऋषि प्रदत्त ज्ञान के विश्लेषण के निमित्त भाष्य, वार्तिक, टीका के रूप में अनेकविध-पद्धतियों का विकास किया, जो निम्नलिखित है-

1.1.4.2. अधिकरण-पद्धति

व्याख्या-पद्धति के क्रम में देखा जाये तो आचार्य शङ्कर 'अधिकरण-पद्धति' का अनुसरण करते हैं। अधिकरण का लक्षण इस प्रकार बताया गया है-

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

- (ब्र.सू.शां.भा. भाषाटीका, पृ. ९)

अर्थात् किसी तथ्य विशेष को आधार बनाकर अर्थ का प्रतिपादन किया जाये, तो उस तथ्य विशेष को 'विषय' कहते हैं। यह ऐसा है या नहीं, इस प्रकार के विकल्प का नाम 'विशय'है। सिद्धान्त के विरूद्ध कोटि को 'पूर्वपक्ष'कहते हैं। पूर्वपक्ष की युक्ति का खण्डन करके सत्पक्ष में युक्ति दिखलाने वाला वाक्य 'उत्तरपक्ष' कहलाता है, इसी को सिद्धान्तपक्ष भी कहते हैं। प्रत्येक अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ, प्रत्येक पाद की पूर्वपाद के साथ तथा प्रत्येक अधिकरण की पूर्व अधिकरण के साथ सङ्गति स्थापित करते हुए इन पञ्च घटक-तत्त्वों का जहाँ अनुसरण होता है, उसे 'अधिकरण' कहते हैं।

आचार्य शङ्कर इस व्याख्या के क्रम में 'अधिकरण-पद्धति' का अनुसरण करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में अनेकानेक शंकाओं को पूर्ण निष्पक्षता के साथ उपस्थापित कर पूर्वपक्ष की युक्तियों का तर्कसंगत एवं प्रमाणिकता के साथ समग्र रूप से समाधान कर स्वसिद्धान्त का दृढ़ता से

प्रतिपादन करते हैं। इसी क्रम में एक सूत्र की दूसरे सूत्र से, एक अधिकरण की दूसरे अधिकरण से तथा एक अध्याय की दूसरे अध्याय से सम्बद्धता का प्रतिपादन करते हुए सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य का तात्पर्यार्थ 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों में बताया गया है।

1.1.4.3. सूत्र-पद्धति

'सूत्राणि वस्तुसङ्ग्रहवाक्यानि' (बृ.उ. २/४/१०) अर्थात् वस्तु सङ्ग्रह वाक्य को 'सूत्र' कहा गया है, जैसे- *'आत्मेत्येवोपासीत' (वही, १/४/७)* अर्थात् आत्मा की उपासना करनी चाहिए, इस तथ्य का सूत्ररूप में कथन किया गया है।

सूत्र को परिभाषित करते हुए वाचस्पति मिश्र का कथन है-

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वत: सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिण:॥

- (भामती टीका,१/१/१)

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदु:॥

- (वायु पुराण,५१/१४२)

अर्थात् अल्प अक्षरों में अधिक अर्थ बताने की क्षमता वाला, सन्देह रहित विषय की प्रस्तुति करने वाला, सारतम प्रक्रिया-सारणी से युक्त, आवश्यक सभी जगहों पर प्रवृत्त होने की क्षमता वाला, दोषों का अभाव तथा अनिन्दनीय– इन गुणों से युक्त वाक्य को 'सूत्र' कहते हैं। अल्प अक्षरों में बह्वर्थ बोधकत्व को ध्यान में रखते हुए 'तन्त्रवार्तिक' में कहा गया है-

सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

- (तन्त्रवार्तिक, २/३/१)

बाह्य आकार की दृष्टि से लघु होते हुए भी अर्थ व्यापकता के आधार पर बह्वर्थ का बोधक 'सूत्र' कहलाता है, जिसमें सिद्धान्त बीज रूप में समाहित रहते हैं।

1.1.4.4. भाष्य-पद्धति

सूत्र-शैली में निबद्ध संस्कृत-वाङ्मय के अर्थ-प्रकाशन हेतु भाष्य रचनाओं की महनीय आवश्यकता होती है। समसामयिक समस्याओं पर आधारित एवं सनातन रचनाएँ काल विपर्यय एवं संक्षिप्तता तथा प्रौढ़ता के कारण जब अध्येताओं को असंगत एवं दुरूह प्रतीत होने लगती हैं तथा समाज उनके अध्ययन-अध्यापन से विमुख होने लगता है, तब सूत्र-शैली में निबद्ध रचनाओं के अर्थ वैशद्य की आवश्यकता होती है। इन दुरूह प्रतीत होने वाली रचनाओं के स्पष्टीकरण हेतु आचार्यों द्वारा जो प्रयत्न किये जाते हैं, उन्हें 'भाष्य' कहा जाता है। भाष्य का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार कहा गया है-

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

- (वाचस्पत्यम्, षष्ठभाग, पृ. ४६६८)

अर्थात् जहाँ पदों के अनुसार सूत्रार्थ का बोध कराते हुए स्वचिन्तन का भी प्रतिपादन किया जाये, उसे 'भाष्य' कहते हैं। जैसे- बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' अत्यन्त लघु एवं संक्षिप्त रूप में है। उसको आधार बनाकर भाष्यकारों ने भिन्न-भिन्न दृष्टि से व्याख्या करते हुए अर्थ-निर्धारण किया है।

भाष्य रचना में भाष्यकार केवल सूत्र के ही प्रत्येक शब्द की व्याख्या नहीं करता, अपितु अपने प्रयोग किये हुए शब्दों को भी स्पष्ट करता है। भाष्य में प्रयुक्त स्वपदों को तर्क द्वारा सिद्ध करता है कि उसके द्वारा सूत्र में निहित शब्दों का वैसा अर्थ क्यों किया गया।

इस प्रकार भाष्य रचनाएँ प्रौढ़ कृतियों के वास्तविक अभिप्राय का विशदीकरण करके अध्येताओं के लिए सुगम एवं सरल रूप में अर्थ का प्रकाशन करती हैं, जिसके परिणामस्वरूप अत्यन्त दुरूह समझी जाने वाली एवं उपेक्षित उन प्रौढ़ कृतियों के अध्ययन-अध्यापन में समाज की पुन: रूचि उत्पन्न होती है।

1.1.4.5. वार्तिक-पद्धति

सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या अत्यन्त सरल विधि से करना 'वृत्ति' कहलाता है- *'सूत्रस्य अर्थविवरणं वृत्ति:'।* जब इन वृत्तियों की पुन: व्याख्या की जाती है और उन्हें साधक को समझने

योग्य बनाया जाता है, तो उसे 'वार्तिक' कहते हैं- *'वृत्तिं वेदयति इति वार्तिकम्'।* वार्तिक का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार कहा गया है-

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिण:॥

- (अष्टाध्यायी, व्या. ईश्वरचन्द्र, पृ.१६)

वार्तिक की एक अन्य परिभाषा इस प्रकार प्राप्त होती है-

यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।

वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनाऽदृष्टं च भाष्यकृत्॥ (वही.)

अर्थात् जो तथ्य उक्त हो किन्तु स्पष्ट रूप में भाषित न हो, जो तथ्य सूत्रकार से छूट गया हो तथा जो प्रमादजन्य या दो बार कहा गया हो, ऐसे उक्त, अनुक्त और दुरुक्त का जहाँ कथन हो उसे 'वार्तिक' कहते हैं। जैसे- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक के माध्यम से दार्शनिक-गुत्थियों का निराकरण कर जन-सामान्य के लिए बोधगम्य बनाया है।

1.1.4.6. टीका-पद्धति

टीका का लक्षण शब्दकल्पद्रुम में इस प्रकार दिया गया है- *'टीक्यते गम्यते प्रविश्यते ज्ञायते वानया।' (शब्दकल्पद्रुम, द्वितीयभाग, पृ.५७२)* वाचस्पत्यम् में टीका को परिभाषित करते हुए कहा गया है- *'टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया।' (वाचस्पत्यम्, चतुर्थभाग, पृ.३१८८)* इस प्रकार व्याख्या के क्रम में टीका-पद्धति का प्रयोग करते हुए भाष्य में निहित दार्शनिक समस्याओं का निदान करते हुए तथ्य का प्रतिपादन किया जाता था। जैसे- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की भामती टीका है, जिसमें उक्त (भाष्योक्त), अनुक्त (भाष्यानुक्त) और भाष्य के दुरुक्त पदार्थों पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला गया है।

1.1.4.7. प्रकरण-पद्धति

प्रकरण का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार दिया गया है-

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरेस्थितम् ।

आहु: प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित: ॥ (वेदान्तसार, पृ.१६४)

अर्थात् शास्त्र के किसी एक भाग या अंश-विशेष से सम्बद्ध, किन्तु अपेक्षानुसार उसके अन्य भाग से भी सम्बद्ध होने वाले ग्रन्थ-विशेष को 'प्रकरण' कहते हैं। जैसे- वेदान्त के कुछ विशिष्ट प्रतिपाद्यों को विषय बनाने वाला 'वेदान्तसार' प्रकरण ग्रन्थ है, जबकि उसके सम्पूर्ण प्रतिपाद्य को विषय बनाने वाला 'ब्रह्मसूत्र' है।

1.1.4.8. संग्रह-पद्धति

संग्रह का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार दिया गया है-

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो:।

निबन्धो य: समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधा:॥

- (ब्र.सू.शां.भा. भाषाटीका, पृ. ५०)

अर्थात् सूत्र और भाष्य में विस्तार से वर्णित अर्थ का जहाँ संक्षेप से कथन किया जाता है, उसे विद्वज्जन 'संग्रह' कहते हैं।

1.1.4.9. तर्क-पद्धति

तर्क-पद्धति यथार्थ ज्ञान के निश्चय में सहायक होती है। यह तत्त्वज्ञान नहीं है, अपितु तत्त्वज्ञान प्राप्ति का एक साधन है। यदि किसी सिद्धान्त का श्रुति में साक्षात् रूप से समर्थन नहीं है, तो श्रुत्यनुमोदित तर्क (युक्ति) का भी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति में उपयोग किया जाता है। बादरायण विरचित ब्रह्मसूत्र, द्वितीय-अध्याय के द्वितीय-पाद को अकाट्य तर्कों से युक्त होने के कारण ही 'तर्कपाद' नाम से अभिहित किया गया है।

आचार्य शङ्कर तर्क को सबल प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं। वे तत्त्वज्ञान के निश्चय में प्रयुक्त श्रवण, मनन और निदिध्यासन में 'मनन' (तर्क द्वारा अन्वेषण) का समर्थन कर शुष्क-तर्क (कुतर्क) का निराकरण एवं श्रुत्यनुमोदित तर्क-पद्धति का समर्थन करते हुए सिद्धान्त प्रतिपादन के क्रम में ऐसी तर्क प्रणाली को अपनाया जो सनातन थी। वे श्रुत्यनुमोदित तर्क को सिद्धान्त निर्णय में आवश्यक मानते हुए दार्शनिक गुत्थियों का निराकरण कर अर्थ-निर्धारण करते हैं।

1.1.4.10. दृष्टान्त-पद्धति

सिद्धान्त के स्पष्टीकरण तथा जन- सामान्य के लिए ग्राह्य बनाने हेतु दृष्टान्त-पद्धति का प्रयोग आवश्यक होता है। दृष्टान्त लोकव्यवहार के नितान्त सामान्य तत्त्व हैं, जिनमें शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। दृष्टान्तों के माध्यम से विद्वान् एवं अल्पज्ञ सभी सिद्धान्तों के अवबोध में सारल्य का अनुभव करते हैं।

आचार्य शङ्कर लौकिक एवं शास्त्रीय दृष्टान्तों के माध्यम से तथा दैनिक जीवन के अनेकानेक अनुभूत तथ्यों को दृष्टान्त रूप में उद्धृत करके स्वसिद्धान्त को साधारणातिसाधारण जन के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयास करते हैं। सामान्य से सामान्य जन भी दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में जिन तथ्यों की साक्षात् अनुभूति करता है, उन अनुभव के विषयभूत रज्जु-सर्प दृष्टान्त, शुक्तिका-रजत दृष्टान्त, तन्तु-पट दृष्टान्त, घटाकाश-महाकाश दृष्टान्त, मृत्तिका-घट इत्यादि बहुविध दृष्टान्तों के माध्यम से वेदान्त के गम्भीर तथा गूढ़-रहस्यों को जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

1.1.4.11. उपोद्घात-पद्धति

'प्रकृतसिद्ध्यनुकूल चिन्ता विषयत्वमुपोद्घात:' [22] अर्थात् जहाँ सन्दर्भ या प्रसंगात्मक भाष्य लिखकर साध्य-विषयवस्तु का अवतरण या आरम्भ किया जाता है, उसे 'उपोद्घात' कहते हैं। ग्रन्थारम्भ में ही वर्ण्य-विषयवस्तु का सारांश रूप में सम्बन्ध-भाष्य के द्वारा अथवा उपोद्घात के माध्यम से परिचयात्मक-भाष्य प्रस्तुत करना भाष्य-पद्धति की प्रमुख विशेषता है, जिससे विषयावगति में अत्यन्त सहायता मिलती है। ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ के भाष्य में 'उपोद्घात-पद्धति' का प्रयोग मिलता है।

शाङ्करभाष्यों में भी सर्वत्र परिचयात्मक 'उपोद्घात-पद्धति' का प्रयोग किया गया है। उनके समस्त भाष्य ग्रन्थों के आरम्भ में ग्रन्थ की विषयवस्तु का व्यापक एवं पर्याप्त परिचय उपलब्ध होता है। उन्होंने ग्रन्थारम्भ में ही नहीं अपितु अध्याय, सूत्र एवं श्लोक से पूर्व भी सन्दर्भ रूप में वर्ण्य वस्तु का संकेत प्राय: सर्वत्र ही किया है। भाष्य ग्रन्थों के प्रारम्भ में इन्होंने जो

22 साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद की विमलाख्या हिन्दी व्याख्या में उद्धृत

परिचयात्मक भाष्य लिखें हैं, वे उपोद्घात अथवा सम्बन्ध भाष्य के नाम से अभिहित किये जाते है।

1.1.4.12. निर्वचन-पद्धति

शब्द को उसके अर्थ तक पहुँचाने में ऋषियों ने 'निर्वचन-पद्धति' का प्रारम्भ किया, जिसमें शब्द में निहित अर्थ को विग्रह द्वारा प्रकट किया जाता है। जैसे- **अग्नि-** *'देवेभिरग्ने अग्निभिरिधानः।' (ऋ. ६/११/६)*, **अन्न-** *'अन्नमद्धि प्रसूतः।' (अथर्व. ६/६३/१), 'अन्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद।' (वही, १५/१४/८), 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि।' (तै.उ.ब्रह्मानन्दवल्ली, २/१)*, **पश्यक-** *'सर्वं पश्यति इति पश्यकः।' (तै.आ.१/८/८)*, **ग्रह-** *'यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रहः।' (शत.ब्रा.१०/१/१/५)* इत्यादि अनेक स्थलों पर संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में निर्वचन के माध्यम से अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है।

निर्वचन का शाब्दिक अर्थ है- *'निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्'* अर्थात् किसी शब्द में निहित अर्थ को विग्रह के द्वारा प्रकट करना। अर्थज्ञान के विषय में, जहाँ स्वतन्त्र रूप से कथन किया गया है, वह 'निरुक्त' कहलाता है। इसमें मुख्यत: अर्थों का निर्वचन किया जाता है। वेदमन्त्रों में उपलब्ध वैदिक पदों (शब्दों) का अनेक विधियों से निर्वचन कर उनके अनेक अर्थ प्राप्त किये जाते हैं। निरुक्तकार यास्क ने वेदों में से क्लिष्ट शब्दों का चयन कर उन्हें पहले 'निघण्टु' में संकलित किया, तदनन्तर उन्हीं शब्दों का 'निरुक्त' में निर्वचन किया।

'निर्वचन-पद्धति' का प्रयोग करते हुए आचार्य शङ्कर व्याकरण के नियमों के आधार पर निर्वचन के माध्यम से क्लिष्ट-शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा प्रकृति-प्रत्यय तथा उसकी संरचना का विश्लेषण कर अर्थ का निर्धारण करते हैं। इसी क्रम में पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना तथा आक्षेप एवं समाधान- व्याख्या के इन पाँच घटक तत्त्वों का उपयोग करते हुए दार्शनिक-गुत्थियों का निराकरण कर गूढार्थ का प्रतिपादन करते हैं।

इस प्रकार व्याख्या के इन सिद्धान्तों से स्पष्ट होता है कि एक विषय को आधार बनाकर सूत्रकार, भाष्यकार, वार्तिककार तथा टीकाकार द्वारा पर्याप्त विश्लेषण कर क्लिष्ट शब्दों को निर्वचन,

परिभाषा तथा व्युत्पत्ति के माध्यम से विश्लेषण कर सरल रूप में अभिव्यक्त किया गया है। भारतीय ज्ञान परम्परा में व्याख्या के इन सिद्धान्तों को आधार बनाकर परवर्ती आचार्यों ने काव्य, महाकाव्य आदि का प्रणयन किया। संस्कृतेतर साहित्य में भी इन पद्धतियों का उपयोग करते हुए साहित्य रचना का प्रणयन किया गया।

भाष्यकार का मुख्य उद्देश्य सूत्र में निहित संक्षिप्त एवं गम्भीर अर्थ को भाष्य के माध्यम से स्पष्ट कर जन- सामान्य के लिए बोधगम्य बनाना होता है। इस क्रम में इस तथ्य का भी अवलोकन किया जायेगा कि आचार्य शङ्कर के परवर्ती भाष्यकार व्याख्या के क्रम में उपोद्धात-पद्धति, स्वसिद्धान्त को जन-सामान्य तक पहुँचाने में दृष्टान्त-पद्धति, अर्थ के विशदीकरण हेतु निर्वचन-पद्धति का आश्रय लेते हैं या नहीं। परवर्ती भाष्यकारों की व्याख्या-पद्धति क्या है? अर्थ-निर्धारण के सिद्धान्त क्या हैं तथा भाष्य में किस प्रकार की शोध-प्रविधियाँ प्रयुक्त हुई हैं?

इस प्रकार महावाक्य सम्बन्धी उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकारों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से तथा भिन्न-भिन्न व्याख्या-पद्धति के आधार पर विश्लेषण कर एक ही महावाक्य द्वारा अद्वैत, भेदाभेद, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत, शैवविशिष्टाद्वैत, वीरशैवविशिष्टा-द्वैत, शुद्धाद्वैत, अविभागाद्वैत, अचिन्त्यभेदाभेद और स्वरूपाद्वैत का प्रतिपादन किया गया है, जिसमें दृष्टिकोण भिन्न होने से अर्थ-वैभिन्य परिलक्षित होता है।

प्रस्तुत शोध-कार्य के माध्यम से ब्रह्मसूत्र भाष्यकारों की चिन्तन प्रणाली, उनकी व्याख्या-पद्धति तथा भाषागत वैशिष्ट्य को समझकर महावाक्यों के विश्लेषण द्वारा उनका तत्-तत् सम्प्रदायों के आधार पर अर्थ-निर्वचन करते हुए वेदान्त दर्शन के गूढ़तम रहस्यों को प्रस्तुत किया जायेगा।

1.1.5. विषय चयन का औचित्य (Justification of topic)

भारतीय समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए कुछ लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। वेदान्त दर्शन में मानव का लक्ष्य एवं उसका वास्तविक स्वरूप विषयक चिन्तन प्रधान रहा है। ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध एकादश वेदान्त भाष्यों के आधार पर भाष्यकारों की भिन्न-भिन्न व्याख्या-पद्धति द्वारा तत्त्वमसि महावाक्य का विश्लेषण कर वेदान्त-दर्शन के पारमार्थिक तत्त्व सम्बन्धी गूढ़-रहस्यों को समझकर सरल से सरल रूप में जन- सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा। विभिन्न व्याख्या-पद्धतियों के आधार पर महावाक्य का विश्लेषण एवं दार्शनिक-गुत्थियों का निराकरण होने से वेदान्त-दर्शन को

सम्यक्तया समझने एवं जनसामान्य को उसके परम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक होने से इसकी उपादेयता स्वत: सिद्ध हो जाती है। अत: शोधार्थी इस विषय की ओर आकृष्ट हुआ है ।

1.1.6. शोध-कार्य का उद्देश्य (Achievements of Research work)

प्रस्तुत शोध-कार्य में उपर्युक्त भाष्य-ग्रन्थों के आधार पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विश्लेषण एवं अर्थ-निर्धारण के अनन्तर निम्नलिखित उद्देश्यों की प्राप्ति सम्भव हो सकेगी-

- वैदिक व्याख्या-पद्धति का पाठकों को सामान्य ज्ञान हो सकेगा।
- भाष्य, वार्तिक, टीका आदि अन्य व्याख्या-पद्धतियों का विशेष रूप से ज्ञान हो सकेगा।
- उपर्युक्त पद्धतियों के कारण व्याख्या-स्वातन्त्र्य का बोध हो सकेगा।
- व्याख्या-पद्धति के भेद से शास्त्रार्थ भेद का ज्ञान हो सकेगा।
- 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-गाम्भीर्य को समझा जा सकेगा।
- विश्लेषण द्वारा दार्शनिक-गुत्थियों का निराकरण कर वेदान्त के अति गम्भीर तथा बीज रूप में निहित ज्ञान को जन- सामान्य के लिए बोधगम्य बनाया जा सकेगा।
- व्याख्या-पद्धतियों का ज्ञान प्राप्त कर संस्कृतेतर ज्ञान-परम्परा में उनका प्रयोग सम्भव हो सकेगा।
- व्याख्या-पद्धति विशेष का सम्यक्-बोध होने के अनन्तर पाठक अपने जीवन में उसका लेखन के क्रम में प्रयोग कर सकेगा।
- व्याख्या-पद्धति के क्रम में व्याकरण के नियम विशेष एवं उसकी उपयोगिता का सम्यक् प्रकार से ज्ञान हो सकेगा।
- उपनिषद् महावाक्यों पर नवीन भाष्य, वार्तिक आदि की रचना हो सकेगी।
- भारतीय व्याख्या-पद्धति का भारतीयेतर व्याख्या-पद्धति से भेद का बोध हो सकेगा।
- उपनिषद् महावाक्यों के अर्थ-निर्धारण के अनन्तर उसका स्वस्वभावानुरूप उपयोग किया जा सकेगा

1.1.7. प्रस्तुत क्षेत्र में विद्यमान पूर्ववर्ती शोधकार्य (Existing research in this area)

1. ***'प्रमुख उपनिषदों की विवेचन पद्धतियाँ'*** विषय को आधार बनाकर राजीव अग्रवाल द्वारा सन् १९९८ ई. में संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध-कार्य किया गया। प्रस्तुत शोध-कार्य को उपनिषद् की विवेचन-पद्धति के आधार पर 20 अध्यायों में विभाजित किया गया है। विवेचन-पद्धतियों के अन्तर्गत उपनिषद् के विविध विवेचन-पद्धतियों का नामोल्लेख पूर्वक उसका वर्गीकरण तथा परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। इसके उपरान्त प्रत्येक पद्धति से सम्बन्धित साक्ष्य उपलब्ध कराकर परिभाषा के लक्षणों को भी उसमें घटित किया गया है। प्रस्तुत शोध-कार्य में उपनिषद् को आधार बनाकर ऋषि प्रणीत व्याख्या-पद्धतियों का विवेचन किया गया है।

2. ***'अद्वैत-विशिष्टाद्वैत-द्वैतमतानुरोधेन महावाक्यार्थविचार:'*** विषय को आधार बनाकर एस. मूर्ति, नरसिंह द्वारा सन् १९९० ई. में राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति में शोध-कार्य किया गया। प्रस्तुत शोध-कार्य में आचार्य शङ्कर विरचित शारीरकभाष्य, आचार्य रामानुज विरचित श्रीभाष्य तथा आचार्य मध्व विरचित पूर्णप्रज्ञभाष्य को आधार बनाकर महावाक्य सम्बन्धी विवेचन करते हुए आत्मा व ब्रह्म के एकत्व का विवेचन कर रहस्यात्मक गूढ़ार्थ का प्रतिपादन किया गया है।

3. ***'महावाक्य स्वरूप विचार : अद्वैत वेदान्त के सन्दर्भ में '*** विषय को आधार बनाकर आशा रानी द्वारा सन् १९८० ई. में संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय में शोध-कार्य किया गया। महावाक्य विचार के सन्दर्भ में प्रस्तुत शोध-अध्ययन को चार अध्यायों में व्यवस्थापित किया गया है। प्रथम-अध्याय के अन्तर्गत महावाक्य शब्द का सामान्य तथा विशेष परिचय देते हुए अद्वैत वेदान्त के आचार्यों द्वारा उसका तात्पर्यार्थ-निर्धारण तथा अद्वैत-वेदान्त और महावाक्यों का तादात्म्य स्पष्ट किया गया है। द्वितीय-अध्याय के अन्तर्गत महावाक्यों के स्रोत ग्रन्थ तथा अद्वैत-वेदान्त के आचार्य परम्परा में उसका स्थान तथा संख्या के विषय में विचार किया गया है। तृतीय-अध्याय के अन्तर्गत महावाक्यों से ज्ञान बोध अथवा ब्रह्मात्मैक्यबोध की प्रक्रिया सम्बन्धी विचार किया गया है। चतुर्थ-अध्याय में उपसंहार के रूप में आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व सम्बन्धी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है।

1.1.8. विद्यमान शोधकार्यों से प्रस्तावित शोधकार्य का वैशिष्ट्य (In what way is this research going to be different from existing work in this area)

उपर्युक्त शोध-कार्यों से महावाक्य सम्बन्धी दार्शनिक-पक्ष की आवश्यक जानकारी तो प्राप्त होती है, लेकिन ये शोध-कार्य ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध भाष्यों के केवल एक या दो भाष्य को आधार बनाकर किये गये हैं, जिससे भाष्यकारों की अलग-अलग चिन्तन दृष्टि से महावाक्य सम्बन्धी विस्तृत जानकारी प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य शंकर से लेकर आचार्य पञ्चाननतर्करत्न भट्टाचार्य तक मुख्यतया एकादश भाष्य उपलब्ध होते हैं। महावाक्य विश्लेषण के क्रम में भाष्यकारों ने एक ही महावाक्य को आधार बनाकर अलग-अलग दृष्टि से विश्लेषण करते हुए भाष्य प्रस्तुत किये हैं, जिसमें प्रत्येक भाष्यकार का भिन्न मत होने के कारण तथा भिन्न-भिन्न व्याख्या-पद्धति के कारण अर्थ-वैभिन्य परिलक्षित होता है। अत: प्रस्तुत शोध-कार्य में ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध एकादश भाष्यों को आधार बनाकर महावाक्य विश्लेषण के क्रम में भाष्यकारों का दृष्टिकोण तथा उनकी व्याख्या-पद्धति का विवेचन करते हुए पारमार्थिक-तत्त्व सम्बन्धी गूढ़-रहस्यों को समझकर सरल से सरल रूप में जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया जायेगा।

1.1.9. शोध-प्रविधि (Research Method)

प्रस्तुत शोध-कार्य में तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक पद्धति का प्रयोग किया जायेगा। एतदर्थ प्रथमत: इसका विभाजन अध्यायों में किया जायेगा। पुन: अध्यायों का विभाजन विन्दुओं एवं उपविन्दुओं में किया जायेगा। प्रत्येक विन्दुओं तथा उपविन्दुओं का विवेचन भी अपेक्षित रहेगा। इसी क्रम में ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध एकादश-भाष्यों का विधिवत् अध्ययन करते हुए महावाक्य से सम्बद्ध प्रसंगों का आहरण किया जायेगा। उनका विशेष अध्ययन करने के उपरान्त विषय के आधार पर अध्याय-विभाजन के द्वारा, विभिन्न अध्यायों में तार्किक विवेचन के माध्यम से भाष्यकारों की व्याख्या-पद्धति का विश्लेषण कर दार्शनिक-पक्ष को प्रस्तुत किया जायेगा, इस दृष्टि से यह पद्धति विश्लेषणात्मक होगी। महावाक्य विश्लेषण के परिप्रेक्ष्य में प्रत्येक भाष्यकार के मत को प्रस्तुत करते हुए भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के कारण अर्थ-वैभिन्य के प्रतिपादन में तुलनात्मक-पद्धति का प्रयोग किया जायेगा।

1.1.10. प्रस्तावित अध्याय विभाजन (Tentative chapterization)

1. विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना ।

2. वैदिक व्याख्या-पद्धति परम्परा ।

3. ब्रह्मसूत्रभाष्यों की व्याख्या-पद्धतियाँ ।

4. उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण ।

5. अन्य ब्रह्मसूत्रभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण ।

6. वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ एवं भारतीय समाज पर उसका प्रभाव ।

7. उपसंहार ।

द्वितीय-अध्याय

वैदिक व्याख्या-पद्धति परम्परा

द्वितीय-अध्याय

वैदिक व्याख्या-पद्धति परम्परा

भारतीय ज्ञान परम्परा में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकादि ग्रन्थों का प्रणयन किया गया, जिसमें वैदिक ऋषियों द्वारा स्वानुभव को जन- सामान्य तक पहुँचाने में अनेकविध-पद्धतियों का विकास किया गया, किन्तु मेधा-शक्ति के क्रमिक ह्रास के परिणामस्वरूप इन ग्रन्थों में निहित ज्ञान के अवबोध में क्लिष्टता के कारण आचार्य-परम्परा द्वारा ऋषि प्रदत्त ज्ञान के विश्लेषण के निमित्त वैदिक व्याख्या-पद्धतियों का अनुकरण करते हुए भाष्य, वार्तिक, टीका, प्रकरण आदि के रूप में अनेकविध व्याख्या-पद्धतियों का विकास करते हुए वैदिक-वाङ्मय में निहित ज्ञानराशि का उत्तरोत्तर विस्तार किया गया। कतिपय व्याख्या-पद्धतियाँ अवलोकनीय हैं-

2.1. सूत्र-पद्धति

'सूत्राणि वस्तुसङ्ग्रहवाक्यानि' (बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/१०) इस मन्त्र के अनुसार वस्तु सङ्ग्रह वाक्य को 'सूत्र' कहा गया है। 'सूत्र' को परिभाषित करते हुए वायु पुराण में कहा गया है-

अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥

- (वायु पुराण, ५१/१४२)

इसी सन्दर्भ में वाचस्पति मिश्र का कथन है-

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षरपदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥ (भामती टीका, १/१/१)

अर्थात् अल्प अक्षरों में अधिक अर्थ बताने की क्षमता वाला, सन्देह रहित विषय की प्रस्तुति करने वाला, सारतम प्रक्रिया-सारणी से युक्त, आवश्यक सभी जगहों पर प्रवृत्त होने की क्षमता वाला, दोषों का अभाव तथा अनिन्दनीय– इन गुणों से युक्त वाक्य को 'सूत्र' कहते हैं। अल्प अक्षरों में बह्वर्थ बोधकत्व को ध्यान में रखते हुए 'तन्त्रवार्तिक' में कहा गया है-

सूत्रेष्वेव हि तत् सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सूत्रे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥

- (तन्त्रवार्तिक, २/३/१)

बाह्य आकार की दृष्टि से लघु होते हुए भी अर्थ व्यापकता के आधार पर बह्वर्थ का बोधक 'सूत्र' कहलाता है, जिसमें सिद्धान्त बीज रूप में समाहित रहते हैं।

जैसे- *'आत्मेत्येवोपासीत'(बृ.उ.१/४/७)* अर्थात् आत्मा की उपासना करनी चाहिए। *'प्रज्ञानं ब्रह्म'(ऐ.आ.५/३), 'अहं ब्रह्मास्मि'(बृ.उ.१/४/१०), 'तत्त्वमसि'(छा.उ.६/८/७), 'अयमात्मा ब्रह्म'(मा.उ.मंत्र२ तथा बृ.उ.१/५/१९), 'स यश्चायम्'(तै.उ.२/८/१), 'पुरुषे यश्चासौ' (वही, ३/२/८), 'आदित्ये स एकः'(वही,२/८/१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'(वही,२/१/१), 'स एवमेव पुरुषो ब्रह्म'(ऐ.उ.३/१३), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'(छा.उ.३/१९/१), 'एकमेवाद्वितीयम्'(वही, ६/२/१)* इत्यादि।

इन महावाक्यों का अत्यन्त संक्षिप्त शब्दावली में सूत्ररूप में कथन किया गया है। इन सूत्रों में ही वेदों का तात्पर्यार्थ, ज्ञान की पराकाष्ठा, अर्थ-गाम्भीर्य एवं सृष्टि के अनन्त रहस्यमय भाव बीज रूप में समाहित हैं। इसी सूत्र-परम्परा का अनुकरण करते हुए परवर्ती आचार्यों ने इस पद्धति का उत्तरोत्तर विकास किया। इसी क्रम में अनेकानेक सूत्रग्रन्थ लिखे गये। जैसे- व्याकरण परम्परा में महर्षि पाणिनि कृत 'अष्टाध्यायी' व्याकरण-दर्शन का आधार ग्रन्थ है। न्याय-परम्परा में महर्षि गौतम प्रणीत 'न्यायसूत्र', वैशेषिक-परम्परा में महर्षि कणाद प्रणीत 'वैशेषिकसूत्र', सांख्य-परम्परा में महर्षि कपिल प्रणीत 'सांख्यसूत्र', योग-परम्परा में महर्षि पतञ्जलि कृत

'योगसूत्र', मीमांसा-परम्परा में महर्षि जैमिनि प्रणीत पूर्वमीमांसा से सम्बन्धित सूत्रग्रन्थ 'जैमिनिसूत्र' तथा उत्तरमीमांसा से सम्बन्धित सूत्रग्रन्थ 'ब्रह्मसूत्र' है। इस प्रकार अनेकानेक सूत्रग्रन्थों का प्रणयन किया गया।

2.2. अनुव्याख्यान-पद्धति

'अनुव्याख्यानानि मन्त्रविवरणानि, व्याख्यानान्यर्थवादा:, अथवा वस्तुसङ्ग्रहवाक्यविवरणा-न्यनुव्याख्यानानि।' (बृ.उ. २/४/१०) अर्थात् मन्त्र सम्बन्धी विवरण, व्याख्यान, अर्थवाद अथवा वस्तुसंग्रह वाक्य के विवरण को 'अनुव्याख्यान' कहा गया है। मन्त्रविवरण का अर्थ मन्त्रव्याख्यान कहलाता है। वैदिक-पद्धति का अनुकरण करते हुए अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण हेतु आचार्य शङ्कर अपनी भाष्य-पद्धति में आख्यानों का प्रयोग करते हैं। जैसे- 'कृष्णद्वैपायन नियोगाख्यान'[23], 'भीष्म द्वारा सूर्य के उत्तरायण में स्थित होने का आख्यान'[24], 'राहु द्वारा चन्द्रग्रसन का आख्यान'[25] इत्यादि बहुविध आख्यानों के माध्यम से आचार्य शङ्कर ने अद्वैत वेदान्त के क्लिष्ट एवं दार्शनिक-गुत्थियों से युक्त सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण करके उसको सरल-सुबोध एवं स्पष्ट रूप से जन-सामान्य के लिए ग्राह्य बनाने का प्रयास किया है।

2.3. निर्वचन-पद्धति

शब्द को उसके अर्थ तक पहुँचाने में ऋषियों ने 'निर्वचन-पद्धति' का प्रारम्भ किया। निर्वचन का शाब्दिक अर्थ है- *'निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्।'* अर्थात् किसी शब्द में निहित अर्थ को विग्रह के द्वारा प्रकट करना।

अर्थज्ञान के विषय में, जहाँ स्वतन्त्र रूप से कथन किया गया है, वह 'निरुक्त' कहलाता है। इसमें मुख्यत: अर्थों का निर्वचन किया जाता है। वेदमन्त्रों में उपलब्ध वैदिक पदों (शब्दों) का अनेक विधियों से निर्वचन कर उनके अनेक अर्थ प्राप्त किये जाते हैं। निरुक्तकार यास्क ने वेदों में से क्लिष्ट शब्दों का चयन कर उन्हें पहले 'निघण्टु' में संकलित किया, तदनन्तर उन्हीं शब्दों का

---

23 ब्र.सू.शां.भा. ३/३/३२

24 वही, ४/४/२०

25 बृ.उ.शां.भा. ४/३/७

'निरुक्त' में निर्वचन किया। अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में 'निर्वचन-पद्धति' के दो मार्ग बताये गये हैं-

- शब्द निर्वचन का व्युत्पत्ति मार्ग।
- शब्द निर्वचन का निरुक्ति मार्ग।

2.3.1. शब्द निर्वचन का व्युत्पत्ति मार्ग

शब्द का विग्रह प्रकृति और प्रत्यय के रूप में करके इस योग के कारण होने वाले विकारों तथा उन नियमों की व्याख्या करने से भी अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। यद्यपि इस मार्ग के द्वारा भी अर्थ का प्रकाशन ही होता है, किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य शब्द के बहिरङ्ग की व्याख्या करना है, जैसे- राम = रम् + घञ् (अ) प्रत्यय लगा है जिसके कारण अधिकरण का अर्थ प्रकट होता है। प्रकृति-प्रत्यय के योग से उपधा की वृद्धि होकर रम् के स्थान पर राम् हो गया तथा 'अ' लगने पर 'राम' शब्द निष्पन्न हुआ। इसी मार्ग को 'व्युत्पत्ति मार्ग' कहते हैं।

2.3.2. शब्द निर्वचन का निरुक्ति मार्ग

शब्द निर्वचन का दूसरा मार्ग अर्थोन्मुख मार्ग कहलाता है। इसमें केवल अर्थ को प्रकाशित करने का प्रयास किया जाता है। इस पद्धति में भी शब्द के आधार को खोजा जाता है। इस क्रम में पूरा ध्यान प्रकृति पर रहता है। प्रत्यय पर यदा-कदा ही ध्यान जाता है। जैसे- राम शब्द- *'रमन्ते योगिनो यस्मिन् इति रामः'।* यहाँ राम में निहित 'रम्' धातु का निर्देश किया गया है, किन्तु प्रत्यय को 'यस्मिन्' यहाँ अधिकरण अर्थ को निर्दिष्ट किया गया है। प्रत्यय कौन सा है? उसके लगने से कैसा विकार उत्पन्न हुआ? यह बात कहीं नहीं कहीं गयी है। इस पद्धति को 'निरुक्त' या 'निर्वचन' पद्धति कहते हैं।

सुविधा की दृष्टि से प्रथम-पद्धति को शब्द-निर्वचन और द्वितीय-पद्धति को अर्थ-निर्वचन कहा जाता है। प्राचीन भारत में इन दोनों पद्धतियों को क्रमशः 'व्युत्पत्ति' और 'निरुक्ति' कहा जाता था।

2.3.3. निर्वचन द्वारा कतिपय वैदिक शब्दों का अर्थ-निर्धारण

निर्वचन के माध्यम से कुछ वैदिक शब्दों का अर्थ-निर्धारण अवलोकनीय है-

- **अन्न-** 'अन्नमद्भि प्रसूत:।'(अथर्व.६/६३/१), 'अन्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद।'(वही, १५/१४/८), 'अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यते'(तै.उ.ब्रह्मानन्दवल्ली,२/१), 'अन्नादिभिरन्नमत्ति य एवं वेद'(अथर्व.१५/१४/६), 'स्वधा पीपाय सुभ्वन्नमत्ति' (ऋ. २/३५/७), 'अन्नं कस्माद्? आनतं भूतेभ्य:'(निरु.३/९)।

- **पश्यक-** 'सर्वं पश्यति इति पश्यक:'(तै.आ.१/८/८)।

- **ग्रह-** 'यद् गृह्णाति तस्माद् ग्रह:' (शत.ब्रा.१०/१/१/५), 'वागेव ग्रह:। वाचा हीदँ सर्वं गृहीतम्'(शत.ब्रा.४/६/५/२), 'अन्नमेव ग्रह:। अन्नेन हीदँ सर्वं गृहीतम्'(वही, ४/६/५/४)।

- **अक्षर-** 'तत: क्षरत्यक्षरं तद्विश्वमुपजीवति'(ऋ.१/१६४/४१), 'सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्या: समुद्रा अधि वि क्षरन्ति'(अथर्व.१३/१/४२), 'तद्यक्षरत्तस्मादक्षरम्'(शत.ब्रा.६/१/३/६), 'यदक्षरदेव तस्मादक्षरम्' (जै.उ.१/७/२/९), 'स: (प्राण:) यदेभ्य: सर्वेभ्यो भूतेभ्य: क्षरति, न चैनमतिक्षरन्ति तस्मादक्षरम्' (ऐ.आ.२/२/२), 'अक्षरं न क्षरति, न क्षीयते वा'(निरु.१३/१२), 'अक्षरम् (वाक्)। अश्नुते श्रोतुं स्वाभिधेयं व्याप्नोति वा'(निघ.१/११/४६), 'अश्नाति वा हवि:'(वही), 'अक्षरम् (उदकम्) व्याप्नोति जगत्'(वही,१/१२/३२)।

- **अग्नि-** 'देवेभिरग्ने अग्निभिरिधान:, विश्वेभिरग्ने अग्निभिरिधान:।'(ऋ. ६/११/६, ६/१२/६), 'अग्नये नय सुपथा'(यजु.५/३६), 'अग्नि: कस्माद्? अग्रणीर्भवति। अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममान:'(निरु.७/४)।

- **इन्द्र-** 'इन्दुरिन्द्र इति ब्रुवन्'(ऋ.९/६३/९), 'इन्दुमिन्द्राय मत्सरम्'(वही, ९/६३/१७), 'इन्द्र इरां दृणाति, इरां ददाति, इरां दधाति, इरां दारयति, इरां धारयतीति वा'(निरु.१०/८)।

➢ **कर्मन्-** 'मन्युर्महि कर्मा करिष्यत:'(ऋ.२/२४/११), 'इन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरुणि' (वही,३/३०/१३), 'अत्रे: कर्माणि कृण्वत:'(वही,८/३७/७), 'प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे'(अथर्व.४/७/७) इत्यादि अनेक स्थलों पर संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों में निर्वचन के माध्यम से अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है।

इसी क्रम में आचार्य शङ्कर वैदिक-पद्धति का अनुशरण करते हुए अपने भाष्य में निर्वचन-पद्धति का प्रयोग करते हैं। निर्वचन से शब्दों की व्युत्पत्ति, प्रकृति-प्रत्यय का ज्ञान तथा उसकी संरचना का पूर्ण बोध हो जाता है। इससे तत्-तत् शब्दों के अर्थ तो स्पष्ट होते ही हैं, साथ ही उनकी व्याकरणिक शुद्धि अथवा अशुद्धि का भी ज्ञान हो जाता है। इसी संदर्भ में व्याख्या के नियम द्रष्टव्य हैं-

पदच्छेद: पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।

आक्षेपश्च समाधानं व्याख्या षड्विधा स्मृता॥[26]

अर्थात् पदच्छेद, पदार्थोक्ति, विग्रह, वाक्य-योजना तथा आक्षेप एवं समाधान– व्याख्या के इन षड्विध घटक तत्त्वों का उपयोग करते हुए आचार्य शङ्कर भाष्य-रचना में दार्शनिक गुत्थियों का निराकरण कर गूढार्थ का प्रतिपादन करते हैं। भाष्यों की निर्वचनपरता के कारण पाठकवर्ग व्याकरण के ज्ञानार्जन में भी सफल होते हैं।

2.3.4. शब्द निर्वचन के व्युत्पत्ति-मार्ग का उदाहरण

शब्दव्युत्पत्तिपरक कतिपय उदाहरण अवलोकनीय हैं-

➢ **पुरुष-** 'पूर्णत्वात् पुरिशयनाच्च पुरुष:।'[27] 'पुरं शरीरं तस्मिन् शेते पुरुष:।'[28]

➢ **अक्षरम्-** 'अक्षरं च अक्षरणात्, अक्षतत्वात्, अक्षयत्वात् वेद।'[29]

---

26 ब्र.सू.शां.भा. ब्रह्मतत्त्वविमर्शिनी हिन्दीव्याख्योपेतम्, पृ.९ की टिप्पणी

27 मु.उ.शां.भा. १/२/१३

28 विष्णु सह.शां.भा.

29 मु.उ.शां.भा. १/२/१३

- **निष्कलम्-** 'निर्गता कला यस्मात् तत् निष्कलम् निरवयवम् इत्यर्थः।'[30]
- **गुहा-** 'गूहते: संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृ पदार्था इति गुहा बुद्धिः।'[31]
- **लोकाः-** 'कर्मफलानि लोक्यन्ते दृश्यन्ते भुज्यन्ते इति लोकाः।'[32]
- **कविः-** 'क्रान्तदर्शी सर्वदृक्।'[33]
- **सूर्य-** 'रश्मीनां प्राणानां रसानाञ्च स्वीकरणात् सूर्यः।'[34]
- **आत्मा-** 'आप्नोतेरत्तेरततेर्वा।'[35]
- **रामाः-** 'रमन्ति पुरुषानिति रामाः।'[36]
- **भुवनम्-** 'भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनमयं लोकः।'[37]
- **अग्निम्-** 'अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम्।'[38]
- **वायु-** 'वानाद् गमनाद् गन्धनाद् वा वायुः।'[39]
- **वैश्वानर-** 'विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः। यद् वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः। विश्वानर एव वैश्वानरः।'[40]
- **विवाद-** 'विरुद्धं वदनं विवादः।'[41]

---

30 वही, २/२/९

31 तै.उ. शां.भा. २/१/१

32 ई.उ.शां.भा. ३

33 वही, ८

34 वही, १६

35 ऐ.उ.शां.भा. १/१/१

36 कठ उ. शां.भा. १/१/२५

37 वही, २/२/९

38 के.उ.शां.भा. ३/३

39 वही, ३/७

40 मा.उ.शां.भा. १/३

41 गौ.का.शां.भा. ५/२

➢ **भीष्म-** 'सर्वेषां बहिरन्त: शत्रूणां भयहेतुर्भीष्म:।'[42]

➢ **विश्वकर्मा-** 'विश्वं कर्म क्रिया यस्य स: विश्वकर्मा।'[43]

➢ **ब्रह्मसूत्रपद-** 'ब्रह्मण: सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि तै: पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्म इति तानि पदानि उच्यन्ते।'[44]

➢ **बृहदारण्यकम्-** 'अरण्येऽनूच्यमानत्वादारण्यकम्, बृहत्त्वात्परिणामतो बृहदारण्यकम्।'[45]

इस प्रकार आचार्य शङ्कर ने भाष्य में निर्वचन-पद्धति के माध्यम से क्लिष्ट शब्दों का विश्लेषण किया है, जिससे तत्-तत् शब्दों के अर्थ तो स्पष्ट होते ही हैं, साथ ही उनकी व्याकरणिक-शुद्धि अथवा अशुद्धि का भी ज्ञान हो जाता है।

2.4. पुराण-पद्धति

पुराण शब्द प्राचीन धार्मिक साहित्य के अर्थ में वैदिक युग से ही प्रचलित है। धर्म का अङ्ग बनाकर प्राचीन कथाओं, वंशावलियों, इतिहास-भूगोल के तथ्यों एवं सामान्यत: ज्ञान-विज्ञान के सभी तथ्यों को पुराणों में काल-क्रम से समाविष्ट किया गया। अथर्ववेद के अनुसार 'पुराण' का आविर्भाव ऋक्, साम और यजुस् के साथ ही हुआ- *'ऋच: सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।'*[46] *(शतपथ ब्राह्मण, १४/३/३/१३)* में पुराण को 'वेद' कहा गया है। सम्भवत: वैदिक युग के प्राचीन आख्यानों का संकलन करने के लिए एक पृथक् साहित्य का जन्म हुआ, जिसे 'पुराण' कहा गया।

---

42 विष्णु.सह.शां.भा. ४

43 वही, १९

44 गीता, शां.भा. १३/४

45 ब्र.सू.शां.भा. १/१/१

46 अथर्व. ११/७/२४

2.4.1. पुराण शब्द का निर्वचन

'पुराणमाख्यानं पुराणम्।' अर्थात् प्राचीन आख्यानों को 'पुराण' कहते हैं। वायु पुराण के अनुसार-*'यस्मात्पुरा ह्यनति।' (वा.पु.१/२०३)* अर्थात् प्राचीन काल में जो सजीव घटनाएँ थी, उन्हें 'पुराण' कहा गया। आचार्य सायण के अनुसार- *'जगत: प्रागवस्थामनुक्रम्य सर्गप्रतिपादकं वाक्यजातं पुराणम्।'* (ऐतरेय ब्राह्मणभाष्य भूमिका) अर्थात् संसार की उत्पत्ति और विकासक्रम के बोधक साहित्य को 'पुराण' कहते हैं। *'पुरा परम्परां वक्ति पुराणं तेन वै स्मृतम्।'* (वायु पुराण,१/२५३), *'पुरार्थेषु आनयतीति पुराणम्।'* (पद्मपुराण) अर्थात् प्राचीन विषयों में जो श्रोता को ले जाता है। आचार्य यास्क के अनुसार- *'पुरा नवं भवति'* (निरु.३/१९)।

2.4.2. पुराण का लक्षण

विष्णु-पुराण में 'पुराण' को परिभाषित करते हुए कहा गया है-

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥[47]

1. **सर्ग-** विश्व की सृष्टि प्रक्रिया।
2. **प्रतिसर्ग-** प्रलय पुन: सृष्टि का वर्णन।
3. **वंश-** देवताओं और ऋषियों के वंशों का वर्णन।
4. **मनवन्तर-** प्रत्येक मनु का काल और उस काल की प्रमुख घटनाओं का निरुपण।
5. **वंशानुचरित-** सूर्यवंश और चन्द्रवंश में उत्पन्न राजाओं का जीवन-चरित।

इन सब तथ्यों का जहाँ वर्णन हो, उसे 'पुराण' कहते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् (२/४१०) में इतिहास-पुराण को वेदों के समान परमात्मा के नि:श्वास रूप में निर्गत कहा गया है- *'अस्य महतो भूतस्य नि:श्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस: इतिहास: पुराणम्'*

[47] विष्णु पुराण, ३/६/२४

(बृ.उ.२/४/१०)। महाभारत के अनुसार- *'इतिहासपुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्।'* अर्थात् वेद के अर्थ का पल्लवन इतिहास और पुराण के द्वारा करना चाहिए।

2.5. व्याख्या के सम्बन्ध में प्रमुख-पद्धतियाँ

वेदों के क्लिष्ट कर्मकाण्ड को रोचक बनाने के लिए चार प्रकार के साहित्य आविर्भूत हुए-

(i) **इतिहास-** वैदिक युग में 'इतिहास' का प्रयोग प्राचीन तथा शाश्वत व्यवस्था के अर्थ में था।

(ii) **पुराण-** पुराण का प्रयोग पुरावृत्त तथा पुरातत्त्व से सम्बद्ध सृष्टि, प्रलय, भूगोल, आकाश मण्डल आदि के विवरण के लिए किया जाता था।

(iii) **गाथा-** 'गाथा-पद्धति' के अन्तर्गत प्राचीन कथाएँ निहित थी। जैसे- इन्द्र-वृत्र की कथा (ऋग्वेद,२/१५), पुरूरवा-उर्वशी संवाद (वही,१०/९५), विश्वामित्र-नदी संवाद में निहित कथा (वही,३/३३) इत्यादि कथाएँ 'गाथा-पद्धति' के माध्यम से वेद में निहित कथ्य को जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करती हैं।

(iv) **नाराशंसी-** 'नाराशंसी-पद्धति' के अन्तर्गत वीरों की प्रशंसा, वीर-गाथा, वीरों का अभिनन्दन आदि निहित होता है। जैसे- ययाति-नाहुष: (ऋ.९/१०१/४-६), नहुष: मानव: (वही,९/१०१/७-९), परीक्षित (अथर्व.२०/१२७) इत्यादि।

इस प्रकार वेदों में निहित गूढ़ार्थ को इन व्याख्या-पद्धतियों के माध्यम से सरल एवं रोचक रूप में प्रस्तुत किया गया। बाद में संस्कृत साहित्य में इन विधाओं का विस्तार हुआ, जिसमें 'इतिहास' को ऐतिहासिक काव्य के रूप में, 'पुराण' को पौराणिक ग्रन्थों के रूप में, 'गाथा' संस्कृत कथाओं के रूप में और 'नाराशंसी' रामायण, महाभारत आदि वीरकाव्यों के रूप में परिणत हुआ।

2.6. अधिकरण-पद्धति

अधिकरण का अर्थ 'प्रकरण' है। एक प्रकरण या एक विषय का प्रतिपादन जितने सूत्रों में मिलकर परिपूर्ण होता है, उन सब सूत्रों की समष्टि को 'अधिकरण' कहते हैं। ये अधिकरण कहीं-

कहीं एक सूत्रात्मक होते हैं, जैसे- ब्रह्मसूत्र प्रथम अध्याय के प्रारम्भ के चार अधिकरण एक-एक सूत्र से बने हुए एकसूत्रात्मक अधिकरण हैं और शेष सारे अधिकरण अनेक सूत्रात्मक हैं। उनमें विषय के अनुसार कहीं चार- छह, तो कहीं आठ- दस सूत्रों का समावेश है। अधिकरण का लक्षण इस प्रकार बताया गया है-

विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
सङ्गतिश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्॥

- (ब्र.सू.शां.भा. भाषाटीका, पृ. ९)

'अधिकरण-पद्धति' के पाँच अवयव बताये गये हैं-

1. **विषय-** किसी तथ्य विशेष को आधार बनाकर अर्थ का प्रतिपादन किया जाये, तो उस तथ्य विशेष को '*विषय*' कहते हैं। जिस उपनिषद् वाक्य को विचार के लिये उठाया गया है, उसका संकेत अधिकरण के आरम्भ में मिलता है। यह 'अधिकरण-पद्धति' का प्रथम अवयव है, जिसे 'विषय' नाम से कहा जाता है।
2. **विशय-** द्वितीय अवयव 'विशय' का अर्थ है - 'संशय'। जहाँ एक वस्तु के स्वरूप निर्धारण में एक साथ कई विकल्प उपस्थित होते हैं, वहाँ संशय का उदय होता है। संशय के सहारे आचार्य वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयास करते हैं।
3. **पूर्वपक्ष-** सिद्धान्त के विरूद्ध कोटि को 'पूर्वपक्ष' कहते हैं। दूसरे शब्दों में प्रतिपक्ष की स्थापना ही 'पूर्वपक्ष' है। इसके माध्यम से भाष्यकार का स्वपक्ष सम्यक् रूप से उद्घाटित होता है।
4. **उत्तरपक्ष-** पूर्वपक्ष की युक्ति का खण्डन करके सत्पक्ष में युक्ति दिखलाने वाला वाक्य 'उत्तरपक्ष' कहलाता है, इसी को सिद्धान्तपक्ष भी कहते हैं।
5. **सङ्गति-** उपर्युक्त चार अवयवों के अनन्तर इस सारे विवेचन का फल बताया जाता है। यह फल 'अधिकरण-पद्धति' का पाँचवां अवयव है, जिसे 'सङ्गति' भी कहा जाता है। प्रत्येक अध्याय की पूर्व अध्याय के साथ, प्रत्येक पाद की पूर्वपाद के साथ तथा प्रत्येक अधिकरण की पूर्व अधिकरण के साथ सङ्गति स्थापित करते हुए इन पञ्च घटक-तत्त्वों का जहाँ अनुसरण होता है, उसे 'अधिकरण' कहते हैं।

आचार्य शङ्कर व्याख्या के क्रम में 'अधिकरण-पद्धति' का अनुसरण करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में अनेकानेक शंकाओं को पूर्ण निष्पक्षता के साथ उपस्थापित कर पूर्वपक्ष की युक्तियों का तर्कसंगत एवं प्रमाणिकता के साथ समग्र रूप से समाधान कर स्वसिद्धान्त का दृढ़ता से प्रतिपादन करते हैं। शाङ्कर भाष्यों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने भाष्य 'शास्त्रार्थ-शैली' में प्रस्तुत किये हैं। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं मानो पूर्वपक्षी तथा उत्तरपक्षी दोनों आमने-सामने बैठकर वार्तालाप कर रहे हों। यथा- *'यद्यपि तव न विषमं तथापि मम तु विषमं प्रतिभाति।'*[48] यहाँ आत्मा के प्रसंग में पूर्वपक्षी के कथन पर आपत्ति करते हुए उसके प्रति 'तव' शब्द का सम्बोधन तथा अन्यत्र- *'किं वा न पश्यसि न श्रृणोति वा किम्।'*[49] यहाँ *'किं न पश्यसि'* तथा *'किं न श्रृणोति'* से यह प्रतीत होता है, मानो दोनों आमने-सामने बैठे हों।

पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के प्रस्तुतिकरण के सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर की एक अन्य विशेषता यह है कि भाष्य में सर्वप्रथम अपने मन्तव्य की स्थापना करते है, पुन: पूर्वपक्षी की ओर से अनेकानेक सम्भावित आरोप सिद्धान्त पर स्थापित करके तदनन्तर क्रमश: उसका निराकरण करते हुए सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। इस क्रम में पूर्वपक्ष की स्थापना निष्पक्षता पूर्वक करते हैं। किसी स्थापित सिद्धान्त पर जितनी शंकाएँ सम्भावित होती हैं, उन्हें पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हैं, पुन: उत्तरपक्ष की ओर से क्रमश: उसका समाधान करते हुए सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। ब्रह्मसूत्र में 'अधिकरण-पद्धति' का प्रयोग द्रष्टव्य है-

(i) जिज्ञासाधिकरण

'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'(ब्र.सू.१/१/१) यह एकसूत्रात्मक अधिकरण है। इसमें 'अधिकरण-पद्धति' के पंचावयव को इस प्रकार घटित किया जा सकता है-

अधिकरण-पद्धति का प्रथम अवयव 'विषय' कहलाता है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस जिज्ञासाधिकरण सूत्र का **विषय** 'ब्रह्म' है। इस अधिकरण में 'ब्रह्म' के विषय में किसी प्रकार का विचार करने की आवश्यकता है या नहीं, यह संदेह उठाया गया है। यह 'अधिकरण-पद्धति'

---

48 ऐ.उ.शां.भा. २/१/१

49 बृ.उ.शां.भा. १/४/७

का द्वितीय अवयव **संशय** है। इसके बाद **पूर्वपक्ष** यह है कि 'ब्रह्म' में न तो जगत् का अध्यास बनता है, न जगत् में 'ब्रह्म' का अध्यास। अत: अध्यास का निरूपण सम्भव न होने से 'ब्रह्म' का विचार व्यर्थ है। इस पूर्वपक्ष के समाधान के लिये **उत्तरपक्ष** के रूप में यह युक्ति प्रस्तुत की गयी है कि विषय और विषयी अर्थात् जगत् और ब्रह्म का और उनके धर्मों का अध्यास 'अहंबुद्धि' से सिद्ध है। बिना अध्यास के उसमें 'अहं करोमि' आदि प्रतीति नहीं बन सकती। अत: ब्रह्म में 'अहं करोमि' आदि बुद्धि के आधार पर अध्यास की सिद्धि होती है। यह उत्तरपक्ष अधिकरण-पद्धति का चतुर्थ अवयव है। ब्रह्म का सामान्य रूप से ज्ञान होने पर भी उसके विशेष रूप का ज्ञान न होने से उसमें सन्देह बना रहता है। ब्रह्म ज्ञान का फल मोक्ष प्राप्ति है। अत: ब्रह्म के विशेष ज्ञान हेतु तथा ब्रह्म ज्ञान का फल मोक्ष प्राप्ति हेतु ब्रह्म विचार करना आवश्यक है। इस प्रकार सम्पूर्ण विवेचन का फल मोक्षप्राप्ति है। यह **फल** अधिकरण का पाँचवां अवयव है, जिसे **सङ्गति** के नाम से भी कहा जाता है।

(ii) जन्माद्यधिकरण

'जन्माद्यस्य यत:'(ब्र.सू.१/१/२) यह सूत्र भी एकसूत्रात्मक अधिकरण है। इसमें 'अधिकरण-पद्धति' के पंचावयव को इस प्रकार घटित किया जा सकता है-

'जन्माद्यस्य यत:' इस जन्माद्यधिकरण सूत्र का **विषय** 'ब्रह्म' है। 'ब्रह्म' का लक्षण बनता है या नहीं, यह **संशय** यहाँ उपस्थित होता है। यह 'अधिकरण-पद्धति' का द्वितीय अवयव है। इसके सम्बन्ध में **पूर्वपक्ष** यह है कि 'ब्रह्म' का कोई लक्षण नहीं है, क्योंकि लक्षण दो प्रकार के होते हैं- एक 'स्वरूपलक्षण' और दूसरा 'तटस्थलक्षण' ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इसको ब्रह्म का 'स्वरूपलक्षण' कहा जा सकता था, किन्तु सूत्रकार ने उसका यहाँ कोई उल्लेख नहीं किया और जिस जगत् के जन्मादि का यहाँ उल्लेख किया है, वह 'अन्यनिष्ठ' अर्थात् 'ब्रह्म' से अतिरिक्त जगत् में स्थित होने के कारण 'ब्रह्म' का लक्षण नहीं हो सकता। अत: 'ब्रह्म' का कोई लक्षण नहीं हो सकता, यह **पूर्वपक्ष** हुआ। **उत्तरपक्ष** के रूप में यह कहा गया है कि जगत् का जन्मादि 'अन्यनिष्ठ' होने पर भी 'ब्रह्म' का 'तटस्थलक्षण' हो सकता है। जिस प्रकार 'यो भुजङ्ग: सा स्रक्' यहाँ 'स्रक्' में कल्पित भुजङ्गत्व भी 'स्रक्' को लक्षित करता है। इसी प्रकार यह 'यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्म' इस रूप में 'ब्रह्म' में कल्पित जगत्कारणत्व

भी 'ब्रह्म' का लक्षण हो सकता है। यह 'अधिकरण-पद्धति' का चतुर्थ अवयव **उत्तरपक्ष** हुआ तथा इस अधिकरण के सम्पूर्ण विवेचन का **फल** 'यज्जगत्कारणं तद्ब्रह्म' इस रूप में 'ब्रह्मज्ञान' है। इस प्रकार एक सूत्र की दूसरे सूत्र से, एक अधिकरण की दूसरे अधिकरण से तथा एक अध्याय की दूसरे अध्याय से सम्बद्धता का प्रतिपादन करते हुए सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य का तात्पर्यार्थ 'तत्त्वमसि 'और 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्यों में बताया गया है।

2.7. भाष्य-पद्धति

जन सामान्य के लिये उपयोगी रचनाएँ भी सामासिक पदों से युक्त, अस्पष्ट, प्रतीकात्मक एवं सूत्र-शैली के कारण कभी कभी समाज में उपेक्षित हो जाती हैं। कदाचित् काल-विपर्यय के कारण भाष्यकार सूत्रकार के अभिप्राय को ठीक-ठीक न समझकर किसी रचना की भ्रान्तिपरक व्याख्या कर देते हैं, जिससे सामाजिक चिन्तन के परिवेश में असंगत प्रतीत होने वाले व्याख्यान के कारण उपयोगी रचनाओं के पठन-पाठन एवं अध्ययन-अध्यापन से समाज विमुख होने लगता है।

रचनाओं को उपेक्षा से बचाने एवं समाज को पुन: ग्रन्थ की ओर अभिमुख करने के लिये दुरूह एवं भ्रान्तिपूर्ण व्याख्यात रचनाओं के सरलीकरण, स्पष्टीकरण और सामान्य जनोपयोगी बनाने के निमित्त तथा सूत्रकार के अभिप्राय को समुचित रूप से स्पष्ट करने के लिए भाष्य ग्रन्थों की आवश्यकता होती है। 'भाष्य' का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार कहा गया है-

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदै: सूत्रानुसारिभि:।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥

- (वाचस्पत्यम्, षष्ठभाग, पृ. ४६६८)

अर्थात् जहाँ पदों के अनुसार सूत्रार्थ का बोध कराते हुए स्वचिन्तन का भी प्रतिपादन किया जाये, उसे 'भाष्य' कहते हैं। जैसे- बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' अत्यन्त लघु एवं संक्षिप्त रूप में है। उसको आधार बनाकर भाष्यकारों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टि से व्याख्या करते हुए अर्थ-निर्धारण किया गया है।

वैदिक-परम्परा में सृष्टि के गूढ़ रहस्यों को अत्यन्त संक्षिप्त शब्दावली में सूत्ररूप में कहा गया है, किन्तु काल-विपर्यय के कारण सूत्रकार के अभिप्राय को यथावत् न समझने के कारण भिन्न-भिन्न तथा असंगत व्याख्या प्रचलित होने से जिज्ञासु उस ग्रन्थ से विमुख होने लगता है। अत: सूत्र में निहित दुरूह एवं गम्भीर विषय के सरलीकरण, स्पष्टीकरण और सामान्य जनोपयोगी बनाने के निमित्त तथा सूत्रकार के अभिप्राय को समुचित रूप में स्पष्ट करने के लिए भाष्य-ग्रन्थों की आवश्यकता होती है।

आचार्य शङ्कर उपर्युक्त आशय को गीताभाष्य में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं- *'तद् इदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्। तदर्थाविष्करणाय अनेकै: विवृतपदपदार्थ-वाक्यार्थन्यायम् अपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेनलौकिकै: गृह्यमाणम् उपलभ्य अहं विवेकत: अर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि।'*[50]

अर्थात् यह गीताशास्त्र सम्पूर्ण वेदान्त का सार संग्रह रूप है। बीज रूप में दार्शनिक तथ्य समाहित होने के कारण इसका अर्थ समझने में अत्यन्त क्लिष्टता का अनुभव होता है। यद्यपि इसका अर्थ प्रकट करने के लिये आचार्यों द्वारा पदच्छेद, पदार्थ, वाक्यार्थ आक्षेप और समाधान पूर्वक अर्थोद्घाटन का प्रयास किया गया है, फिर भी लौकिक मनुष्यों द्वारा उस गीताशास्त्र का परस्पर विरुद्ध अनेक अर्थ ग्रहण किये जाते देखकर भाष्य के माध्यम से उसका विवेकपूर्वक अर्थ निश्चित का प्रयास किया जायेगा।

भाष्य लेखन के क्रम में सर्वप्रथम वेदों पर भाष्य उपलब्ध मिलता है, जिनमें भाष्यकार उद्गीथ ने ऋग्वेद पर याज्ञिक-दृष्टिकोण से भाष्य करते हुए वेद मन्त्रों की यज्ञ परकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इनकी भाष्य-पद्धति में परिचयात्मकता विद्यमान है। मन्त्रों पर भाष्य करने से पूर्व सम्बन्ध-भाष्य के माध्यम से वर्ण्यविषय का संकेत करते हैं, जिससे विषयावगति में अत्यन्त सहायता मिलती है। भाष्य में कोषमयता विद्यमान है, जिसको अर्थ स्पष्टीकरण में अत्यन्त उपयोगी माना जाता है। प्रामाणिकता प्रतिपादन हेतु श्रुत्यनुसारी स्मृतिवाक्यों को भी अपने सिद्धान्त के समर्थन में भाष्यकार ने उद्धृत किया है।

भाष्यकार शौनक ने यजुर्वेद पर भाष्य किया है। शौनक की भाष्य-पद्धति के सम्बन्ध में आचार्य उवट का कथन है- *'प्रथमं विच्छेद: क्रियाकारक सम्बन्ध: समास: प्रमेयार्थव्याख्येति'* (शुक्ल

---

50 गी.शां.भा.उपोद्घात

यजुर्वेद संहिता, उवट भाष्य,३१/१) अर्थात् आचार्य शौनक भाष्य करते समय सर्वप्रथम मन्त्रों में आये संयुक्त पदों का पदच्छेद करते हैं। पुन: क्रियाओं एवं कारकों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करके पश्चात् समस्त पदों का विग्रह करते हुए अभिष्टार्थ का प्रतिपादन करते हैं। भाष्य में निर्वचनात्मक-पद्धति का भी प्रयोग किया गया है।

बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' अत्यन्त गम्भीर होने के कारण जिज्ञासु जनों के लिए दुर्विज्ञेय था। अत: शङ्करादि आचार्य-परम्परा द्वारा 'ब्रह्मसूत्र' को आधार बनाकर सरल, युक्तियुक्त, श्रुति-स्मृति प्रमाणों से समन्वित तथा व्यावहारिक दृष्टान्तों के प्रयोग द्वारा बोधगम्य भाष्य का प्रणयन किया गया, जिसमें सुकुमार मति भी अर्थावगमन में प्रवृत्त हो सकता है। आचार्य शङ्कर अपनी भाष्य-पद्धति में श्रुति प्रामाण्य को सर्वोपरि मानते हुए अद्वैत विषयक सिद्धान्त के समर्थन एवं पूर्वपक्ष के खण्डन में अनेकानेक श्रुतियों को उद्धृत करके स्वसिद्धान्त की प्रामाणिकता की पुष्टि करते हैं। भाष्य में निहित सिद्धान्त को जन-ग्राह्य बनाने हेतु आचार्य ने प्रसन्न-गम्भीर लालित्य एवं प्रसादगुण युक्त भाषा में भाष्य का प्रणयन किया। जैसे- *'तत्पुनर्ब्रह्म प्रसिद्धमप्रसिद्धं वा। यदि प्रसिद्धं न जिज्ञासितव्यम्। अथाप्रसिद्धं नैव शक्यं जिज्ञासितुमिति। उच्यते- अस्तितावद् ब्रह्म नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितम्।'*[51] प्रस्तुत पंक्ति में कितने छोटे-छोटे एवं शीघ्र अर्थ बोधक वाक्यों द्वारा योगियों के लिए भी दुर्विज्ञेय विषय को अतीव सरलता से बोधगम्य बनाया है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि सूत्र ग्रन्थों की सुबोधगम्यता, भ्रान्ति निवारण हेतु, असंगत व्याख्या के प्रतिषेध हेतु एवं सूत्रकार के अभिप्राय को यथावत् रूप में प्रस्तुत करने हेतु भाष्य-लेखन की अत्यन्त आवश्यकता प्रतीत होती है। यद्यपि प्रत्येक भाष्यकार का अपना-अपना दृष्टिकोण होता है, इसी दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप 'ब्रह्मसूत्र' को आधार बनाकर अनेकानेक भाष्य लिखे गये।

---

51 ब्र.सू.शां.भा. १/१/१

2.8. वार्तिक-पद्धति

'वार्तिक' का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार कहा गया है-

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिण:॥

- (अष्टाध्यायी, व्या. ईश्वरचन्द्र, पृ.१६)

'वार्तिक' की एक अन्य परिभाषा इस प्रकार प्राप्त होती है-

यद् विस्मृतमदृष्टं वा सूत्रकारेण तत्स्फुटम्।
वाक्यकारो ब्रवीत्येव तेनाऽदृष्टं च भाष्यकृत्॥ (वही.)

अर्थात् जो तथ्य उक्त हो किन्तु स्पष्ट रूप में भाषित न हो, जो तथ्य सूत्रकार से छूट गया हो तथा जो प्रमादजन्य या दो बार कहा गया हो, ऐसे उक्त, अनुक्त और दुरुक्त का जहाँ कथन हो उसे 'वार्तिक' कहते हैं। जैसे- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक के माध्यम से दार्शनिक-गुत्थियों का निराकरण कर जन-सामान्य के लिए बोधगम्य बनाया है।

2.9. टीका-पद्धति

टीका का लक्षण शब्दकल्पद्रुम में इस प्रकार दिया गया है- *'टीक्यते गम्यते प्रविश्यते ज्ञायते वानया।'*(शब्दकल्पद्रुम, द्वितीयभाग, पृ.५७२) वाचस्पत्यम् में टीका को परिभाषित करते हुए कहा गया है- *'टीक्यते गम्यते ग्रन्थार्थोऽनया।'*(वाचस्पत्यम्, चतुर्थभाग, पृ.३१८८) इस प्रकार व्याख्या के क्रम में टीका-पद्धति का प्रयोग करते हुए भाष्य में निहित दार्शनिक समस्याओं का निदान करते हुए तथ्य का प्रतिपादन किया जाता था। जैसे- ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर वाचस्पति मिश्र की 'भामती टीका' है, जिसमें उक्त (भाष्योक्त), अनुक्त (भाष्यानुक्त) और भाष्य के दुरुक्त पदार्थों पर पूर्ण रूप से प्रकाश डाला गया है।

वास्तव में मूलग्रन्थ कितना भी कठिन क्यों न हो भाष्यकारों, टीकाकारों की प्राञ्जल भाषा उसे पाठकप्रिय बना देती है, इसीलिए कहा गया है- *'टीका गुरुणां गुरु:'* अर्थात् टीका-टिप्पणियाँ एवं भाष्य गुरुजनों के भी गुरु होते हैं। शुष्क माना जाने वाला 'पाणिनीय व्याकरण''पातञ्जल

महाभाष्य’ द्वारा जिस रूप में सुबोध्य बनाया गया वह सर्वविदित ही है। क्लिष्टतम समझा जाने वाला ‘ध्वन्यालोक’ ‘लोचन टीका’ से जिस प्रकार सम्यगालोचित है, उसे कौन नहीं जानता? अर्थात् भाष्य एवं टीकाकारों की सरल सुबोध भाषा किसी भी ग्रन्थ की प्रसिद्धि एवं अप्रसिद्धि में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। टीका एवं भाष्य अर्थ प्रकाशन में जितनी स्पष्टतायुक्त होंगे वे उतने ही ग्राह्य बन पायेंगे। शाङ्कर भाष्य में विषयानुकूल कोमलकान्त पदावली, हृदयग्राही शब्द योजना, उदात्त वर्णन शैली एवं स्वल्पातिस्वल्प शब्दों द्वारा विपुलार्थ प्रकाशन का सामर्थ्य सन्निहित है।

2.10. **प्रकरण-पद्धति**

‘प्रकरण’ का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार दिया गया है-

शास्त्रैकदेशसम्बद्धं शास्त्रकार्यान्तरेस्थितम्।
आहु: प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चित:॥

- (वेदान्तसार, पृ. १६४)

अर्थात् शास्त्र के किसी एक भाग या अंश-विशेष से सम्बन्ध रखने वाला तथा प्रसंगानुसार अन्य समानतन्त्री (समर्थक या प्रतिपक्षी) ग्रन्थों को भी वर्ण्य-विषय बनाने वाले ग्रन्थ-विशेष को ‘प्रकरण’ कहते हैं। जैसे- ‘वेदान्तसार’ वेदान्त के कुछ विशिष्ट प्रतिपाद्यों को विषय बनाने वाला प्रकरण ग्रन्थ है, जबकि उसके सम्पूर्ण प्रतिपाद्य को विषय बनाने वाला ‘ब्रह्मसूत्र’ है। इसी प्रकार ‘तर्कसंग्रह’ न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त का प्रकरण ग्रन्थ है, जिसमें दो समानतन्त्री शास्त्र का आश्रय लेकर एक शास्त्र के सिद्धान्त को मुख्य आधार मानकर उसमें उसके समानतन्त्री दूसरे शास्त्र के सिद्धान्तों का समावेश किया गया है। यहाँ वैशेषिक शास्त्र की प्रधानता तथा न्याय शास्त्र की अप्रधानता का समावेश किया गया है। इसमें पदार्थों का निरूपण वैशेषिक शास्त्र के अनुसार तथा प्रमाणों का निरूपण न्याय शास्त्र के अनुसार किया गया है।

2.11. संग्रह-पद्धति

'संग्रह' का लक्षण विद्वानों द्वारा इस प्रकार दिया गया है-

विस्तरेणोपदिष्टानामर्थानां सूत्रभाष्ययो:।

निबन्धो य: समासेन संग्रहं तं विदुर्बुधा:॥

- (ब्र.सू.शां.भा.भाषाटीका, पृ. ५०)

अर्थात् सूत्र और भाष्य में विस्तार से वर्णित अर्थ का जहाँ संक्षेप में कथन किया जाता है, उसे विद्वज्जन 'संग्रह' कहते हैं। जैसे- न्याय दर्शन का संग्रह-ग्रन्थ 'तर्कसंग्रह' है, जिसमें उद्देश, लक्षण का संक्षेप में कथन किया गया है, जबकि इसका विस्तारपूर्वक विवेचन 'न्यायसूत्र वात्स्यायनभाष्य' में किया गया है। इसी प्रकार मीमांसा दर्शन का संग्रह-ग्रन्थ 'अर्थसंग्रह' है, जिसमें तथ्यों का संक्षिप्त रूप में कथन किया गया है।

2.12. व्युत्पत्ति विवेचन-पद्धति

व्याकरण के नियमों के आधार पर आचार्य परम्परा द्वारा निर्वचन के माध्यम से क्लिष्ट-शब्दों की व्युत्पत्ति द्वारा प्रकृति-प्रत्यय तथा उसकी संरचना का विश्लेषण कर अर्थ का निर्धारण किया गया है। इसी क्रम में यजुर्वेद के भाष्यकार शौनक की भाष्य-पद्धति के सम्बन्ध में उवट का कथन है- *'प्रथमं विच्छेद: क्रियाकारक सम्बन्ध: समास: प्रमेयार्थव्याख्येति।'*[52] अर्थात् शौनक ऋषि भाष्य करते समय सर्वप्रथम मन्त्र में आये हुए संयुक्त पदों का विच्छेद करते हैं। पुन: क्रियाओं एवं कारकों के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करके तत्पश्चात् समस्त पदों का विग्रह करके अन्त में अभिष्टार्थ का प्रतिपादन करते हैं। जैसे-

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥[53]

आचार्य शौनक इस मन्त्र पर भाष्य करते हुए सर्वप्रथम पदच्छेद इस प्रकार करते हैं-

---

52 शुक्ल यजुर्वेद संहिता, उवट भाष्य ३१/१

53 पुरुषसूक्त, २

'पुरुष एव इदम् सर्वम् यत् भूतम् यत् च भाव्यम्। उत अमृतत्वस्य ईशान: यत् अन्नेन अतिरोहति।'

समस्त पद विग्रह- दशाँगुलम्= *'दश च तानि अंगुलानि दशांगुलानीन्द्रियाणि।'*

सहस्राक्ष: = *'सहस्राण्यक्षीणि नेत्राणि यस्यासौ सहस्राक्ष:।'*[54]

अत: स्पष्ट है कि आचार्य शौनक भाष्य प्रणयन में पद-विच्छेद तथा समस्त पद विग्रह एवं निर्वचनात्मकता का विशेष ध्यान रखते हैं।

2.13. **वाक्यार्थबोध की विधियाँ**

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में विद्वानों में भिन्न-भिन्न मत प्रचलित है। जब हम किसी वाक्य को सुनते हैं तो हमें अर्थ का बोध होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अर्थ समग्र वाक्य से निकलता है या वाक्य के घटक पदों के अर्थों के मिलने से निकलता है? वैयाकरण के अनुसार वाक्य एक समष्टि के रूप में अपने अर्थ का बोधक होता है, उसमें पद या वर्णों का पृथक् अस्तित्व नहीं होता। इसके विपरीत नैयायिकों का यह मत है कि जैसे पूर्व-पूर्व वर्णों के संस्कार से सहकृत अन्त्य वर्ण 'पद' के घटक होते हैं, उसी प्रकार पूर्व-पूर्व पदों के संस्कार से सहकृत अन्त्य पद 'वाक्य' का घटक होता है। इस प्रकार वर्णों और पदों का स्वतन्त्र अस्तित्व होता है।

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में शबर स्वामी ने अपने भाष्य में कहा था- *'पदानि हि स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि अथेदानी पदार्थों अवगता सन्तो वाक्यार्थ गमयन्ति।'* इस कथन का कुमारिल भट्ट और प्रभाकर मिश्र ने जो पृथक्-पृथक् विश्लेषण किया है, वही अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद के रूप में प्रवर्तित हुआ।

2.13.1. अभिहितान्वयवाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है, जिसमें अभिहित का अर्थ है- पदों के द्वारा कथित, अन्वय का अर्थ है- दो पदों के बीच का सम्बन्ध और वाद का अर्थ है- सिद्धान्त। 'अभिहितान्वय' में षष्ठी-तत्पुरुष समास है, जिसका अर्थ होता है- *'अभिहितानां पदार्थानाम् अन्वय:'* अर्थात् जो अर्थ शब्दों के द्वारा कहे जा चुके हैं, उनका

---

[54] शुक्ल यजुर्वेद संहिता, उवट भाष्य ३१/१

परस्पर अन्वय। इस प्रकार इस मत के अनुसार पहले पदों के द्वारा पदार्थ अभिहित अर्थात् अभिधा शक्ति के द्वारा बोधित होते हैं, तत्पश्चात् वक्ता के तात्पर्य के अनुसार आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के बल से उनका परस्पर अन्वय (सम्बन्ध) होता है, जिससे वाक्यार्थ की प्रतीति होती है।[55] इस प्रकार वाक्यार्थ-बोध के लिए अभिहित पदार्थों का अन्वय मानने के कारण कुमारिल भट्ट का सिद्धान्त 'अभिहितान्वयवाद' कहलाता है।

इस मत में पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध पदों से नहीं, अपितु वक्ता के तात्पर्य के अनुसार होता है, इसलिए उसको 'तात्पर्यार्थ' कहते हैं और तात्पर्यार्थ ही वाक्यार्थ कहलाता है। यह तात्पर्यवृत्ति आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधि के द्वारा प्रवृत्त होती है तथा पदों के द्वारा बोधित पदार्थों में जो सम्बन्ध है, उसका बोध कराती है। तात्पर्यवृत्ति से बोधित होने वाला यह अर्थ 'तात्पर्यार्थ' है और वाक्य इस 'तात्पर्यार्थ' का बोधक होता है।[56]

इस प्रकार कुमारिल भट्ट ने भाष्यकार शबर स्वामी के कथन का आशय बताया है कि पद अपने-अपने अर्थ को व्यक्त कर उपरत हो जाते हैं। पदार्थ के अवगत हो जाने पर वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ का ग्रहण पदों के अर्थों पर निर्भर करता है। पद पहले सामान्य अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं और तत्पश्चात् आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के सहारे उन अर्थों के पारस्परिक अन्वय से जिस समग्र अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, उसको वाक्यार्थ कहते हैं, यह विशेष अर्थ है। इसका आशय यह हुआ कि पदों के अर्थों का बोध पृथक्-पृथक् हो जाता है, किन्तु वाक्य के अर्थ का बोध उन अर्थों के पारस्परिक संयोग पर निर्भर करता है। पद समूह ही आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण परस्पर समन्वित होकर वाक्य बन जाता है। इस प्रकार संसर्ग ही वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ की प्रतीति पदार्थप्रतीति पूर्वक होती है। जब तक पदार्थ का ज्ञान न हो, वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।

कुमारिल भट्ट के कथन का आशय है कि पद अपने विशिष्ट अर्थ का बोध कराते हैं और वाक्य में उनका पारस्परिक समन्वय उनके अर्थों के समन्वय के माध्यम से होता है, न कि एक पद या अन्य पद के साथ समन्वय से। वाक्य में प्रयुक्त हुए विना भी पद का अर्थ समझा जा सकता है,

---

55 *'अभिहितानां स्वस्ववृत्त्या प्रतिपादितानामर्थानाम् अन्वयः इति वदन्ति ये ते अभिहितान्वयवादिनः।'*

56 *'अभिधायाः एकैकं पदार्थबोधनविरमात् वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वियस्य बोधिकातात्पर्य नाम वृत्तिः, तदर्थश्च तात्पर्यार्थः। तद्बोधकं च वाक्यम् इति अभिहितान्वयवादिनां मतम्'* (साहित्यदर्पण, २१२० वृत्ति)।

किन्तु जहाँ तक वाक्य के अर्थ का सम्बन्ध है, वह पद के अर्थों के समन्वय से ही घटित होता है। इस प्रकार कहा जा सकता कि पदार्थों का आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण समन्वय हो जाने से एक विलक्षण तात्पर्यार्थ निकलता है, जो कि पदार्थ से भिन्न होता है, उसको वाक्यार्थ कहते हैं। इस मत की पुष्टि हेतु आचार्य कुमारिल भट्ट, भाष्यकार शबर स्वामी के कथन को उद्धृत करते हैं-

पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि।
अर्थ इदानीं पदार्था अवगता सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति॥[57]

अभिहितान्वयवाद की दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं-

- इस मत में पदों के द्वारा केवल जाति का बोध होता है। जैसे- 'घटं करोति' इस वाक्य में 'घटम्' पद के द्वारा यह घट या वह घट ऐसा बोध नहीं होता अपितु घटत्व जाति का बोध होता है। 'करोति' पद के द्वारा सामान्य क्रिया का बोध होता है। तात्पर्यवृत्ति के द्वारा इन सामान्य अर्थों में सम्बन्ध का बोध कराया जाता है।
- तात्पर्यवृत्ति पदार्थों में पारस्परिक सम्बन्ध को दर्शाती है, पदों में नहीं। जैसे- 'घट' प्रकृति और 'अम्' प्रत्यय इन दोनों में आश्रयाश्रयिभावसम्बन्ध है। यह सम्बन्ध तात्पर्यवृत्ति से ज्ञात नहीं होता। अपितु प्रकृति और प्रत्यय की समीपता से ही ध्यान में आता है।[58]

2.13.2. अन्विताभिधानवाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में प्रभाकर मिश्र का सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है, जिसका अर्थ है- *'अन्वितानां (पदार्थानाम्) अभिधानम्'* अर्थात् अन्वित पदार्थों का ही (अभिधान) अभिधा शक्ति से बोध होना। प्रत्येक पद केवल अपने पदार्थ का ही बोध नहीं कराता है, अपितु समन्वययुक्त पदार्थों का बोध कराते हैं। इस मत के अनुसार वाच्य ही वाक्यार्थ है- *'वाच्य एव वाच्यार्थ इति अन्विताभिधानवादिनः।'* इस मत में अभिधा शक्ति के द्वारा केवल

---

57 शाबर भाष्य, १/१२५

58 आचार्य कुमारिल भट्ट तात्पर्यवादी हैं, उन्होंने अभिहितान्वयवाद की पुष्टि के लिये 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्' (जैमिनि सूत्र १/१/२५) के शाबर भाष्य को आधार माना है।

पदार्थ अभिहित होते हों और बाद में उसका अन्वय होता हो, ऐसा नहीं है,[59] अपितु पहले से ही अन्वित पदार्थों का अभिधा से बोध होता है और अन्वयविशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ है। अत: आचार्य मम्मट ने भी *'विशिष्टा एव पदार्थाः'* कहकर अन्विताभिधानवाद की सिद्धि की है, अर्थात् अन्वित (विशिष्ट) पदार्थ ही वाक्यार्थ है। इस सम्बन्ध में आचार्य भर्तृहरि का कथन है-

नियतं साधनं साध्ये क्रिया नियतसाधना।

स सन्निधानमात्रेण नियम: सन् प्रकाशते॥[60]

इस मत में पदार्थों का अन्वय पूर्व से ही सिद्ध होने के कारण वाक्यार्थ प्रतीति के लिए तात्पार्याख्य शक्ति को मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। अत: *'पदार्थ एव वाक्यार्थः'* पदार्थ ही वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ विलक्षण अर्थ नहीं होता। इस प्रकार अन्वयविशिष्ट पदार्थ के वाक्यार्थ मानने के कारण यह सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है।

अन्विताभिधानवादियों के अनुसार पदों से अन्वित पदार्थों की उपस्थिति संकेतग्रह के द्वारा होती है। जैसे- कोई उत्तमवृद्ध, मध्यमवृद्ध से कहता है 'गामानय', तो पार्श्वस्थ बालक भी इस वाक्य को सुनता है तथा सास्नादिविशिष्ट गाय को लाते हुए देखता है, तो 'गाम्' और 'आनय' इन पदार्थों का पृथक्-पृथक् ज्ञान न होने पर भी वह 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य से 'सास्नादिविशिष्ट गाय के आनयन' रूप वाक्यार्थ को ग्रहण करता है, तदनन्तर 'गां नय, अश्वमानय' इत्यादि वाक्यों को सुनता है तथा व्यवहारत: देखता है, तो प्रवृत्ति-निवृत्ति के द्वारा प्रवर्तन और निवर्तन रूप क्रिया को देखकर 'नय' का अर्थ 'ले जाना 'तथा 'आनय' का अर्थ लाना- ऐसा अर्थ समझने लगता है। यही संकेतग्रह की प्रक्रिया है। संकेतग्रह अन्वित पदार्थों में ही होता है। इसलिए जब केवल 'अन्वित' पदार्थ में संकेतग्रह नहीं होता तो 'अन्वित' पदार्थ की उपस्थिति भी नहीं होती है। अत: 'अन्वित' का ही 'अभिधान' अर्थात् अभिधा से बोधन होने से यह सिद्धान्त 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है।

---

59 *'न वै पदार्थादन्यस्यार्थस्योपलब्धिः भवति वाक्ये'* (महाभाष्य, १/२/४५)

60 वाक्यपदीयम् २/४७

2.13.3. तात्पर्यवाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में जयन्तभट्ट का सिद्धान्त 'तात्पर्यवाद' कहलाता है। यह सिद्धान्त दो स्तरों पर कार्य करता है-

2.13.3.1. अभिप्रेतार्थ निर्धारण

जहाँ एक शब्द के अनेक अर्थ हों वहाँ एक अर्थ का निर्धारण तात्पर्य-शक्ति से करते हैं। जैसे- 'सैन्धवम् आनय' यहाँ सैन्धव शब्द का 'अश्व' और 'नमक' दो अर्थ हैं। इन दो अर्थों में से किस अर्थ का ग्रहण किया जाये? आचार्य जयन्तभट्ट के अनुसार 'सैन्धवम् आनय' इस वाक्य का निर्धारण प्रसंग के आधार पर तथा वक्ता के तात्पर्य के अनुसार निश्चित होगा। अत: तात्पर्य-शक्ति के द्वारा 'सैन्धव' शब्द से भोजन के प्रसंग में 'नमक' अर्थ का ग्रहण तथा गमन के प्रसंग में 'अश्व' अर्थ का ग्रहण किया जाता है।

2.13.3.2. पदार्थद्वय संसर्ग निर्धारण

आचार्य जयन्तभट्ट के अनुसार वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में पद से पदार्थ का ग्रहण अभिधा-शक्ति के द्वारा होता है, तत्पश्चात् तात्पर्य-शक्ति के द्वारा दो पदार्थ परस्पर अन्वित होकर वाक्यार्थ बोध कराते है। इस प्रकार दो पदार्थों का परस्पर अन्वय (संसर्ग) तात्पर्य-शक्ति के द्वारा होता है-

अभिधात्री मता शक्ति: पदानां स्वार्थनिष्ठता।

तेषां तात्पर्यशक्तिस्तु संसर्गावगमावधि:॥[61]

अर्थात् शब्द व्यष्टि रूप में अभिधा-शक्ति से मुख्यार्थ का बोध कराते हैं, किन्तु जब किसी वाक्य में समष्टि रूप में उनका प्रयोग होता है, तो उनके अन्दर वर्तमान एक ऐसी अतिरिक्त शक्ति क्रियाशील हो जाती है जो शाब्द-बोध में तब तक कार्य करती रहती है, जब तक अभिधेयार्थ ही नहीं अपितु समष्ट्यर्थ भी स्पष्ट नहीं हो जाता।

---

[61] न्यायमञ्जरी, १/३७२

2.13.4. संसर्ग-मर्यादा वाद

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में गदाधर भट्टाचार्य का सिद्धान्त 'संसर्ग-मर्यादा वाद' कहलाता है। जिसमें संसर्ग का अर्थ है- दो पदों के बीच का सम्बन्ध, मर्यादा का अर्थ है- दो पदों के बीच की आकांक्षा और वाद का अर्थ है- सिद्धान्त। आचार्य गदाधर भट्ट के अनुसार- *'अपदार्थोऽपि संसर्गः संसर्गमर्यादिया भासते।'* अर्थात् दो पदार्थों के बीच के सम्बन्ध को किसी अन्य पदार्थ के द्वारा नहीं कहा गया है, अतः *'शाब्दबोधे एकपदार्थस्य अन्यपदार्थे संसर्गः संसर्गमर्यादिया भासते।'* वाक्यार्थबोध में दो पदार्थ परस्पर 'संसर्ग-मर्यादा वाद' सिद्धान्त के द्वारा अन्वित होकर वाक्यार्थ का ज्ञान कराते हैं।

वाक्यार्थबोध के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट ने जिस प्रकार वाक्यार्थ को पदार्थ से पृथक् माना है, उसी प्रकार जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में वाक्यार्थ को अपूर्व एवं विलक्षण माना है- *'विलक्षणो बोधः। वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेन, वाक्यार्थानामपूर्वत्वात्।'*[62] जबकि जयन्तभट्ट ने वाक्यार्थ को अपूर्व या विलक्षण न कहकर संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ माना है।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्याय में प्रतिपादित व्याख्या-पद्धतियों के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भाष्यकार का मुख्य उद्देश्य सूत्र में निहित संक्षिप्त एवं गम्भीर अर्थ को भाष्य के माध्यम से अभिव्यक्त करना तथा तत्-तत् सिद्धान्तों को जन-सामान्य के लिए बोधगम्य बनाना होता है। किसी ग्रन्थ अथवा सिद्धान्त की लोकप्रियता इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उसके सिद्धान्त कितने सरल एवं स्पष्ट हैं। इस प्रकार बहुविध-पद्धतियों का विकास कर ऋषियों द्वारा स्वानुभव जन्य ज्ञान को आगामी पीढ़ी के लिए प्रस्तुत किया गया।

---

62 शब्दशक्तिप्रकाशिका, ३/५

तृतीय-अध्याय
ब्रह्मसूत्रभाष्यों की
व्याख्या-पद्धतियाँ

तृतीय-अध्याय

ब्रह्मसूत्रभाष्यों की व्याख्या-पद्धतियाँ

वेदान्त विषयक विचार वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र विखरे पड़े थे, जिसको 'ब्रह्मसूत्र' में समाहित किया गया। अत: वेदान्त दर्शन का प्रारम्भिक एवं अव्यवस्थित रूप उपनिषद् ग्रन्थों में प्राप्त होता है तथा उसका व्यवस्थित रूप बादरायण द्वारा विरचित 'ब्रह्मसूत्र' में है। 'ब्रह्मसूत्र' प्रधान रूप से वेदान्त का आधार ग्रन्थ माना जाता है। 'ब्रह्मसूत्र' इतने लघु एवं संक्षिप्त रूप में है कि बिना भाष्य की सहायता से उसका अर्थ समझना अत्यन्त कठिन है। अत: 'ब्रह्मसूत्र' के स्पष्टीकरण के लिए एक सरल शैलीयुक्त सुस्पष्ट भाष्य की आवश्यकता थी, जिस कार्य को आचार्य परम्परा द्वारा सरल, सुबोध तथा प्रौढ़ भाषा में सूत्रों को विस्तृत रूप से व्याख्यायित किया गया।

'ब्रह्मसूत्रभाष्यों की व्याख्या-पद्धतियाँ' इस अध्याय में 'ब्रह्मसूत्र' पर उपलब्ध तथा विद्वत् समाज में मान्यता प्राप्त शाङ्करभाष्य से लेकर शक्तिभाष्य पर्यन्त एकादश भाष्यों में प्रयुक्त 'व्याख्या-पद्धतियों' का विस्तारपूर्वक विवेचन इस प्रकार है-

3.1. शास्त्रार्थ-पद्धति में भाष्यों का प्रणयन

शाङ्करभाष्य के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने भाष्य का प्रणयन '*शास्त्रार्थ-शैली*' में किया है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि मानो पूर्वपक्षी तथा उत्तरपक्षी दोनों आमने-सामने बैठकर संवाद कर रहे हों। उदाहरण रूप में *'यद्यपि तव न विषमं*

तथापि मम तु विषमं प्रतिभाति'[63] यहाँ पूर्वपक्ष हेतु प्रयुक्त 'तव' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों आमने-सामने बैठकर शास्त्रार्थ कर रहे हों। *'किं वा न पश्यसि न श्रृणोति वा किम्'*[64] यहाँ पूर्वपक्ष हेतु प्रयुक्त 'किं न पश्यसि' तथा 'किं न श्रृणोति' शब्दों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्वपक्षी तथा उत्तरपक्षी दोनों आमने-सामने बैठकर शास्त्रार्थ कर रहे हों।

पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष के प्रस्तुतिकरण की 'शाङ्करभाष्य-पद्धति' की विशिष्टता यह है कि आचार्य शङ्कर अपने भाष्यों में सर्वप्रथम अपने मन्तव्य की स्थापना करते हैं, पुन: पूर्वपक्ष की ओर से अनेकानेक सम्भावित आरोप पूर्ण निष्पक्षता के साथ सिद्धान्त पर आरोपित करके तदनन्तर क्रमश: उसका निराकरण करते हुए सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

3.2. उपोद्धात-पद्धति

'प्रकृतसिद्ध्यनुकूल चिन्ता विषयत्वमुपोद्धात:'[65] अर्थात् जहाँ सन्दर्भ या प्रसंगात्मक भाष्य लिखकर साध्य-विषयवस्तु का अवतरण या आरम्भ किया जाता है, उसे 'उपोद्धात' कहते हैं। ग्रन्थारम्भ में ही वर्ण्य-विषयवस्तु का सारांश रूप में सम्बन्ध-भाष्य के द्वारा अथवा उपोद्धात के माध्यम से परिचयात्मक भाष्य प्रस्तुत करना भाष्य-पद्धति की प्रमुख विशेषता है, जिससे विषयावगति में अत्यन्त सहायता मिलती है। ऋग्वेद के भाष्यकार उद्गीथ के भाष्य में उपोद्धात-पद्धति का प्रयोग मिलता है, जिसमें भाष्य के प्रारम्भ में ही वर्ण्य-विषय का संकेत सम्बन्ध-भाष्य के माध्यम से किया गया है। प्रामाणिकता के प्रतिपादन हेतु आचार्य उद्गीथ श्रुति के उद्धरण तथा श्रुत्यनुसारी स्मृतिवाक्यों को भी अपने सिद्धान्त के समर्थन में उद्धृत करते हैं।

शाङ्करभाष्यों में भी सर्वत्र परिचयात्मक 'उपोद्धात-पद्धति' का प्रयोग किया गया है। उनके समस्त भाष्य ग्रन्थों के आरम्भ में ग्रन्थ की विषयवस्तु का व्यापक एवं पर्याप्त परिचय उपलब्ध होता है। उन्होंने ग्रन्थारम्भ में ही नहीं अपितु अध्याय, सूत्र एवं श्लोक से पूर्व भी सन्दर्भ रूप में वर्ण्य वस्तु का संकेत प्राय: सर्वत्र ही किया है। भाष्य ग्रन्थों के प्रारम्भ में इन्होंने जो

---

63 ऐ.उ.शां.भा. २/१/१

64 बृ. उ.शां.भा. १/४/७

65 साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद की विमलाख्या हिन्दी व्याख्या में उद्धृत।

परिचयात्मक भाष्य लिखें हैं, वे उपोद्धात अथवा सम्बन्ध भाष्य के नाम से अभिहित किये जाते है।

सम्बन्ध भाष्यों से तत्-तत् ग्रन्थों की विषयवस्तु को समझने में वाञ्छित सहयोग मिलता है, क्योंकि सन्दर्भ का ज्ञान हो जाने से तथा वर्ण्य वस्तु का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाने से पाठकों का ध्यान उस विषय पर केन्द्रित हो जाता है। जिससे उस सन्दर्भ में उन ग्रन्थों के अर्थ को समझने में कोई बाधा नहीं आती है। इस परिचयात्मकता द्वारा भाष्यों का मूलोद्देश्य ग्रन्थार्थ सारल्य सम्पादन भी पूरा होता है।

शाङ्करभाष्य में परिचयात्मकता का आधार सम्भवत: 'अनुबन्ध-चतुष्टय' रहा है, क्योंकि जब तक पाठक यह नहीं जान लेता है कि इस ग्रन्थ की विषयवस्तु क्या है? इसे पढ़ने का अधिकारी कौन है? अर्थात् इसे समझने के लिए किन-किन अर्हताओं की अपेक्षा है। इस ग्रन्थ के अध्ययन से मुझे क्या लाभ होगा? ग्रन्थ में वर्णित विषय वस्तु तथा ग्रन्थ का परस्पर क्या सम्बन्ध है? तब तक किसी ग्रन्थ के अध्ययन में सम्यक् प्रवृत्ति होना सम्भव नहीं है। इसलिए कहा गया है-

ज्ञातार्थं ज्ञातसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।

ग्रन्थादौ तेन वक्तव्य: सम्बन्ध: सप्रयोजन: ॥[66]

अर्थात् ज्ञातार्थ एवं ज्ञात सम्बन्ध के विषय में ही श्रोता की सुनने अथवा पढ़ने में रूचि उत्पन्न होती है। अत: ग्रन्थारम्भ में ही सप्रयोजन इसका वर्णन कर देना चाहिए। आचार्य शङ्कर ने 'अनुबन्ध-चतुष्टय' के स्पष्टीकरण हेतु अपनी प्रत्येक भाष्य रचना के आरम्भ में 'सम्बन्ध-भाष्य' या 'उपोद्धात' के रूप में परिचयात्मक भाष्य करते हैं। जैसे- ब्रह्मसूत्र के आरम्भ में 'युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचरयो:' से लेकर 'शारीरकमीमांसायां प्रदर्शयिष्याम:' यहाँ तक सम्बन्ध भाष्य लिखा है। जिसमें स्पष्ट किया है कि 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थों का विवेचन एवं जगत् का अध्यास (मिथ्यात्वप्रदर्शन) ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है, आत्मनिष्ठ अधिकारी तथा ब्रह्मात्मैकत्व प्रदर्शन प्रयोजन एवं प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है।

शाङ्कर भाष्यों की उपोद्धात-पद्धति की एक विशेषता यह भी है कि अगला अध्याय आरम्भ करने पर आचार्य शङ्कर उस अध्याय के आरम्भ में पूर्व अध्याय में वर्णित विषय का संक्षिप्त परिचय देते हैं, तदनन्तर वर्ण्य अध्याय की विषयवस्तु का भी संकेत कर देते हैं। इसी प्रकार

66 वाचस्पत्यम्, प्रथम भाग, पृ. १७९

मन्त्रों के आरम्भ में भी सन्दर्भ रूप में मन्त्र के विषय से परिचित कराने हेतु वर्ण्यविषयवस्तु से सम्बन्धित भाष्य करते हैं।

3.2.1. वेदान्तपारिजात भाष्य में उपोद्घात-पद्धति

ब्रह्मसूत्र के निम्बार्कभाष्य में 'उपोद्घात-पद्धति' का अभाव है, जिससे विषयवस्तु का सामान्य परिचय आरम्भ में न मिलने से तथा सन्दर्भ के अज्ञात होने से निम्बार्क के भाष्य में दुरूहता का समावेश प्रथम चरण में ही विदित होता है। उदाहरणस्वरूप ब्रह्मसूत्र (१/१/१) तथा (१/२/१) पर उपलब्ध निम्बार्कभाष्य को देखा जा सकता है। यत्र-तत्र सूत्रारम्भ में सन्दर्भ-भाष्य अति संक्षिप्त रूप में प्राप्त होते हैं, जैसे- निम्बार्कभाष्य (१/१/४) में सन्दर्भ-भाष्य उपलब्ध होता है।

3.2.3. श्रीभाष्य में उपोद्घात-पद्धति

आचार्य रामानुज विरचित श्रीभाष्य में भी 'उपोद्घात-पद्धति' का प्रयोग देखने को मिलता है, जिसके माध्यम से ग्रन्थ, अध्याय अथवा अधिकरणादि के आरम्भ में अर्थ की स्पष्ट प्रतीति हेतु परिचयात्मक सम्बन्ध भाष्य द्वारा सार रूप में तथ्यों को प्रारम्भ में ही प्रस्तुत करते हैं।

3.2.4. पूर्णप्रज्ञभाष्य में उपोद्घात-पद्धति

परिचयात्मक सम्बन्ध भाष्य लिखने की परम्परा का मध्वाचार्य ने भी पालन किया है, परन्तु उन्होंने ये सम्बन्ध भाष्य बहुत ही स्वल्प शब्दों में विषयवस्तु की सूचनामात्र देने की दृष्टि से लिखे हैं। जैसे- *'उक्ते अर्थे विरोधं दर्शयत्यनेनाध्यायेन। प्रथमे पादे युक्त्यविरोधं प्रथमतः स्मृत्यविरोधम्'*[67]। यहाँ मध्वाचार्य ने अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में अध्याय तथा पाद की विषयवस्तु का संकेतमात्र किया है।

3.2.5. श्रीकरभाष्य में उपोद्घात-पद्धति

विषयवस्तु के परिचय से सम्बन्धित उपोद्घात-भाष्य लेखन की परम्परा आचार्य श्रीपति के भाष्यों में भी मिलती है। भाष्यकार ने भाष्य के आरम्भ में मङ्गलात्मक एवं स्वसिद्धान्त प्रकाशक श्लोकों की भी रचना की है। 'उपोद्घात-पद्धति' के उदाहरणस्वरूप श्रीकरभाष्य के प्रत्येक अध्याय एवं प्रत्येक पाद के आरम्भिक भाष्य द्रष्टव्य हैं।

---

[67] ब्र.सू. पूर्णप्रज्ञभाष्य, २/१/१

3.2.6. अणुभाष्य में उपोद्घात-पद्धति

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लेखन के क्रम में आचार्य वल्लभ ने भी 'उपोद्घात-पद्धति' को अपनी भाष्य-पद्धति का विषय बनाया है, जिसके कारण भाष्यकार के ग्रन्थ अध्याय, अधिकरण, सूत्र अथवा पद्यादि के अभिप्राय को समझने में प्रर्याप्त सुविधा होती है। 'उपोद्घात-पद्धति' के अवलोकन हेतु ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य (१/१/२, १/१/३ तथा १/१/४) के परिचयात्मक सम्बन्ध भाष्य द्रष्टव्य हैं।

'उपोद्घात-पद्धति' के सन्दर्भ में उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि भाष्य रचना में 'उपोद्घात-पद्धति' नितान्त आवश्यक है, जिसके माध्यम से पाठक को पाठ्य ग्रन्थ, उसके अध्याय, मन्त्र, श्लोक अथवा सूत्र के प्रतिपाद्य विषय का परिचय प्राप्त होता है, जिससे पाठक का ध्यान तत्-तत् विषयों में एकाग्र हो जाता है तथा ग्रन्थार्थ सरलता से समझ में आ जाता है। परिचयात्मक भाष्यों का एक लाभ यह भी है कि किसी उद्देश्य विशेष को लेकर अध्ययन करने वाला पाठक सम्बन्ध भाष्य को पढ़कर ही ग्रन्थार्थ का अनुमान लगाकर श्रमाधिक्य से बच सकता है। अध्यायों, मन्त्रों, श्लोकों तथा अधिकरणों एवं सूत्रों के आरम्भ में प्रदत्त पूर्वापर वर्णित एवं वर्ण्य विषय के सूचक सम्बन्ध भाष्य आंशिक रूप से अध्ययन करने वाले पाठकों के लिए परमोपयोगी होते हैं, क्योंकि सम्बन्ध भाष्य उन्हें पूर्णार्थ का द्योतक बना देते हैं।

3.3. प्रश्नोत्तर-पद्धति

वर्ण्य विषय का प्रश्नोत्तर रूप में स्पष्टीकरण करना आचार्य शङ्कर की मुख्य विशेषता है। जैसे- *'कथं पुनरकामयमानो भवति? योऽकामो भवत्यसावकामयमानः। कथमकामयतेत्युच्यते यो निष्कामो यस्मान्निर्गताः कामाः सोऽयंनिष्कामः। कथं कामा निर्गच्छन्ति? य आप्तकामो भवत्याप्ताः कामा येन स आप्तकामः। कथमाप्यन्ते कामाः? आत्मकामत्वेन।'*[68] प्रस्तुत गद्यखण्ड में प्रश्नोत्तर रूपा शैली द्वारा अकामयमान की स्थिति को अत्यन्त कौशल के साथ स्पष्ट किया गया है। आचार्य शङ्कर क्लिष्ट शब्दों का निर्वचन करके अर्थ का स्पष्टीकरण करते हैं, जिससे

---

68 वही, ४/४/६

उनके भाष्य में पदलालित्य के भी दर्शन होते हैं। जैसे- *'तानि संकल्पादीनि कर्मफलान्तानि चित्तैकायनानि चित्तात्मनि चित्तोत्पत्तीनि चित्ते प्रतिष्ठितानि चित्तस्थितानीत्यपि पूर्ववत्।'*[69]

आचार्य शङ्कर के शैली की यह प्रमुख विशेषता है कि वे गूढ़ातिगूढ़ रहस्यों का विवेचन भी छोटे-छोटे वाक्यों द्वारा करते हैं। मुण्डकोपनिषद्भाष्य में लोकों की व्यर्थता एवं वैराग्य के महत्व का लघुवाक्यात्मक एवं वैदर्भी रीति युक्त वर्णन द्रष्टव्य है- *'परीक्ष्य लोकान् किं कुर्यादिति? उच्यते। निर्वेदम्। निष्पूर्वो विदिरत्र वैराग्यार्थे। वैराग्यम् आयात्। कुर्यादित्येतत्। स वैराग्य-प्रकार: प्रदर्श्यते। इह संसारे नास्ति कश्चिदपि अकृत: पदार्थ:। सर्व एव हि लोका: कर्मचिता। कर्म कृतत्वाच्चानित्या:। न नित्यं किंचिदस्तीत्यभिप्राय:। सर्वं तु कर्म अनित्यस्यैव साधनम्।'*[70]

शाङ्कर भाष्य में प्रयुक्त भाषा सौष्ठव, शीघ्रार्थबोधकता, पदलालित्यता एवं अर्थगाम्भीर्य को देखकर ही भामतीकार ने आचार्य शङ्कर की भाषा शैली को गङ्गाजल के समान निर्मल तथा प्रसन्न गम्भीर कहा है-

नत्वा विशुद्धविज्ञानं शङ्करं करूणाकरम्।
भाष्यं प्रसन्नगम्भीरं तत्प्रणीतं विभज्यते॥
आचार्यकृतिनिवेशनमप्यवधूतं वचोऽस्मदादीनाम्।
रथ्योदकमिव गङ्गाप्रवाहपात: पवित्रयति॥

- (भामती टीका, मङ्गलाचरण,६-७)

आचार्य शङ्कर का वेदान्त विज्ञान विशुद्ध एवं भ्रम, विप्रलिप्सा आदि दोषों से मुक्त है। उनका भाष्य गङ्गाजल के समान पवित्र है। जिस प्रकार गलियों का अपवित्र जल गङ्गा की धारा में मिल जाने से पवित्र हो जाता है, वैसे ही भाष्य के साथ हमारी भामती व्याख्या का सम्बन्ध हो जाने मात्र से हमारी अपवित्र वाणी भी पवित्र हो जायेगी।

आचार्य शङ्कर के प्रादुर्भाव काल में अनेकानेक मत-मतान्तर प्रादुर्भूत हो गये थे। ऐसे समय में तर्कों एवं युक्ति के आधार पर प्रस्थानत्रयी पर भाष्य रचना के माध्यम से वैदिक मान्यताओं के औचित्य प्रतिपादन हेतु श्रुतियों एवं स्मृतियों से प्रमाण उद्धृत करके उनकी तर्कसंगत युक्तियुक्त

---

[69] छा.उ.शां.भा. ७/५/२

[70] मु.उ. १/२/१२

एवं प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस क्रम में ब्रह्मसूत्र-भाष्यकारों के चिन्तन में श्रुति-प्रामाण्य द्रष्टव्य है-

3.4. श्रुति-प्रामाण्य

आचार्य शङ्कर ने जिस काल में भाष्यों की रचना की उस समय तत्कालीन समाज की प्रवृत्ति अवैदिकता की ओर हो रही थी। समाज की वैदिक साहित्य के प्रति उपेक्षा के भाव का मुख्य कारण यह था कि वैदिक कर्मकाण्ड में हिंसा ने अपना स्थान बना लिया था तथा पण्डितवर्ग स्वेच्छाचारी एवं अनाचारी होता जा रहा था। अत: कर्मकाण्ड की इन जटिलताओं से समाज मुक्त होना चाहता था। इन परिस्थितियों में आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य में जहाँ एक ओर वैदिक साहित्य पर की जाने वाली समस्त आपत्तियों का निराकरण वैदिक साहित्य को ही उद्धृत करके किया। आचार्य शङ्कर भाष्य लेखन के क्रम में श्रुतिप्रामाण्य को अन्य स्मृति, युक्ति, पुराणादि समस्त प्रमाणों से सबल एवं स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं- *'वेदस्य हि निरपेक्षं स्वार्थे प्रामाण्यं रवेरिव रूपविषये'*[71] अर्थात् जिस प्रकार सूर्य रूपज्ञान में स्वतन्त्र प्रामाण्य की पूर्ण सामर्थ्य रखता है, उसी प्रकार किसी सिद्धान्त के समर्थन में वेद प्रामाण्य किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता।

आचार्य रामानुज श्रीभाष्य में स्वसिद्धान्त के प्रतिपादन हेतु मुख्यरूप से श्रुति वाक्य को उद्धृत कर संशय का निवारण करते हैं। इसी क्रम में आचार्य वल्लभ ने अणुभाष्य में सिद्धान्तों के प्रमाणीकरण हेतु अनेक श्रुति वाक्यों को उद्धृत किया है। उदाहरणस्वरूप ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य (१/१/१, १/१/२ तथा १/१/३) द्रष्टव्य है।

आचार्य श्रीपति श्रीकरभाष्य में श्रुति-प्रामाण्य को आधार बनाते हुए स्व-सिद्धान्त के पुष्टिकरण में अनेकानेक श्रुतियों, स्मृतियों, पुराणों एवं शिवागमों तथा शिवसम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्रन्थों को उद्धृत करते हैं। *'वीरागमे च सर्वेषां वीरशैवानां श्रौतस्मार्तानुवर्तिनाम्'* (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य,१/१/३) में विरागम की पंक्ति, (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य,१/१/२२ तथा ४/४/२२) में शिवागम, (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य,१/१/२२तथा१/२/७) शिवगीता, (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य, १/१/३) में शिवधर्मशास्त्रे – 'अन्तस्तत्त्वगुणोपेत बहिस्तामससंयुत:' शिवधर्मशास्त्र की पंक्ति

[71] ब्र.सू.शां.भा. २/१/१

तथा (ब्र.सू.श्रीकरभाष्य १/१/१, १/२/५ तथा ३/४/१९) में शिवसंहिता को उद्धृत किया है। इस प्रकार आचार्य श्रीपति साम्प्रदायिक ग्रन्थों को भी स्वपक्ष की सिद्धि में प्रमाण मानते हैं।

3.5. स्मृति-प्रामाण्य

श्रुतिप्रामाण्य को अन्य स्मृति, युक्ति, पुराणादि समस्त प्रमाणों से सबल एवं स्वतन्त्र प्रमाण मानते हुए भी आचार्य शङ्कर कालविपर्यय द्वारा होने वाले बौद्धिक ह्रास के कारण सरलीकृत प्रक्रिया की ओर मानव की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, जनमानस की इस धारणा को ध्यान में रखते हुए *'श्रुत्यनुसारिण्य: स्मृतय: प्रमाणम्'* [72] श्रुत्यनुसारी स्मृति ग्रन्थों, लौकिक-दृष्टान्तों के माध्यम से अद्वैत वेदान्त के गूढ़-रहस्यमय सिद्धान्तों को जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसके परिणामस्वरूप जनमानस पुन: वैदिक साहित्य की ओर उन्मुख हुआ। इसी क्रम में आचार्य मध्व अपने मन्तव्य के समर्थन में अनेकानेक अप्रसिद्ध तथा स्रोतरहित स्मृतिवाक्यों एवं पुराणों को उद्धृत करते हैं। भाष्यकार की दृष्टि में श्रुतियों से भी अधिक महत्व स्मृतियों का है, क्योंकि वे श्रुति-प्रामाण्य की पुष्टि में भी अनेक स्मृतिवाक्यों एवं पुराणों को उद्धृत करते हैं। मध्वाचार्य ने पूर्णप्रज्ञभाष्य का आरम्भ करते हुए स्कन्दपुराण के छ: पद्यों तथा छ: अन्य प्रकीर्ण पद्यों को उद्धृत किया है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' सूत्र में प्रयुक्त 'अथ' शब्द का भाष्य करते हुए– *'अथ शब्दो मंगलार्थोऽधिकारानन्तर्यार्थश्च। अत: शब्दो हेत्वर्थ:'* ऐसा कहकर 'अथ' शब्द का मंगलार्थावद्योतकत्व तथा अधिकारावद्योतकत्व सिद्ध करने हेतु विभिन्न ग्रन्थों से अनेकानेक श्लोकों को उद्धृत किया है।

वल्लभाचार्य के वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण साम्प्रदायिकता का पुट उनके भाष्य में देखने को मिलता है, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने श्रुत्यनुमोदित स्मृतियों का भी प्रामाण्य स्वीकार किया है। अणुभाष्य में वल्लभाचार्य ने स्वविरचित कारिकाओं का भी प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है।

---

[72] वही.

3.6. तर्क-पद्धति

आचार्य शङ्कर की पद्धति पूर्णत: वैदिक-पद्धति पर आधारित है। तर्क यथार्थ ज्ञान के निश्चय में सहायक होता है। यहाँ तर्क तत्त्वज्ञान नहीं है, अपितु तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन है। तर्क से निश्चयात्मक ज्ञान न होने से तथा तर्क की कोई सीमा रेखा न होने के कारण आचार्य शङ्कर तर्क को सबल प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते, क्योंकि- *'कथमेकरूपानवस्थितविषयं तर्कप्रभवं सम्यग्ज्ञानं भवेत्।*[73] सदैव एक रूप में व्यवस्थित न रहने के कारण तर्कोत्पन्न ज्ञान सम्यग्ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे- कोई व्यक्ति अपने तर्कों के आधार पर आत्मा के अणुत्व का प्रतिपादन करता है। अन्य अत्यन्त कुशलमति उसे अणुतर तथा अन्य व्यक्ति उसे अणुतम सिद्ध कर सकता है। इस प्रकार तर्क की कोई सीमा नहीं है। अत: आत्मतत्त्व सम्बन्धी विमर्श में आचार्य शङ्कर तर्क का प्राय: निषेध करते हैं। वे शुष्क तर्क या कुतर्क द्वारा सिद्धान्त निर्णय के पक्षपाती नहीं हैं, किन्तु श्रुत्यनुमोदित तर्क (युक्ति) को वे सिद्धान्त की पुष्टि में आवश्यक मानते हुए श्रुत्यनुमोदित तर्क द्वारा दार्शनिक-गुत्थियों का विश्लेषण कर अर्थ निर्धारण करते हैं। अत: अद्वैत विषयक तथ्य के प्रतिपादन में श्रुति और श्रुत्यनुमोदित स्मृति प्रामाण्य तात्त्विक एवं अकाट्य प्रमाण हैं। शाङ्कर भाष्य-पद्धति में इनकी महती भूमिका रही है।

3.7. आलोचनात्मक-पद्धति

आचार्य शङ्कर के प्रादुर्भाव काल में अनेकानेक मत-मतान्तर तथा दर्शनविषयक भ्रान्त धारणाएं प्रचलित हो गयी थीं। अत: उनके गुण-दोषों का विवेचन किये बिना स्वमत की स्थापना करना कठिन था। गुण-दोषों के मूल्यांकन हेतु आलोचनात्मक-पद्धति का आश्रय अनिवार्य था। आचार्य शङ्कर को तत्त्वाभिनिवेशी आलोचकों की श्रेणी में रखा जा सकता है, क्योंकि इनके भाष्यों में जो सैद्धान्तिक आलोचना है वह पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष की पूर्ण परीक्षा के पश्चात् स्वमन्तव्य का प्रतिपादन करने वाली है।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में आलोचनात्मक-पद्धति के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाये तो दर्शन जगत् में बौद्ध, जैन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा मीमांसा आदि प्रमुख सम्प्रदाय तथा

---

[73] ब्र.सू.शां.भा. २/१/११

इसके अनेक अवान्तर सम्प्रदाय प्रचलित थे, जिन सम्प्रदायों के कारण ब्रह्म, जीव, जगत्, लोक, परलोक, बन्ध तथा मोक्षादि दार्शनिक विषय विवाद के केन्द्र बिन्दु बन गये थे। आचार्य शङ्कर ने भाष्य लेखन का कार्य जब प्रारम्भ किया तब उपर्युक्त सभी सम्प्रदाय प्रचलित थे, इसलिये उन्हें अपने मूल सिद्धान्त *'अद्वैतमेव परं तत्त्वम्'* तथा '*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:'*[74] की स्थापना के लिये पूर्वपक्षियों के प्रबल तर्कों की श्रुतिवाक्यों के उद्धरणों से आलोचना करनी पड़ी। यह आलोचनात्मकता ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद (तर्कपाद) में विशेषरूप से द्रष्टव्य है।

3.8. निर्वचन-पद्धति

इस वैदिक पद्धति के माध्यम से शब्दों में निहित अर्थों को विग्रह के माध्यम से प्रकट किया जाता है। वैदिक परम्परा से प्रचलित इस पद्धति का उत्तरोत्तर विकास आचार्य शङ्कर से लेकर बाद के भाष्यकारों में देखने को मिलता है। इस विकास के क्रम में निम्बार्क भाष्य में भी इस पद्धति का प्रयोग किया गया है। 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनि:'[75] इस सूत्र के भाष्य में **वैश्वानर** शब्द का निर्वचन आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार से किया है- *'विश्वश्चायं नरश्चेति, विश्वेषां वा अयं नर:, विश्वे नरा अस्येति विश्वानर: परमात्मा सर्वात्मत्वात् विश्वानर एव वैश्वानर:।'*

आचार्य निम्बार्क ने **वैश्वानर** शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है- *'विश्वश्चासौ नरश्च सर्वात्मा भगवान् वैश्वानर इति।'*[76]

ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य में भी निर्वचन-पद्धति का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (१/२/२८) में आचार्य श्रीपति ने **वैश्वानर** शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है- *'विश्वश्चासौ नरश्चेति, विश्वेषां नर इति। विश्वेनरायस्येतिवा विश्वानर: विश्वानर एव वैश्वानर:।'*

इसी प्रकार *'अनुपपत्तेस्तु न शारीर:'* (ब्रह्मसूत्र,१/२/३) सूत्र में आये तु शब्द पर भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर *'तु शब्दोऽवधारणार्थ:'* तथा आचार्य श्रीपति ने *'तु शब्दो निश्चयार्थ:'* कहा है।

---

[74] ब्रह्मनामावलीमाला, २०

[75] ब्र.सू. १/२/२८

[76] वही, निम्बार्कभाष्य, १/२/२८

इसी क्रम में आचार्य वल्लभ ने भाष्य में निहित सिद्धान्तों को सुबोध्य बनाने हेतु शब्दव्युत्पत्ति तथा परिभाषा-पद्धति को अपनाया है। जैसे- *'शास्त्रे योनि: शास्त्रयोनि:। शास्त्रोक्त कारणत्वादित्यर्थ:। शास्तीति शास्त्रंवेद:।'* (ब्रह्मसूत्रअणुभाष्य, *१/१/२*) *'समानस्यभाव: सामान्यम्'* (वही, *१/१/*९), **विपश्चिता-** *'विविधं पश्यच्चित्त्वं हि विपश्चिच्छब्द:'* (वही, १/१/११)। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य की हिन्दी व्याख्या करते हुए 'निर्वचन-पद्धति' के क्रम में 'शास्त्रयोनित्वात्' (ब्रह्मसूत्र,१/१/३) सूत्र का निर्वचन आचार्य विश्वेश्वर दो प्रकार से करते हैं- एक 'प्रमाण' की दृष्टि से तथा दूसरा 'कारण' की दृष्टि से।

प्रमाण की दृष्टि से 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का निर्वचन इस प्रकार है- *'शास्त्रं योनि: प्रमाणं यस्मिन् तस्य भाव: शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्'* अर्थात् सूत्रकार ने जो ब्रह्म को जगत् के जन्मादि का कारण कहा है, वह शास्त्रप्रमाणक है। शास्त्रप्रमाणक से तात्पर्य है कि शास्त्रों में ब्रह्म को ही जगत् के जन्मादि का कारण बताया गया है। अत: वेद प्रतिपाद्य होने से ही 'जगत् जन्मादिहेतुत्व' को ब्रह्म का लक्षण कहा गया है।

कारण की दृष्टि से 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र का निर्वचन इस प्रकार है- *'शास्त्रस्य योनि: शास्त्रयोनि: तस्य भाव: शास्त्रयोनित्वं तस्मात् शास्त्रयोनित्वात्'* अर्थात् वेदादि शास्त्र का कारण ब्रह्म है, इसलिये वही जगत् के जन्मादि का कारण हो सकता है।

इस प्रकार आचार्य परम्परा द्वारा निर्वचन-पद्धति का प्रयोग करते हुए सूत्र में निहित गूढ़ार्थ का उद्घाटन किया गया है।

3.9. दृष्टान्त-पद्धति

सिद्धान्त के स्पष्टीकरण तथा जन-सामान्य के लिए ग्राह्य बनाने हेतु न्याय एवं दृष्टान्त का प्रयोग आवश्यक होता है। न्याय दृष्टान्तों की अपेक्षा किञ्चित् विचारप्रौढ़ता की अपेक्षा रखते हैं, क्योंकि वे लोक एवं शास्त्र प्रसिद्ध दृष्टान्त विशेष होते हैं, परन्तु दृष्टान्त लोकव्यवहार के नितान्त सामान्य तत्त्व हैं, जिनमें शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती दृष्टान्तों के माध्यम से विद्वान् एवं अल्पज्ञ सभी सिद्धान्तों के अवबोध में सारलता का अनुभव करते हैं।

सिद्धान्तावगति में श्रुति और श्रुत्यनुमोदित स्मृतियों से प्रमाण उद्धृत करना, तर्क-प्रक्रिया एवं परार्थानुमान आदि साधन आंशिक रूप से तो अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों को जन-सामान्य तक पहुँचा सकते हैं, परन्तु पूर्णत: नहीं। यदि पूर्ण रूप से भाष्यों को जन-सामान्य का विषय बनाना अभिष्ट हो तो सामान्य जनों के दैनिक व्यवहार की अनुभूतियों को सिद्धान्त प्रतिपादन में साधनता प्रदान करना परमावश्यक है। आचार्य शङ्कर सामान्य वर्ग की इस मानसिकता से पूर्ण रूप से परिचित थे, इसीलिए वे लौकिक एवं शास्त्रीय दृष्टान्तों के माध्यम से तथा दैनिक जीवन के अनेकानेक अनुभूत तथ्यों को दृष्टान्त रूप में उद्धृत करके स्वसिद्धान्त को साधारणातिसाधारण जन के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयास करते है। एक ओर वे अरुन्धती न्याय, समुद्रतरंग-न्याय, काकतालीय-न्याय, अन्धगोलाङ्गूल-न्यायादि लोक एवं शास्त्र प्रसिद्ध दृष्टान्तविशेषों (न्यायों) का आश्रय लिया है, तो दूसरी ओर सामान्य से सामान्य जन भी दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में जिन तथ्यों की साक्षात् अनुभूति करता है, उन अनुभव के विषयभूत रज्जु-सर्प दृष्टान्त, शुक्तिका-रजत दृष्टान्त, तन्तु-पट दृष्टान्त, घटाकाश-महाकाश दृष्टान्त, मृत्तिका-घट इत्यादि बहुविध दृष्टान्तों के माध्यम से वेदान्त के गम्भीर तथा गूढ़-रहस्यों को जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर द्वारा 'दृष्टान्त-पद्धति' का उपयोग करते हुए छान्दोग्य-उपनिषद् के छठे अध्याय में आठवें खण्ड से प्रारम्भ करके सोलहवें खण्ड तक कुल नव खण्डों में नव दृष्टान्तों द्वारा जैसे- 'पक्षी और सूत्र', 'नाना प्रकार के वृक्षों के रस का मधु के रूप में अभेद', 'नदियों और समुद्र का अभेद', 'शुद्ध जल और नमक', 'अज्ञ जीवों का समूह और प्राणादि का नियामक तत्त्व' आदि दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में घटित होने वाले दृष्टान्तों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हुए अभेद (ऐक्य) का प्रतिपादन कर अन्त में 'स आत्मा तत्त्वमसि' निष्कर्ष निकाला गया है। अत: 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर द्वारा 'दृष्टान्त-पद्धति' का उपयोग किया गया है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में आचार्य मध्व द्वारा भी 'दृष्टान्त-पद्धति' का उपयोग किया गया है, किन्तु 'दृष्टान्त-पद्धति' का उपयोग करते हुए आचार्य मध्व 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में छान्दोग्य-उपनिषद् में उद्धृत नव दृष्टान्तों के माध्यम से 'आश्रय-आश्रयी' भाव द्वारा भेद का प्रतिपादन करते हुए अन्त में 'स आत्मा तत्त्वमसि' का भेद परक निष्कर्ष निकाला है।

आचार्य रामानुज अपने सिद्धान्त की पुष्टि हेतु तथा सूत्रों में निहित गूढ़ तत्त्वों को सामान्य जन के लिये सुबोध्य बनाने की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध लोक एवं शास्त्र विख्यात दृष्टान्त विशेषों का श्रीभाष्य में प्रयोग करते हैं।

आचार्य श्रीपति ने अपने भाष्य को जनसामान्य तक पहुँचाने हेतु भाष्य में लोकव्यवहार के दैनन्दिनीय अनुभूत अनेकानेक दृष्टान्तों के माध्यम से गूढ़ सिद्धान्तों को सरलातिसरल रूप में सामान्य जन के समक्ष प्रस्तुत किया।

इसी क्रम में निम्बार्क का ब्रह्मसूत्र भाष्य इतना संक्षिप्त है कि उसमें दृष्टान्त एवं न्यायों जैसी प्रयोग प्रक्रिया को भाष्यकार ने सम्मिलित नहीं किया है।

सिद्धान्तों के सरलीकरण एवं स्पष्टीकरण में आचार्य वल्लभ ने यत्र-तत्र लौकिक दृष्टान्तों का भी प्रयोग किया है। जैसे- *'लोके हि केनचित् पृष्टो विष्णुमित्र आह, यज्ञदत्तो ममात्मेति।'* यह दृष्टान्त ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य(*१/१/६*) के 'उपोद्धात-भाष्य' में पूर्वपक्ष की ओर से प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार पुत्रादि का दृष्टान्त ब्रह्मसूत्र-अणुभाष्य(*१/१/७*) में द्रष्टव्य है।

3.10. न्याय-पद्धति

अवैदिक मान्यताओं के निराकरण तथा पारमार्थिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं वैज्ञानिक प्रयोगपद्धति पर आधारित वैदिक ज्ञान की पुष्टि हेतु आचार्य शङ्कर ने लोक व्यवहार में दिन-प्रतिदिन अनुभव के विषयभूत दृष्टान्तों एवं जनमानस की बुद्धि का विषय बनने वाले अत्यन्त व्यावहारिक न्यायों के माध्यम से भाष्यकार ने वेदान्त के गम्भीर तथ्यों को सरल रूप में प्रस्तुत किया है।

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में प्रयुक्त कुछ न्यायों का विवरण अत्यन्त संक्षिप्त रूप में इस प्रकार है-

- **अन्धगोलाङ्गूल न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में इस न्याय का प्रयोग चेतन ब्रह्म ही आत्मा शब्द वाच्य है, इस तथ्य की सिद्धि हेतु किया गया है।
- **अरुन्धती न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में इस न्याय का प्रयोग आत्मा को चेतन सिद्ध करने के लिये किया गया है।
- **स्थूणानिखनन न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद में इस न्याय का प्रयोग ब्रह्म की जगत् के प्रति हेतुता को दृढ़ करने के लिये किया गया है।

➢ **समुद्र तरङ्ग न्याय-** इस न्याय का प्रयोग शारीरक भाष्य में ब्रह्म और जगत् का अभेद सिद्ध करने हेतु किया गया है।

➢ **अर्धजरती न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य(१/१/१९) में ब्रह्म की आनन्दमयता के प्रसंग में पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप रूप में प्रत्युपस्थापित किया गया है।

➢ **स्वामीभृत्य न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य(२/१/४) में ब्रह्म को जगत् का निमित्तोपादान कारण स्वीकार करने से भोक्तृ-भोग्य सम्बन्ध के विलोप प्रसंग में उद्धृत किया गया है।

➢ **बीजाङ्कुर न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य(२/१/३६) तथा (३/२/९) में सृष्टि प्रवाह की नित्यता प्रकट करने हेतु इस न्याय का प्रयोग किया गया है।

➢ **तन्तुपट न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य(२/२/१२) में ब्रह्म की निमित्तोपादान कारणता पर पूर्वपक्ष की ओर से आक्षेप रूप में इस न्याय का प्रयोग किया गया है।

➢ **द्विचन्द्रदर्शन न्याय-** ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य(४/१/१९) में मुक्ति और आरब्ध कर्मों के प्रसंग में इस न्याय का प्रयोग किया गया है।

आचार्य रामानुज श्रीभाष्य में अर्थ संप्रेषणीयता हेतु बहुविध न्यायों का प्रयोग करते हुए तथ्य का प्रतिपादन करते हैं।

आचार्य श्रीपति ने अपने भाष्य को जनसामान्य तक पहुँचाने हेतु अपने भाष्य में लोकव्यवहार के अनेकानेक दृष्टान्तों एवं न्यायों का प्रयोग किया है। ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य(१/१/२, १/१/१८, २/१/२९) में अयस्कान्तसूचीन्याय का प्रयोग, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य(३/२/२९, ३/३/१५) में अंशांशिन्याय, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य(२/२/१०) में कारणगुणप्रक्रम न्याय, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (३/३/३५) में छत्रिन्याय, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (१/१/२) में दग्धपटन्याय, प्रकृतिविकार-न्याय तथा बीजांकुरन्याय, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य(३/१/७) में समुद्रतरंग न्याय, ब्रह्मसूत्रश्रीकरभाष्य (४/४/१०) में अध्यारोपापवादन्याय इत्यादि न्यायों का प्रयोग भाष्यकार ने सिद्धान्त को लोकग्राह्य बनाने हेतु किया है।

इस प्रकार भाष्यकार वैदिक मान्यताओं के औचित्य प्रतिपादन हेतु अनेकानेक श्रुतियों एवं स्मृतियों से प्रमाण उद्धृत करके उनकी तर्कसंगत युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। भाष्यों में प्रयुक्त पद्धतियों के अवलोकन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि ब्रह्मसूत्रभाष्य में प्रयुक्त समस्त न्याय एवं दृष्टान्तों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाये तो

वेदान्त-विचारधारा के सम्बन्ध में सामान्य से सामान्य व्यक्ति को कोई संदेह शेष नहीं रह जायेगा।

3.11. लक्षण-परिभाषा-पद्धति

व्याख्या के क्रम में आचार्य शङ्कर क्लिष्ट शब्दों तथा परस्पर सूक्ष्म भेद रखने वाले शब्दों को परिभाषित करते हैं। इनके द्वारा दी गयी परिभाषाएँ इतनी युक्तियुक्त हैं कि तत्-तत् शब्दों के अर्थ सम्बन्धी समस्त संशयों को दूर कर देती हैं। जैसे-

- **सत्यम्-** 'अनृतवर्जनम्, यथा भूतार्थवचनं च अपीडाकरम्।'[77]
- **ऋतम्-** 'यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितम्।'[78]

सत्य एवं ऋत शब्दों को अनेक बार एक दूसरे के पर्याय के रूप में प्रयुक्त कर दिया जाता है, परन्तु दोनों शब्दों की परिभाषाएँ इनके परस्पर भेद को स्पष्ट करती हैं। सत्य जहाँ अनुभूत यथाभूतार्थ वचन है, वहीं ऋत प्रामाणिक शास्त्रवचन है।

- **दम-** 'बाह्य करणोपदम:।'[79]
- **शम-** 'अन्त: करणोपशम:।'[80]

इन दोनों शब्दों की परिभाषा के विना इनके पारस्परिक भेद को स्पष्ट नहीं किया जा सकता।

- **श्रद्धा तथा भक्ति-** 'श्रद्धा आस्तिक्य बुद्धि:। भक्तिर्भजनं तात्पर्यम् (तत्परता)।'
- **ज्ञान एवं विज्ञान-** 'ज्ञानं शास्त्रत: आचार्यत: च आत्मादीनाम् अवबोध:। विज्ञानं विशेषत: तदनुभव:।'[81]

---

77 मु.उ.शां.भा. १/८/४

78 तै.उ.शां.भा. ७/२३/१

79 वही, १/९/१

80 वही.

81 गी.शां.भा. ३/४१

➢ **हर्ष एवं मोद-** 'हर्ष: प्रियलाभे अन्त:करणस्य उत्कर्षो रोमांचनाश्रुपातादि लिङ्ग:।'[82]

➢ **याग एवं होम-** 'यागो देवतामुद्दिश्य स्वत्व परित्याग:, स च आसेचनाधिको होम:।'[83]

अर्थात् देवताओं को उद्देश्य बनाकर द्रव्य त्याग 'याग' है, जबकि अग्नि में आहुति डालना रूप क्रिया 'होम' है।

➢ **कीर्ति एवं यश-** 'आत्मपरोक्षविश्रुतत्वं कीर्ति: यश: स्वकरणसंवेद्यं विश्रुतत्वम्।'[84]

अर्थात् परोक्ष प्रशंसा 'कीर्ति' एवं स्वेन्द्रियानुभूत (श्रुत) प्रशंसा 'यश' कहलाता है।

➢ **परमाणु-** 'अवयवावयवि विभागो यतो निवर्तते सोऽपकर्ष पर्यन्तगत: परमाणु:।'[85]

➢ **देव एवं असुर-** 'शास्त्रजनित ज्ञानकर्मभाविता द्योतनाद् देवा भवन्ति। त एव स्वाभाविकप्रत्यक्षानुमानजनितदृष्टप्रयोजन कर्म ज्ञान भाविता असुरा:। स्वेष्वेवासुषु रमणात् सुरेभ्यो वा देवेभ्योऽन्यत्वात्।'[86]

अर्थ स्पष्टीकरण हेतु आचार्य रामानुज भाष्य की विषयवस्तु में आये पदों की व्युत्पत्ति, परिभाषा तथा पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग करते हुए क्लिष्ट एवं समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्दों को परिभाषित कर अर्थ का निर्धारण करते हैं। श्रीभाष्य के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि गौड़ी-रीति के प्रयोग, सन्धि क्लिष्टता एवं समास बाहुल्य के कारण अर्थावग्रहण में क्लिष्टता का अनुभव होता है। यद्यपि वैष्णवभाष्यों में रामानुजीय भाष्य-पद्धति अपेक्षाकृत सरल तथा अर्थगौरव पूर्ण है।

---

82 वही, १२/२५

83 बृ.उ.शां.भा. १/४/१६

84 छा.उ. शां.भा. ३/१३/४

85 ब्र.सू.शां.भा. २/२/२१

86 वही, १/३/१

इसी क्रम में पूर्णप्रज्ञभाष्य का अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि सूत्र में निहित गूढ़ार्थक शब्दों के अर्थोद्घाटन के क्रम में क्लिष्ट शब्दों का अनेकानेक निश्चितार्थावद्योतक परिभाषाओं, शब्दों के निर्वचनों तथा अनेक पर्यायवाची शब्दों के समावेश से सिद्धान्त के अर्थावबोध में सरलता आती है, किन्तु इस दृष्टिकोण से पूर्णप्रज्ञभाष्य का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि इसमें कोशमयता, परिभाषा-पद्धति तथा निर्वचन-पद्धति का प्राय: अभाव दिखता है।

भाष्यों में प्रयुक्त परिभाषात्मक-पद्धति द्वारा भाष्यकार अनेकानेक शब्दों की शास्त्रावधारित तथा तर्क संगत परिभाषाएँ देकर भाष्यों में अर्थ वैशद्य का प्रणयन किया है। इस पद्धति के अधिग्रहण से क्लिष्ट पारिभाषिक शब्दों एवं सूक्ष्म भेद वाले परन्तु आपातत: समानार्थक प्रतीत होने वाले शब्दों को समझने में अत्यन्त सहायता मिलती है।

इस प्रकार ऋषि-परम्परा द्वारा सृष्टि के गम्भीर एवं रहस्यमय भावों को अतिसंक्षिप्त एवं प्रौढ़शैली का आश्रय लेते हुए बीजरूप में निबद्ध किया गया, किन्तु कालक्रम से मेधाशक्ति के क्रमिक ह्रास होने के कारण बीजरूप में निहित प्रौढ़-रचनाएँ जब अध्येताओं को दुरूह प्रतीत होने लगी तथा समाज इस चिन्तन के अध्ययन-अध्यापन से विमुख होने लगा, तब आचार्य-परम्परा द्वारा अर्थ के विशदीकरण, स्पष्टीकरण एवं जनमानस में लोकप्रिय बनाने हेतु भाष्य, टीका, वार्तिक, निर्वचन आदि अनेकानेक व्याख्या-पद्धतियों का उत्तरोत्तर विकास किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप अत्यन्त क्लिष्ट एवं अवबोध में दुरूह प्रतीत होने वाली रचनाओं के अर्थ-संप्रेषणीयता में वृद्धि हुई और वैदिक-चिन्तन के अध्ययन-अध्यापन के प्रति समाज की पुन: प्रवृत्ति हुई। इस प्रकार भाष्यकारों द्वारा स्व-स्व चिन्तन से सम्बद्ध व्याख्या-पद्धतियों के माध्यम से जनमानस को वैदिक-धारा से जोड़ने एवं समाज को एकता के सूत्र में व्यवस्थापित करने का महनीय कार्य किया गया

चतुर्थ-अध्याय

उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

चतुर्थ-अध्याय

उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

जीव और ब्रह्म का भेद दूर कर एकत्व का अनुभव कराने के लिये श्रुतियों में 'महावाक्य' कहे गये हैं। ये वाक्य बहुत बड़े नहीं हैं, किन्तु इनमें सर्वोच्च ज्ञान का तत्त्व कहा गया है, इसीलिये इन्हें 'महावाक्य' कहते हैं। महावाक्यों के ज्ञान के बिना कोई भी साधक (पुरुष) अद्वयानन्द की अनुभूति नहीं कर सकता। अत: अद्वैतानुभूति के लिए महावाक्यों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। महावाक्य के अर्थ-निर्धारण, चिन्तन, मनन और निदिध्यासन के माध्यम से ही अज्ञान-रूपी बन्धन की परिसमाप्ति होने पर शुद्ध अन्त:करण में ब्रह्म और आत्मा की अखण्ड एकता (अभेद प्रतीति) सम्भव है।

सामान्य रूप से महावाक्य के सम्बन्ध में यदि चिन्तन करें कि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण की क्यों आवश्यकता है? महावाक्य के अर्थ-निर्धारण की दिशा में प्रवृत्त होने जा रहे हैं, क्यों? यदि अर्थ-निर्धारण न किया जाये तो क्या समस्याएँ आती हैं? अर्थ-निर्धारण की दिशा में प्रवृत्त होने का मुख्य कारण यह है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' (शुद्ध चैतन्य, परमात्मा) और 'त्वम्' (जीव) के विषय में संसार में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं।

जैसे- 'त्वम्' पदार्थ विषयक संशय का प्रदर्शन करते हुए ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य (१/१/१) में कहा गया है- *'देहमात्रं चैतन्यविशिष्टमात्मेति प्राकृता जना लौकायतिकाश्च प्रतिपन्ना: ... विज्ञानमात्रं क्षणिकमित्येके। शून्यमित्यपरे।'* अर्थात् 'त्वम्' पद वाच्य जीवात्मा को लक्ष्य कर कोई देह को आत्मा, कोई इन्द्रिय को आत्मा, कोई मन को आत्मा, तो कोई क्षणिक विज्ञान को

आत्मा मानता है। आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन या क्षणिक विज्ञान के रूप में अवगत करने पर 'तत्' पदार्थ के धर्म नित्यत्व आदि के साथ 'त्वम्' पदार्थ का सम्बन्ध नहीं बनता, क्योंकि देहादिरूप आत्मा कभी भी नित्य नहीं हो सकता। अत: संसार में 'त्वम्' पद वाच्य जीवात्मा के विषय अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं।

इसी प्रकार 'तत्' पद वाच्य की विप्रतिपत्ति दिखाते हुए कहा गया है कि- 'तत्' पद परोक्षत्व तथा सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है और 'त्वम्' पद प्रत्यक्षत्व तथा अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य का वाचक है। अत: 'तत्' पद वाच्य परमात्मा शरीर से ही भिन्न नहीं, अपितु जीव से भी भिन्न है। 'आत्मा स भोक्तुरित्यपरे'(ब्र.सू.शां.भा.१/१/१) इस वाक्य के द्वारा भी विप्रतिपत्ति प्रदर्शित की गयी है। यहाँ 'स:' पद का अर्थ ही 'तत्' पद का अर्थ शुद्ध चैतन्य रूप परमात्मा है तथा 'भोक्ता' का अर्थ अविद्योपाधिक जीवात्मा है। वस्तुत: 'त्वम्' पद वाच्य जीवात्मा और 'तत्' पद वाच्य परमात्मा का अभेद बोधित होता है, किन्तु यहाँ दोनों में भेद प्रदर्शित करते हुए 'तत्' पद वाच्य परमात्मा में विरुद्ध मत द्वारा विप्रतिपत्ति दिखाई गयी है। इन विप्रतिपत्तियों के हेतुभूत मतों में कौन सा मत ठीक है, यह विचार किये बिना किसी एक मत का अवलम्बन करने पर नि:श्रेयस की प्राप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि तत्त्वज्ञान से ही नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है, मिथ्याज्ञान से नहीं। अत: संशय एवं विप्रतिपत्तियों के निवारण हेतु महावाक्य के अर्थ-निर्धारण की आवश्यकता है।

इस अध्याय में 'तत्त्वमसि'(छा.उ.६/८/७) महावाक्य का विश्लेषण करते हुए उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यों के आधार पर अर्थ-निर्धारण का प्रयास किया जायेगा। इस विश्लेषण के क्रम में आचार्य शङ्कर द्वारा विरचित प्रकरण-ग्रन्थों एवं स्तोत्र-ग्रन्थों की भी सहायता आवश्यकतानुसार ली जायेगी।

अनन्त भावों से भरे एवं गम्भीर अर्थ को समाहित किये हुए महावाक्य अपरिच्छिन्न ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए साधक को उसका अनुभव पाने का साधन बताते हैं, साथ ही अनुभव प्राप्त करने पर साधक की आन्तरिक दशा का निरूपण भी करते हैं।

4.1. महावाक्य सम्बन्धी अखण्डतार्थता का तात्पर्य

अद्वैत वेदान्त का प्रतिपाद्य विषय अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म का ही एकमात्र परमार्थ-तत्त्व के रूप में प्रतिपादन करना अभिष्ट है और इसके प्रतिपादक महावाक्य (श्रुतिवाक्य) हैं। श्रुतिवाक्य रूपी आगम-प्रमाण के आधार पर ही अद्वैतवेदान्ती इस जगत् के सार तत्त्व (ब्रह्म) की सत्ता सिद्ध करते हैं। आगम-प्रमाण वाक्यात्मक है। सामान्य रूप से वाक्य का 'संसर्गरूप-अर्थ' ही लोक में प्रसिद्ध है एवं कुछ दार्शनिकों का भी यही अभिमत है। इस अवधारणा से वाक्यमात्र का अर्थ यदि संसर्गात्मक मान लिया जाये तो सभी श्रुतिवाक्य भी संसर्गात्मक होंगे, अत: संसृष्टात्मक महावाक्य से अखण्डार्थ का प्रतिपादन कैसे सम्भव हो सकेगा? यह पूर्वपक्ष का अभिमत है। इस सम्बन्ध में अखण्डार्थता क्या है? यह विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

अखण्डार्थता का निरूपण करते हुए तत्त्वप्रदीपिकाकार का कथन है कि वाक्यों में संसर्ग को विषय न करने वाले यथार्थ ज्ञान की जो हेतुता है, वही अखण्डार्थता है अथवा अपर्याय पदों की एक प्रातिपदिकार्थता का अभिप्राय अखण्डार्थता में है -

संसर्गासङ्गिसम्यग्धीहेतुता या गिरामियम्।
उक्ताखण्डार्थता यद्वा तत्प्रातिपदिकार्थता॥

- (तत्त्वप्रदीपिका,१/१९)

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि लक्षण वाक्यों में भी दृष्ट है कि संसर्ग को विषय न करने वाली प्रमा का जनक होना ही अखण्डार्थक होना है। ऊपर कहे गये- 'अपर्याय पदों की एक प्रातिपदिकार्थता में पर्यवसायिता' इस वाक्य में अखण्डार्थता का लक्षण सम्भव है। इस प्रसंग में एक पद से ही जिज्ञासित प्रातिपदिकार्थ कहने पर अन्य पद का प्रयोग व्यर्थ होगा–यह कहना उचित नहीं होगा, क्योंकि व्यावर्त्य पदार्थ भिन्न-भिन्न हो तो व्यावृत्ति के लिए सभी पदों की आवश्यकता होती है, जैसे- 'प्रकृष्टप्रकाशचन्द्र:' में 'प्रकृष्ट' पद से मन्द प्रकाश, नक्षत्र, खद्योतादि की 'प्रकाश' पद से प्रकृष्ट अन्धकारादि की व्यावृत्ति करके जिज्ञासित चन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्र का ग्रहण किया जाता है –

'अपर्यायशब्दानामेकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वमखण्डार्थता। न चैवं पदान्तरवैयर्थ्यम्, व्यावर्त्यभेदार्थवत्त्वोपपत्ते:। तथाहि लोके प्रकृष्टप्रकाशचन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टपदेनाप्रकृष्टखद्योतादे: प्रकाशपदेनाप्रकाशात्मप्रकृष्टतमसादेश्च व्यवच्छेदेन बुभुत्सितश्चचन्द्रप्रातिपदिकार्थमात्रार्थ: प्रतिपाद्यते, अन्यथा वक्तुरबुभुत्सितमर्थं प्रतिपादयतोऽनवधेयवचनत्वप्रसङ्गात्।' [87]

---

[87] तत्त्वप्रदीपिका, पृ. १९६

व्यावृत्ति या उससे युक्त पदार्थ के प्रतिपादन से संसृष्टार्थता होगी– इस प्रकार की शङ्का भी उचित प्रतीत नहीं होती, क्योंकि व्यावृत्ति के द्वारा ही लक्ष्य स्वरूप के परिचायकता में पदों का तात्पर्य माना जाता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि लक्षण वाक्यों में सत्यादि पद असत्य, जड़, परिच्छिन्न आदि की व्यावृत्ति द्वारा लक्ष्य 'ब्रह्म' के प्रतिपादक हैं। यद्यपि ये सत्यादि पद सत्यत्व, ज्ञानत्वादि अनेक आकार का ज्ञान उत्पन्न करते हुए भी इन पदों का मुख्य प्रयोजन लक्ष्य रूपी 'ब्रह्म' से असत्यत्वादि की निवृत्ति करना है। लक्षणा-शक्ति के द्वारा 'शुद्ध ब्रह्म' मात्र में ही 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इन लक्षण वाक्यों का अभिप्रेतार्थ निहित है, अनेकरूपता में नहीं।

उपक्रम में 'ब्रह्म' शब्द सुनकर केवल ब्रह्मशब्दार्थ की जिज्ञासा होती है, उसी को निवृत्त करने के लिये *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* लक्षण वाक्य कहा गया है। अत: 'ज्ञान गुण वाला ब्रह्म है' ऐसा गुणगुणीभाव यहाँ ऋषि को अभिप्रेत नहीं है। *'नेह नानास्ति किञ्चन'* श्रुतिवाक्य से ब्रह्म का अनेक-रसत्व होना निषिद्ध है तथा *'एकधैवानुद्रष्टव्यम् एकमेवाद्वितीयम्'* श्रुतिवाक्य से एकत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार अद्वैत प्रतिपादक श्रुतिवाक्यों में अखण्डार्थत्व सिद्ध होता है।

अखण्डार्थता के सम्बन्ध में 'अद्वैतसिद्धि' में कहा गया है कि अपर्याय शब्दों की एक प्रातिपदिकार्थ मात्र में पर्यवसायि होना भी अखण्डार्थता है- *'अपर्यायशब्दानां प्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं सम्यगेव। तत्रापि एकत्वंप्रातिपदिकार्थस्यैकधर्मावच्छेदेन वृत्तिविषयत्वं, नत्वेकमात्रव्यक्तित्वम्।'*[88]

अर्थात् यहाँ एकत्व का तात्पर्य है- प्रातिपदिक का एक धर्मावच्छेदेन वृत्तिविषय होना, एक व्यक्ति मात्र होना नहीं है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती के कथन का अभिप्राय यह है कि प्रातिपदिक का अर्थभूत मात्र एक व्यक्ति नहीं, अपितु एक धर्म के अवच्छेद से उस प्रातिपदिक के अर्थभूत सभी व्यक्ति।

आचार्य अमलानन्द द्वारा विरचित 'वेदान्तकल्पतरु' नामक ग्रन्थ में भी इसी अर्थ में अखण्डार्थ का प्रतिपादन किया गया है, जो द्रष्टव्य है- *'अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णाता अखण्डं प्रतिपेदिरे।'*[89] अर्थात् अपर्याय अनेक शब्दों से प्रकाशित होते हुए भी अवशिष्ट एक ही अर्थ को शाङ्कर वेदान्त में अखण्ड माना गया है।

---

88 अ.सि.पृ. ६७४

89 वे.क. १/१/२

'अद्वैततत्त्वशुद्धि' नामक ग्रन्थ में अनन्तकृष्ण शास्त्री जी ने 'तत्त्वमसि' महावाक्य को अखण्डार्थ प्रतिपादक वाक्य सिद्ध करते हुए कहा है- *'तत्त्वमसिवाक्ये तु संसर्गविषयकत्वे संशयात् तदविषयत्वतात्पर्यनिर्णयाच्च न संसर्गावगाहित्वम्।'* [90]

अर्थात् वाक्य संसर्ग का बोध कराने वाला होता है, यह नियम उस स्थान पर प्रयुक्त होता है, जहाँ वाक्य के तात्पर्य में संशय की सम्भावना विद्यमान हो, किन्तु 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तो जीवब्रह्मैक्य रूप तात्पर्य षड्-विध लिङ्ग द्वारा निर्णीत है। अत: यह महावाक्य संसर्ग का बोधक नहीं है, अपितु अखण्डर्थक है और इसी अखण्डर्थता में ऋषि का तात्पर्यार्थ निहित है।

4.2. छान्दोग्य उपनिषद् के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श

सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् के (६/८/७) में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का वर्णन प्राप्त होता है। उपदेशक की सम्पूर्ण शिक्षा निहित होने के कारण इसे 'उपदेशवाक्य' भी कहा जाता है। इसमें जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध बताते हुए उनके तात्त्विक रूप की एकता दिखाई गयी है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में तीन शब्द हैं- 'तत्', 'त्वम्' और 'असि'। इन सरल से लगने वाले तीन शब्दों का बड़ा गम्भीर अर्थ है। इन तीन शब्दों के महावाक्य में रहस्यमय भाव छिपे हुए हैं और तत्त्वज्ञान पाने के लिये अनेक मूल्यवान निर्देश मिलते हैं। इन्हें समझे बिना अपने हृदय के द्वार खोलकर परमात्मा के राज्य में प्रवेश करना कठिन है। छान्दोग्योपनिषद् में आरुणि (गुरु) ने अनेक दृष्टान्तों द्वारा नौ बार उपदेश देकर श्वेतकेतु (शिष्य) को इसका बोध कराया है। इसी से इसकी गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। इस महावाक्य का जीवब्रह्मैक्य रूप वास्तविक अर्थ प्राप्त होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व हमारी बुद्धि में दृढ़ता से स्थापित नहीं हो पाता। अत: इस सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् एवं उस पर आधारित शाङ्करभाष्य अवलोकनीय है-

'स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ।'[91]

अर्थात् वह जो सत्संज्ञक अणिमा है, उसी से सारा जगत् आत्मवान् है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है। इस मन्त्र के सम्बन्ध में शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है-

---

90 अ.त.शु.पृ. ७०

91 छा.उ. ६/८/७

'येन चात्मनात्मवत्सर्वमिदं जगत्तदेव सदाख्यं कारणं सत्यं परमार्थसत्। अत: स एवात्मा जगत: प्रत्यक्स्वरूपं सतत्त्वं याथात्म्यम्। आत्मशब्दस्य निरुपपदस्य प्रत्यगात्मनि गवादिशब्द-वन्निरूढत्वात् अतस्तत्सत्त्वमसीति।'[92]

अर्थात् जिस सत् ने ईक्षण किया, तेज, जल और अन्न का रूप धारण किया, उसका त्रिवृत् कर समस्त सृष्टि का विस्तार कर जीव रूप में उसमें प्रवेश किया, वह सत् अत्यन्त सूक्ष्म रूप है। वह समस्त जगत् का आत्मा है और वही परमार्थ सत् है। शरीर, प्राण, मन आदि प्रतिभास और वाचारम्भण मात्र हैं। अत: हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्स्वरूप आत्मा हो। उस एक अद्वितीय तत्त्व से हम सब पृथक् नहीं हैं। सुषुप्ति अवस्था में सम्पूर्ण प्रजा नित्य इसी सत्य को प्राप्त कर विश्राम और सुख का अनुभव करती है- *'स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुष: स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनँ स्वपितीत्याचक्षते स्वँह्यपीतो भवति। स यथा शकुनि: सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनम्-अलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते।'*[93]

सुषुप्ति की अवस्था में परमात्मा की प्राप्ति का कथन करते हुए कहा गया है कि जिस अवस्था में पुरुष सोता है, उस समय वह सत् से सम्पन्न होकर अपने स्वरूप को प्राप्त हो आनन्द का अनुभव करता है, इसी कारण से इसे 'स्वपिति' (अपने स्वरूप को प्राप्त होना) कहा जाता है। पक्षी के दृष्टान्त द्वारा आश्रय रूप आत्मा (प्राण) का कथन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार सूत्र में बँधा हुआ पक्षी दिशा-विदिशाओं में उड़कर अन्यत्र स्थान न मिलने पर अपने बन्धनस्थान का ही आश्रय लेता है, उसी प्रकार यह चञ्चल स्वभाव वाला मन दिशाओं में अनेकानेक स्थलों पर भ्रमित होता हुआ कहीं स्थान न मिलने पर अन्तत: प्राण का ही आश्रय लेता है। इस रूप में ऋषि द्वारा अभेद का उपदेश किया गया, किन्तु श्वेतकेतु को यहाँ सन्देह उत्पन्न होता है कि हम सबको इसका ज्ञान क्यों नहीं होता ? सन्देह निवारण हेतु आचार्य अनेक दृष्टान्तों द्वारा नौ बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य का उपदेश देकर श्वेतकेतु (शिष्य) को सत्-तत्त्व के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न करते है।

---

92 वही, शां.भा.

93 छा.उ. ६/८/१-२

4.2.1. सत् विषयक अज्ञान का कारण

सुषुप्ति की अवस्था में सभी जीव अपने सत् स्वरूप को प्राप्त होकर एक रूप हो जाते हैं, उनमें आपसी भेद नहीं रह जाता है, फिर भी उन्हें यह बोध नहीं हो पाता कि वे सत् को प्राप्त हो गये। सुषुप्तावस्था में सत् की प्राप्ति का बोध न होने के सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् में इसे मधु के दृष्टान्त द्वारा बताया गया है-

'यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाँ रसान्समवहारमेकताँ रसं गमयन्ति। ते तथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुस्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति।' [94]

अर्थात् जिस प्रकार मधु निष्पन्न करती हुई मधुमक्खियाँ अनेक दिशाओं के वृक्षों से फूलों का रस लाकर एकता को प्राप्त कराती हैं। उस मधु रूपी एकत्व में 'मैं इस वृक्ष का रस हूँ और मैं इस वृक्ष का' ऐसा भेद नहीं रहता है, ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में सभी जीव अपने सत् स्वरूप में जाकर एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। जाग्रत अवस्था में वे अनेक प्रकार की उपाधियों से ग्रस्त होकर जिस भेद का अनुभव करते हैं, वह सुषुप्ति में नहीं रह जाता, उस समय पिता अपिता, माता अमाता, राजा अराजा हो जाता है, इसलिए यह अनुभव नहीं रह जाता कि मैं पुरुष हूँ और यहाँ सुषुप्ति में मेरा पुरुषत्व नहीं रह गया है, अब मैं केवल सत् स्वरूप हूँ। मृत्यु और प्रलय काल में भी जीव की यही स्थिति होती है-

'सुषुप्तिकाले मरणप्रलयोश्च न विदुर्न विजानीयुः सति सम्पद्यामह।' [95]

अर्थात् सुषुप्ति, मृत्यु और प्रलय काल में प्रजा सत् को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हो रहे हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि सत् की उपाधि धारण कर तीनों अवस्थाओं में विचरण करने वाला 'जीव' बन जाता है और सब उपाधियों से ऊपर उठ कर वह अपने स्वरूप 'सत्' का अनुभव करता है।

सुषुप्ति की अवस्था में सभी जीव सत् स्वरूप को प्राप्त होते हैं, किन्तु यह सद्रूपता सदा नहीं बनी रहती है। उस अवस्था में जाने के पूर्व वे जिस रूप में थे, उसी रूप में जगकर पुनः आ जाते हैं। इसका मुख्य कारण उनकी वासनायें हैं। सभी प्राणियों का गमनागमन इसी प्रकार का होता है। सुषुप्ति की अवस्था में सभी जीव की वासना बीज रूप में शेष रहती है, वह नष्ट नहीं होती,

---

94 छा.उ. ६/८/९

95 वही, शां.भा. ६/९/२

अव्यक्त वासना ही अविद्या है, उसी के व्यक्त होने पर सद्रूप देवता जीव रूप होकर अपने को मनुष्यादि समझने लगता है, किन्तु ज्ञानी पुरूष अपनी वासनाओं को क्षीण कर अपने सत् स्वरूप को प्राप्त होते हैं। वह सत् ही समस्त चर अचर सृष्टि का कारण है।
अत: ***'स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।'***[96] हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्स्वरूप आत्मा हो।

4.2.2. अभेदगत स्थिति से भेद की स्थिति में आने का अज्ञान

छान्दोग्योपनिषद् (६/९/२) में मधु के दृष्टान्त द्वारा यह बताया गया था कि मधु के समान सभी जीव मिलकर अखण्डत्व को प्राप्त होते हैं, किन्तु श्वेतकेतु का प्रश्न यह है कि जब मनुष्य किसी अन्य ग्राम में जाता है, तो वह जानता है कि मैं अपने घर से आया हूँ, इसी प्रकार जीव जागने पर सत् से अपने शरीर में आता है, उस समय वह क्यों नहीं जानता कि मैं सत् से आया हूँ ? इस पर विचार करते हुए नदी के दृष्टान्त द्वारा गुरु का कथन है- *'इमा: सोम्य नद्य: पुरस्तात्प्राच्य: स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ता: समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीयमहमस्मीति। एवमेव खलु सोम्येमा: सर्वा: प्रजा: सत आगम्य न विदु: सत आगच्छामह इति।'*[97]
अर्थात् गंगा आदि नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्व दिशा की ओर एवं सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिमवाहिनी होकर पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होती हैं। वे समुद्र से निकलकर प्रवाहित होती हुई पुन: समुद्र में मिलकर नाम रूप का त्याग करते हुए समुद्र ही हो जाती हैं, उस समय मैं गंगा हूँ, मैं यमुना हूँ, इस प्रकार का भेद विद्यमान नहीं रहता है, केवल समुद्र रूप ऐक्य की प्रतीति होती है। इस सम्बन्ध में शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है- *'समुद्रमम्भो निधिमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति। ता नद्यो यथा तत्र समुद्रे समुद्रात्मनैकतां गता न विदुर्न जानन्तीयं गङ्गाहमस्मीयं यमुनाहमस्मीति च ... एवमेव खलु सोम्येमा: सर्वा: प्रजा यस्मात्सति सम्पद्य न विदु: तस्मात्सत आगम्य न विदु: सत आगच्छामह आगता इति वा'*[98]

---

[96] छा.उ. ६/९/४

[97] वही, ६/१०/१-२

[98] वही, शां.भा. ६/१०/१-२

अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ समुद्र से निकलकर प्रवाहित होती हुई पुन: समुद्र में मिल जाती हैं, उस प्रवाह की दशा में समुद्र का ही जल नदी का जल है, ऐसा भान नहीं होता। उसी प्रकार सत् ही शरीरादि उपाधि के कारण जीव कहलाता है, किन्तु अविद्याग्रस्त एवं अल्पज्ञ होने के कारण उसे अपने सत् स्वरूप का ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार सुषुप्तावस्था में वह नहीं जानता कि वह सत् स्वरूप हो गया, फिर भी वह सत् तत्त्व ही आत्मा है।

अत: ***'स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'***[99] हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्स्वरूप आत्मा हो। छान्दोग्योपनिषद् पर आधारित भाष्य में आचार्य शङ्कर का कथन है कि सुषुप्तावस्था में जीव सत् में लीन होकर अपने पार्थक्य ज्ञान से रहित हो जाता है, इसलिए उस सत् से लौटने पर जीव यह नहीं जानता कि हम सत् के पास से आये हैं।

आरुणि द्वारा दिये गये नदी के दृष्टान्त से श्वेतकेतु पूर्णत: सन्तुष्ट नहीं हुआ और गुरु के समक्ष जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा –

'दृष्टं लोके जले वीचि तरङ्गफेनबुद्बुदादय उत्थिता: पुनस्तद्भावं गता विनष्टा इति। जीवास्तु तत्कारणभावं प्रत्यहं गच्छन्तोऽपि सुषुप्ते मरणप्रलयोश्च न विनश्यन्तीत्येतत्।'[100]

जल में उठे हुए भँवर, तरंग एवं बुदबुद आदि पुन: जल स्वरूप हो जाने पर नष्ट हो जाते हैं, किन्तु जीव तो प्रतिदिन सुषुप्तावस्था में मरण एवं प्रलय के समय अपने कारण भाव को प्राप्त होकर भी नष्ट नहीं होता, क्यों ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए गुरु जीव की नित्यता का कथन करते हैं।

4.2.3. जीव सम्बन्धी नित्यता का प्रतिपादन

भौतिक शरीर नाशवान् है, किन्तु इसमें वास करने वाला जीव नित्य है, मृत्यु के अनन्तर भी वह जल के बुदबुद की भाँति नष्ट नहीं होता। वह अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त कर लेता है। जैसे एक दिन का अधूरा काम छोड़कर सो जाने पर जब मनुष्य दूसरे दिन जगता है, तो पिछले दिन के अधूरे काम को पुन: प्रारम्भ कर देता है, वैसे ही एक शरीर छोड़कर जीव जब दूसरा शरीर धारण कर लेता है, तो पूर्व जीवन में अर्जित की हुई वासनाओं को पुन: भोगने लगता है। इन प्रमाणों से जीव की नित्यता सिद्ध होती है। इस तथ्य को आचार्य वृक्ष के

---

99 छा. उ. ६/१०/३

100 वही, शां.भा. ६/१०/३

दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं- *'अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्याऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति। अस्य यदेकाँ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति। एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।'*[101]

अर्थात् कोई व्यक्ति इस महान् वृक्ष के मूल, मध्य एवं अग्र भाग में प्रहार करे तो यह जीवित रहते हुए उन-उन स्थलों पर रसस्राव उत्पन्न करेगा, क्योंकि इसमें सर्वत्र आत्मा अनुस्यूत है। यदि इस वृक्ष की एक शाखा को जीवात्मा छोड़ दे तो वह सूख जाती है। दूसरी को छोड़े तो वह भी सूख जाती है। यदि सारे वृक्ष को छोड़ दे तो सारा वृक्ष सूख जाता है। ठीक इसी प्रकार जीवात्मा से रहित होने पर शरीर मृत्यु को प्राप्त होता है। अतः नित्य जीव का ही वास्तविक रूप आत्मा है, जो सत् स्वरूप है, इसी से नाम-रूप वाला स्थूल जगत् उत्पन्न हुआ है। अतः हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्स्वरूप आत्मा हो।

पुनः श्वेतकेतु ने गुरु के समक्ष जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा कि सत् तत्त्व तो अत्यन्त सूक्ष्म, नाम-रूप रहित और अगोचर है, उससे यह नाम-रूप वाला स्थूल जगत् कैसे उत्पन्न हुआ ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए गुरु जगत् की उत्पत्ति का कथन करते हैं।

4.2.4. सूक्ष्म तत्त्व से स्थूल जगत् की उत्पत्ति

सूक्ष्म से स्थूल जगत् की उत्पत्ति को न्यग्रोध-फल के दृष्टान्त से समझाते हुए ऋषि का कथन है- *'न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति। तँ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति।'*[102]

आचार्य आरुणि के आदेशानुसार श्वेतकेतु ने वट वृक्ष का एक फल लाया, उसे तोड़ने पर बहुत अणु सदृश छोटे-छोटे बीज दिखाई दिये। बालू के कण जैसे इस बीज को तोड़कर देखा तो कुछ भी दिखाई नहीं दिया। तब गुरु ने कहा कि वट बीज के अन्दर यद्यपि देखने में कुछ नहीं आता, किन्तु उसके अन्दर कोई ऐसी सूक्ष्म सत्ता अवश्य है, जिससे वट वृक्ष के अंकुर निकलते हैं। अतः

---

101 वही, ६/११/१-३

102 वही, ६/१२/१-२

उस वट बीज के अन्दर समाहित जिस अणिमा को तुम नहीं देख पा रहे हो, उस अणिमा का ही इतना बड़ा वट वृक्ष खड़ा हुआ है। जैसे बीज की अणिमा से वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही सत्स्वरूप परब्रह्म की अणिमा से यह सब नानात्व उत्पन्न हुआ है। यह जगत् उसी का रूप है। वह सत्य है और सबका आत्मा है। अत: ***'स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'***[103] हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्स्वरूप आत्मा हो।

यह सुनकर श्वेतकेतु ने पुन: प्रश्न किया कि यदि सत् से ही जगत् की उत्पत्ति हुई है और वही सबका आत्मा है, तो वह हमें उपलब्ध क्यों नहीं होता ? यदि हम उसका दर्शन कर लें तो किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जायेगा। इस प्रश्न पर विचार करते हुए आचार्य ईश्वरीय ज्ञान के साधन का वर्णन करते हैं।

4.2.5. सत् विषयक ज्ञानार्जन का साधन

वैदिक-चिन्तन में इन्द्रियातीत सत्ता के ज्ञान में शब्द प्रमाण को साधन बताया गया है। इसे आप्त वचन भी कहते हैं। इसके द्वारा अलौकिक वस्तु का ज्ञान होता है। वह वस्तु (अलौकिक वस्तु) सदा विश्वास का ही विषय नहीं रहती, वरन अपनी अनुभूति से भी उसे जाना जा सकता है। इस सम्बन्ध में नमक के दृष्टान्त प्रस्तुत कर आचार्य द्वारा अभेद का प्रतिपादन किया गया है-*'लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति सह तथा चकार तँ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद। यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्ता-दाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैतदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तँ होवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति।'*[104]

अर्थात् नमक के टुकड़े को जल से भरे हुए घड़े में डालकर प्रात: काल मेरे पास आना। आचार्य आरुणि के आदेशानुसार श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। प्रात: काल आरुणि ने कहा- रात्रिकाल में जो नमक जल में रखा था, उसको ले आओ, किन्तु श्वेतकेतु उस नमक के टुकड़े को जल में न पाया तब आचार्य आरुणि ने अपने पुत्र को यह ज्ञान कराया कि पानी में घुला हुआ नमक न दिखाई देता है और न हाथ से पकड़ में आता है, फिर भी तुम यह नहीं कह सकते कि पानी में नमक नहीं है। प्रकारान्तर से उस अदृश्य नमक का ज्ञान हो सकता है। आचमन करने से यह ज्ञात होता है कि वह सम्पूर्ण जल में अनुस्यूत है। अत: जिस प्रकार नमक का टुकड़ा जल में

---

103 वही, ६/१२/३

104 वही, ६/१३/१-२

सर्वत्र विलीन हो गया, उसी प्रकार सत् भी जगत् में सर्वत्र व्याप्त है। यद्यपि वह वट बीज की अणिमा के समान अथवा घुले हुए नमक के समान शरीर के अन्दर दिखाई नहीं देता, तो भी वह सर्वत्र विद्यमान है। आरुणि ऋषि छठी बार सत् स्वरूप परब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यद्यपि वह नेत्रों से दिखाई नहीं देता, फिर भी यह सम्पूर्ण जगत् उसी का रूप है। वह सत्य है और सबका आत्मा है। अत: ***'स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'***[105] हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत् तत्त्व (आत्मा) हो।

यह सुनकर श्वेतकेतु ने पूछा- यदि जल में नमक की भाँति आत्मा सर्वत्र विद्यमान है और नेत्रों से उसे देख नहीं सकते, तो उसकी उपलब्धि का क्या उपाय है ? अन्य किस साधन से उसे जान सकते हैं ? तब आचार्य उसे गुरुपदेश का मार्ग बताते हैं।

4.2.6. ब्रह्मविद् आचार्य द्वारा सद्विषयक उपदेश

सत्स्वरूप आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए आचार्य की शरण में जाना आवश्यक है। आचार्य की सहायता से जीव अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकता है। वह इतना सूक्ष्म है कि कोई बिना किसी से जाने स्वयं उसे प्राप्त नहीं कर सकता, इसलिए आचार्य की अनिवार्य आवश्यकता है। आचार्य पहले से ही उस तत्त्व को जानता है, इसलिए जिज्ञासु पुरुष को वह आत्मज्ञान का मार्ग बता सकता है और उसके बताये हुए मार्ग पर चलकर लक्ष्य (सत् वस्तु) की प्राप्ति हो सकती है। इस तथ्य को श्रुति में गन्धारादि अन्य स्थल से लाये हुए पुरुष के दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है- *'यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् ... तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्यते तैवमेवेहाचार्यवान्पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।'*[106]

अर्थात् किसी व्यक्ति की आँखें बन्द कर गन्धारादि देश से अपहृत कर निर्जन स्थान में छोड़ दिया जाये और सहायतार्थ वह व्यक्ति चिल्लाते हुए अपनी वस्तुस्थिती को बताये। जिस प्रकार उस पुरुष के बन्धन को खोलकर कोई कहे कि गन्धार इस दिशा में है, अत: वह बुद्धिमान् पुरुष उसकी बातों का अनुसरण करता हुआ एक ग्राम से दूसरा ग्राम पूछते हुए गन्धार देश को प्राप्त करता है, उसी प्रकार इस लोक में आचार्यवान् पुरुष ही सत् को जानता है, अत: उसके द्वारा

---

105 वही, ६/१३/३

106 वही, ६/१४/१-२

बताये हुए मार्ग पर चलकर लक्ष्य (सत् वस्तु) की प्राप्ति हो सकती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है-

'**आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति**'(छा.उ.४/९/३)

अर्थात् आचार्य से जानी गयी विद्या ही अतिशय साधुता को प्राप्त होती है। इसलिए आचार्य की सहायता से आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। आत्मा सम्बन्धी ज्ञान सत्स्वरूप है। अत: ***'स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'***[107] हे श्वेतकेतो ! वही तुम हो, वह तुम्हारा सत् स्वरूप है।

आचार्य ने प्रारम्भ में श्वेतकेतु को बताया था कि सृष्टि के पूर्व केवल एक अद्वितीय सत् विद्यमान था। उसने ईक्षण द्वारा नामरूपात्मक जगत् की रचना की। इस समय निर्विकार रूप से सत् तो विद्यमान है ही, उसके साथ दृश्यमान वाचारम्भण मात्र नामरूपात्मक जगत् भी है। सत् का ज्ञान न रखने वाले अविद्वान मिथ्या जगत् में ही अभिनिवेश रखते हैं, वे व्यक्ति 'मिथ्याभिसन्ध' कहलाते हैं। वे अविद्या, काम और मोह रूपी आसक्ति के बन्धन में पड़कर नाना प्रकार के सांसारिक दु:ख भोगते हैं। जबकि सत्याभिसन्ध पुरुष सत् को प्राप्त कर मुक्त हो जाते हैं। जिस आत्मा की अभिसन्धि और अनभिसन्धि के कारण मोक्ष और बन्धन होते हैं, जो संसार का मूल है, सम्पूर्ण प्रजा जिसके आश्रित और जिसमें प्रतिष्ठित है, सारा संसार जिस स्वरूप वाला है तथा जो अजन्मा, अमृत, अभय, शिव और अद्वितीय है, वही सत्य है, वही आत्मा है। अत: हे श्वेतकेतो ! तुम भी वही सत्स्वरूप आत्मा हो-

'एतदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।'[108]

यह सुनकर श्वेतकेतु ने कोई प्रश्न नहीं किया, वह सन्तुष्ट हो गया। इस सम्बन्ध में श्रुति का कथन है- 'विजज्ञौ' उस परम तत्त्व को जान गया। अब उसे वह ज्ञान हो गया, जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है और अविज्ञात विज्ञात हो जाता है।

---

107 वही, ६/१४/३

108 वही, ६/१६/३

इस प्रकार जगज्जन्मादि का जो हेतु है, वह एक ही अद्वय तत्त्व है, उसके अतिरिक्त जो कुछ भी भासित हो रहा है, वह भ्रम मात्र है, सत् नहीं है। यदि अनेक वस्तुएँ सत् हों तो एक वस्तु के ज्ञान से सबका ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए आरुणि ने दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध किया कि पहले एक मात्र सत् ब्रह्म ही सत्तावान् था। उसने ईक्षण द्वारा नामरूपात्मक जगत् की रचना की। यह जगत् मिट्टी से निर्मित घट के समान वाचारम्भण मात्र है। इस प्रकार जीव और जगत् परमात्मा से भिन्न कुछ नहीं हैं। एक अद्वय तत्त्व ही नामरूपात्मक जगत् के रूप में और जीव की अगणित चेतना स्फुलिंगों के रूप में व्यक्त हो रहा है। इस दृष्टि से परमात्मा के ज्ञान से सर्वज्ञता प्राप्त होती है। उसका अनुभव करने के बाद कुछ भी पाने के लिए शेष नहीं रह जाता। आरुणि की इस शिक्षा का आधार 'तत्त्वमसि' महावाक्य है, जिसका शाब्दिक अर्थ है- 'वह तुम हो'। आरुणि ऋषि से प्राप्त उपदेश के आधार पर इस महावाक्य पर के तात्पर्यार्थ पर विचार करने से ज्ञात होता है कि 'तत्' शब्द का लाक्षणिक अर्थ वह सत् है, जो सृष्टि होने के पूर्व अद्वितीय था, उसी ने ईक्षण द्वारा तेज, जल और अन्न का रूप धारण कर इनका त्रिवृत्तीकरण करते हुए स्थूल सृष्टि का विस्तार किया। सृष्टि के कण-कण में सर्वव्यापी तत्त्व का प्रवेश होने के कारण जीव परमात्मा से पृथक नहीं है, अपितु उसी का रूप है। इस प्रकार सत् में ही 'तत्' पद का तात्पर्यार्थ निहित है।

'त्वं' पद का प्रयोग श्वेतकेतु को सम्बोधन करते हुए किया गया है, किन्तु उसका लाक्षणिक अर्थ 'सत्' ही है। जो स्वयं को उद्दालक का पुत्र समझता था और उस आदेश को नहीं जानता था, जिसके जानने से सर्वज्ञता की अनुभूति होती है, किन्तु ब्रह्मनिष्ठ गुरु की कृपा से जब उसने स्वयं को शरीर और इन्द्रियों के संघात से भिन्न 'सत्' का अनुभव किया तो उसके लिए 'त्वं' पद का प्रयोग किया गया।

महावाक्य में 'असि' पद सम्बन्ध का वाचक है। इसके द्वारा उन दोनों के ऐक्य का उद्घोष किया गया है, किन्तु वह 'तत्' और 'त्वम्' का शाब्दिक अर्थ (वाच्यार्थ) ग्रहण करने से सिद्ध नहीं होता, इसलिए यहाँ गूढ़ अर्थ की सिद्धि के लिए लक्ष्यार्थ ग्रहण करना आवश्यक है। लक्ष्यार्थ के द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध होती है और इसी एकता में ऋषि का तात्पर्यार्थ निहित है- *'तस्माद्विकारानृताधिकृतजीवात्मविज्ञाननिवर्तकमेवेदं वाक्यं तत्त्वमसीति सिद्धमिति।'*[109]

---

109 वही, शां.भा.

अत: यह सिद्ध हुआ कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य विकाररूप मिथ्या देहादि में अधिकृत जीवात्मभाव की निवृत्ति द्वारा जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य (जीवब्रह्मैक्य) की सिद्धि कराने वाला महावाक्य है।

4.3. आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि में श्रवणादि की उपयोगिता

'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा जीवब्रह्मैक्य रूप वास्तविक अर्थ प्राप्त होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व हमारी बुद्धि में शीघ्र ही दृढ़ता से स्थापित नहीं हो पाता। वेदान्त परम्परा में आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की आवृत्ति को आवश्यक बताया गया है। 'श्रोतव्यो मन्तव्य:' आदि श्रुतियों के अनुसार भी जब तक ब्रह्मसाक्षात्कार रूप अनुभव दृढ़ता को न प्राप्त हो जाय, तब तक श्रवणादि साधनों का निरन्तर अभ्यास करना अपेक्षित है। ब्रह्मसाक्षात्कार के साधन रूप श्रवण और उसके षड्-विध लिङ्गों का विवेचन निम्नलिखित है-

सम्पूर्ण वेदान्त वाक्यों का अद्वितीय ब्रह्म रूप वस्तु में तात्पर्य निहित है, इसका छ: प्रकार के लिङ्गों से निश्चय करना 'श्रवण' है-

"श्रवणं नाम षड्विधलिङ्गैरशेषवेदान्तानामद्वितीये वस्तुनि तात्पर्यावधारणम्।"[110]

इस क्रम में छान्दोग्योपनिषद् (तत्त्वमसि महावाक्य प्रकरण, ६/८/७-६/१६/३) के आधार पर षड्-विध लिङ्गों का विवेचन निम्नलिखित है-

4.3.1. षड्-विध लिङ्ग

4.3.1.1. उपक्रम-उपसंहार

किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के प्रारम्भ में और अन्त में उपपादन करना 'उपक्रम' और 'उपसंहार' कहलाता है। जैसे- छान्दोग्योपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्म रूप वस्तु का *"एकमेवाद्वितीयम्" (६/२/१)* अर्थात् एकमात्र अद्वितीय सत् ही था, इन शब्दों द्वारा प्रारम्भ में और *"ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" (६/८/७)* अर्थात्

---

110 वेदान्तसार, खण्ड ६०

यह सारा जगत् इस सत्सञ्ज्ञक आत्मा से आत्मवान् है, इन शब्दों द्वारा अन्त में प्रतिपादन किया गया है।

4.3.1.2. अभ्यास

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का उस प्रकरण के मध्य में पुन: पुन: प्रतिपादन करना 'अभ्यास' है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में अद्वितीय वस्तु का उस प्रकरण के भीतर *"तत्त्वमसि"* इस महावाक्य द्वारा नौ बार प्रतिपादन किया गया है।

4.3.1.3. अपूर्वता

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु का (श्रुति के अतिरिक्त) किसी अन्य प्रमाण के द्वारा विषय न बनाया जाना (अर्थात् किसी अन्य प्रमाण से बोध न होना) 'अपूर्वता' है। जैसे- उसी प्रकरण में अद्वितीय वस्तु का किसी अन्य प्रमाण से अगम्य होना *"आचार्यवान् पुरुषो वेद"* इस कथन से सूचित होता है।

4.3.1.4. फल

किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मज्ञान का अथवा आत्मज्ञान के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान का जो प्रयोजन उस उस प्रकरण में वर्णित होता है, वही 'फल' कहलाता है। जैसे वहाँ पर *"आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये"(६/१४/२)* अर्थात् आचार्यवान् पुरुष ही आत्मा को जानता है, उसके लिए बस तभी तक विलम्ब है, जब तक वह शरीर के बन्धन से मुक्त नहीं होता, उसके पश्चात् तो वह सत् सम्पन्न अर्थात् ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। इन शब्दों द्वारा अद्वितीय वस्तु के ज्ञान का प्रयोजन उसकी प्राप्ति बताया गया है।

4.3.1.5. अर्थवाद

प्रकरण प्रतिपाद्य विषय की उस प्रकरण में स्थान-स्थान पर प्रशंसा करना 'अर्थवाद' है। जैसे- उसी प्रसंग में *"उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्" (६/१/३)*

अर्थात् क्या तुमने आचार्य से वह उपदेश पूछा, जिसको सुन लेने से विना सुना हुआ भी सुना हुआ हो जाता है, विना विचार किया हुआ, विचार किया हुआ सा हो जाता है और विना जाना हुआ विशेष रूप से ज्ञात हो जाता है। इन शब्दों द्वारा अद्वितीय वस्तु की प्रशंसा की गयी है।

4.3.1.6. उपपत्ति

प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ को सिद्ध (प्रमाणित) करने के लिए स्थान-स्थान पर वर्णित होने वाली युक्ति ही 'उपपत्ति' है। जैसे- उसी प्रसंग में *"यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"(६/१/४)* अर्थात् हे सौम्य ! जिस प्रकार मृत्तिका के एक पिण्ड को जान लेने से सम्पूर्ण मृन्मय पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, विकार तो वाणी से आरम्भ (उत्पन्न) होने वाला नाममात्र है, सत्य तो केवल कारणभूत मृत्तिका ही है, इत्यादि वाक्यों में अद्वितीय वस्तु की ही सत्यता को सिद्ध करने के लिए विकार को केवल वाणी के आश्रित होने में युक्ति प्रस्तुत की गयी है।

4.4. ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य के अनुसार तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध विचार

4.4.1. पारमार्थिक रूप से जीवेश्वर का अभेद

तत् एवं त्वम् पद बोध्य ब्रह्म और जीव के मध्य अभेद का प्रतिपादन करते हुए 'शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते'(ब्र.सू.१/२/२०) में भाष्यकार का कथन है- *'अविद्याप्रत्युपस्थापितकार्य-कारणोपाधिनिमित्तोऽयं शरीरान्तर्यामिणोर्भेदव्यपदेशो न पारमार्थिक:। एको हि प्रत्यगात्मा भवति न द्वौ प्रत्यगात्मानौ सम्भवत:। एकस्यैव तु भेदव्यवहार उपाधिकृत:, यथा घटाकाशो महाकाश इति।'* [111]

अर्थात् शारीर और अन्तर्यामी की यह भेदोक्ति अविद्याजनित शरीर और इन्द्रियरूप उपाधि की अपेक्षा से है, वास्तविक नहीं है। वस्तुत: प्रत्यगात्मा एक ही है, इस चिन्तन में दो प्रत्यगात्मा का कथन सम्भव नहीं है। एक का ही भेद व्यवहार उपाधि से होता है, जैसे कि घटाकाश,

111 ब्र.सू.शां.भा. १/२/२०

महाकाश में भेद व्यवहार होता है। उपाधि-निवृत्ति के अनन्तर एकमात्र अभेद रहता है, जिसका निर्देश 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा किया गया है-

"तत्त्वमसि' इत्यसंसार्यात्मत्वप्रतिपत्तौ सत्यां संसार्यात्मत्वव्यावृत्तेः।'[112] अर्थात् 'तत्त्वमसि' (तात्त्विक रूप से तुम वही हो) ऐसे असंसारी आत्मा की प्रतीति होने से जीव का संसारित्व एवं भेद समाप्त हो जाता है। इस प्रकार विज्ञानात्मा और परमात्मा का भेद अविद्या द्वारा उपस्थापित नाम और रूप से कल्पित देह आदि उपाधियों द्वारा किया गया है, पारमार्थिक नहीं है।[113]

4.4.2. कारण-कार्य में अनन्यत्व का प्रतिपादन

अद्वैत-वेदान्त में कारण-कार्य में अनन्यत्व का प्रतिपादन करते हुए 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्यः'(ब्र.सू.२/१/१४) में कहा गया है– *'तदनन्यत्वम्- कार्यस्य जगतः कारणाद् ब्रह्मणः पृथक्सत्ताराहित्यम्, कुतः आरम्भणशब्दादिभ्यः - 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्', ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत् सत्यं स आत्मा' 'ब्रह्मैवेदं सर्वम् इत्यादिशब्देभ्यः।'*

अर्थात् कारण ब्रह्म से कार्य जगत् की पृथक् सत्ता नहीं है, क्योंकि 'विकार केवल वाचारम्भणमात्र है, मृत्तिका (कारण) ही सत्य है', 'यह सब सद्रूप है, वह सत्य है और वह आत्मा है' 'यह सब ब्रह्म ही है' इत्यादि वचनों से कारण कार्य का अभिन्नत्व कहा गया है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार का कथन है- *'न त्वयं विभागः परमार्थतोऽस्ति यस्मात् तयोः कार्यकारणयोरनन्यत्वमवगम्यते। कार्यमाकाशादिकं बहुप्रपञ्चं जगत्, कारणं परं ब्रह्म, तस्मात् कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यतिरेकेणाऽभावः कार्यस्याऽवगम्यते।'*[114]

अर्थात् कार्य और कारण के अभिन्न होने से इनका विभाग वास्तविक (पारमार्थिक रूप से) नहीं है। आकाशादि बहुत विस्तार वाला जगत् कार्य है और परब्रह्म कारण है। इस चिन्तन में उस

---

112 वही, १/४/१४

113 *'विज्ञानात्मपरमात्मनोरविद्याप्रत्युपस्थापितनामरूपरचितदेहाद्युपाधिनिमित्तो भेदो न पारमार्थिकः।' ... क्षेत्रज्ञ- 'परमात्मैकत्वविषये सम्यग्दर्शने क्षेत्रज्ञः परमात्मेति नाममात्रभेदात् क्षेत्रज्ञोऽयं परमात्मनो भिन्नः परमात्माऽयं क्षेत्रज्ञात् भिन्न इत्येवं जातीयक आत्मभेदविषयो निर्बन्धो निरर्थकः। एको ह्ययमात्मा नाममात्रभेदेन बहुधाऽभिधीयते।'* (वही,१/४/२२)
अर्थात् क्षेत्रज्ञ और परमात्मा एक ही है, ऐसा तत्त्वज्ञान होने पर क्षेत्रज्ञ और परमात्मा ऐसे नाममात्र का भेद होने से यह क्षेत्रज्ञ परमात्मा से भिन्न है, यह परमात्मा क्षेत्रज्ञ से भिन्न है, इस प्रकार का आत्मा के भेद का आग्रह करना व्यर्थ है, क्योंकि यह आत्मा एक ही है, किन्तु नाममात्र के भेद से बहुत प्रकार से उसका अभिधान होता है।

114 वही, २/१/१४

कारण से कार्य का वास्तव में अनन्यत्व समझा जाता है। इस तथ्य की पुष्टि हेतु छान्दोग्य श्रुतिवाक्य "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं" को उद्धृत करते हुए बताया गया है कि नामधेयमात्र से ये सब असत्य हैं, केवल मृत्तिका (कारण) ही सत्य है। इस एकत्वपरक कारण (ब्रह्म) के दृष्टान्त द्वारा दोनों का अभेद सिद्ध होता है।

मृत्तिकादि दृष्टान्त के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का कथन है कि एकत्व और नानात्व दोनों की सत्यता को स्वीकार करना चाहिए- *'नन्वनेकात्मकं ब्रह्म, यथा वृक्षोऽनेकशाखा एवमनेकशक्ति-प्रवृत्तियुक्तं ब्रह्म, अत एकत्वं नानात्वं चोभयमपि सत्यमेव। यथा वृक्ष इत्येकत्वं शाखा इति च नानात्वम्। यथा च समुद्रात्मनैकत्वं फेनतरङ्गाद्यात्मना नानात्वं। यथा च मृदात्मनैकत्वम्, घटशरावाद्यात्मना नानात्वम्। तत्रैकत्वांशेन ज्ञानान्मोक्षव्यवहार: सेत्स्यति। नानात्वांशेन तु कर्मकाण्डाश्रयौ लौकिकवैदिकव्यवहारौ सेत्स्यत इति। एवञ्च मृदादिदृष्टान्ता अनुरूपा भविष्यन्तीति।'*[115]

अर्थात् ब्रह्म अनेक रूप है, जैसे वृक्ष अनेक शाखा युक्त है, वैसे ही ब्रह्म अनेक शक्ति प्रवृत्ति युक्त है, अत: नानात्व अनेकत्व दोनों ही सत्य हैं। जैसे वृक्षस्वरूप से वृक्ष एक है और शाखास्वरूप से नाना है, जैसे समुद्र समुद्रस्वरूप से एक है और फेन, तरंगादि स्वरूप से नाना है, जैसे मृत्तिका मृत्तिकास्वरूप से एक है और घट, शकोरा आदि स्वरूप से नाना है, वैसे ही ब्रह्म कारण स्वरूप से एक है और जगत् रूप कार्य से नाना है। उक्त दो अंशों में एकत्व अंश के ज्ञान से मोक्षव्यवहार सिद्ध होगा और नानात्व अंश के ज्ञान से कर्मकाण्ड से सम्बन्ध रखने वाले लौकिक और वैदिक व्यवहार सिद्ध होंगे, इसी अर्थ में मृत्तिकादि दृष्टान्त की उपयोगिता है। पूर्वपक्ष के इस मत का निराकरण करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'नैवं स्यात्, 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति प्रकृतिमात्रस्य दृष्टान्ते सत्यत्वावधारणात्। वाचारम्भणशब्देन च विकारजातस्या-ऽनृतत्वाभिधानात्। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यम्' इति च परमकारणस्यैवैकस्य सत्यत्वावधारणात्। 'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' इति च शारीरस्य ब्रह्मभावोपदेशात्। स्वयं प्रसिद्धं ह्येतच्छारीरस्य ब्रह्मात्मत्वमुपदिश्यते न यत्नान्तरप्रसाध्यम्। ... 'तत्त्वमसि' इति ब्रह्मात्मभावस्याऽनवस्थाविशेषनिबन्धनत्वात्।'*[116]

सत्यता के सम्बन्ध में एकत्व और नानात्व विषयक पूर्वपक्ष के मत का निराकरण करते हुए आचार्य शंकर का कथन है कि ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'मृत्तिका ही सत्य है' इस दृष्टान्त में आकृतिमात्र का सत्यरूप से निर्णय किया गया है और वाचारम्भण शब्द से विकार समूह असत्य कहा गया है। दार्ष्टान्तिक में भी "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" 'यह सब आत्मस्वरूप है, वह सत्य है' इस

---

115 वही.

116 वही.

प्रकार एक परम कारण का ही सत्यस्वरूप से निश्चय किया गया है। 'हे श्वेतकेतो ! वह आत्मा है, तुम वही हो' इस प्रकार इस जीव का स्वयं सिद्ध जो ब्रह्मात्मत्व है, उसी का उपदेश किया गया है। अन्य यत्न से साध्य ब्रह्मात्मकत्व का उपदेश नहीं किया गया है और न ही "तत्त्वमसि" (तुम वही हो) इस प्रकार जो ब्रह्मभाव कहा गया है, वह अवस्था विशेष के आधार पर कहा गया है। "तत्त्वमसि" श्रुतिवाक्य द्वारा एकमात्र सत्य परमचैतन्य (ब्रह्म) का उपदेश किया गया है। इसी क्रम में कारण-कार्य में अभिन्नत्व का प्रतिपादन करते हुए 'भावे चोपलब्धे:' (ब्र.सू.२/१/१५) में भाष्यकार का कथन है कि कारण के रहने से ही कार्य की उपलब्धि होती है, अत: इस आधार पर कार्य, कारण से भिन्न नहीं है- *'कारणादनन्यत्वं कार्यस्य यत्कारणं भाव एव कारणस्य कार्यमुपलभ्यते , नाऽभावे।' तद्यथा सत्यां मृदि घट उपलभ्यते, सत्सु च तन्तुषु पट:। न च नियमेनाऽन्यभावेऽन्यस्योपलब्धिर्दृष्टा, नह्यश्वो गोरन्य: सन् गोर्भाव एवोपलभ्यते।'*[117]

अर्थात् कारण से कार्य अभिन्न है, क्योंकि कारण के अस्तित्त्व से ही कार्य उपलब्ध होता है, कारण के अभाव में नहीं। जैसे मृत्तिका के विद्यमान होने पर ही घट उपलब्ध होता है और तन्तुओं के रहने पर ही पट का निर्माण होता है। अन्य पदार्थ की सत्ता में अन्य पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती। जैसे अश्व गौ से भिन्न है, अत: गौ के अस्तित्त्व में अश्व उपलब्ध नहीं हो सकता, इससे जीव और ब्रह्म की अनन्यता सिद्ध होती है। इसी क्रम में 'सत्त्वाचावरस्य' (ब्र.सू.शां.भा.२/१/१६) भाष्यकार का कथन है- *'कारणात् कार्यस्याऽनन्यत्वं यत्कारणं प्रागुत्पत्ते: कारणात्मनैव कारणे सत्त्वमवरकालीनस्य कार्यस्य श्रूयते। ... यच्च यदात्मना यत्र न वर्तते न तत्त उत्पद्यते, यथा सिकताभ्यस्तैलम्, तस्मात् प्रागुत्पत्तेरनन्यत्वादुत्पन्नमप्यनन्यदेव कारणात् कार्यमित्यवगम्यते।'*

अर्थात् कार्य की सत्ता कारण से पृथक् नहीं है, क्योंकि कार्य उत्पत्ति से पूर्व कारण रूप से कारण में ही विद्यमान था। जो जिस स्वरूप से जिसमें नहीं होता, वह उससे उत्पन्न नहीं होता, जैसे बालू से तेल। इसलिए उत्पत्ति से पूर्व अभिन्न होने से उत्पत्ति के अनन्तर भी कार्य कारण से अभिन्न है, ऐसा समझना चाहिए। इस प्रकार भाष्यकार द्वारा कार्य-कारण में अनन्यत्व का प्रतिपादन किया गया है।

[117] वही, २/१/१५

4.5. तत्त्वबोध नामक प्रकरण-ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श

आचार्य शङ्कर विरचित 'तत्त्वबोध' नामक प्रकरण ग्रन्थ में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या करते हुए 'तत्' और 'त्वम्' पदों में निहित भेद बुद्धि का निवारण करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में प्रश्न उत्थापित करते हैं कि यदि कोई यह कहे कि अहंकार वाला और अल्पज्ञान वाला जीव और अहंकार रहित तथा सर्वज्ञ ईश्वर में 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अभेद बुद्धि कैसे हो सकती है ? दोनों के धर्म एक दूसरे से विरूद्ध हैं– *'ननु साहंकारस्य किंचित् ज्ञस्य जीवस्य निरहंकारस्य सर्वज्ञस्य ईश्वरस्य तत्त्वमसीति महावाक्यात् कथमभेद बुद्धिः स्यात्, उभयोः विरुद्ध-धर्माक्रान्तत्वात्।'*[118]

'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ 'वह और तुम तात्त्विक रूप से एक हो'। भेद उपाधियों के कारण प्रतीत हो रहा है और उपाधियाँ मिथ्या हैं, इसलिये उसकी उपेक्षा कर अपने स्वरूप के तात्त्विक रूप का दर्शन करें तो एकत्व की अनुभूति होगी। जब तक यह तात्त्विक अनुभूति नहीं होती, तब तक भेद सत्य प्रतीत होता है।

'तत्' और 'त्वम्' दो सर्वनाम पद हैं, जिनमें से एक अन्य पुरुष तथा दूसरा मध्यम पुरुष है, इन दोनों पदों के धर्म एक दूसरे से विरूद्ध हैं, अत: उनके बीच तादात्म्य की एकता कैसे हो सकती है ? इस प्रकार की शंका के समाधान हेतु तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अखण्डार्थ प्रतिपादन हेतु आचार्य शङ्कर 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अर्थ-निर्धारण इस प्रकार करते हैं-

'त्वं' पद का वाच्यार्थ स्थूल और सूक्ष्म शरीराभिमानी जीव है, किन्तु 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ उपाधिरहित तथा समाधि दशा में अनुभव होने वाला शुद्ध चैतन्य है- *'स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी त्वं पदवाच्यार्थः। उपाधिविनिर्मुक्तं समाधिदशासम्पन्नं शुद्धचैतन्यं त्वं पदलक्ष्यार्थः।'*[119]

'त्वं' पद का वाच्यार्थ जीव होता है, जो स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों को ही अपना स्वरूप समझता है, किन्तु यहाँ वाच्यार्थ स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि इससे वाक्य के अर्थ की संगति नहीं होती। इसका लक्ष्यार्थ करने पर ही वेदान्त मत प्रतिपादित होता है। उसके अनुसार 'त्वं'

---

118 तत्त्वबोध, पृ. ४५

119 वही.

पद का अर्थ वह शुद्ध चैतन्य है, जो अविद्या और उसके कार्यों की उपाधि से मुक्त है और जो समाधि की दशा में अर्थात् चित्तवृत्तियाँ शान्त होने पर अनुभूत होता है।

इसी प्रकार 'तत्' पद का वाच्यार्थ तो सर्वज्ञतादि उपाधि से विशिष्ट ईश्वर है, किन्तु 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ उपाधिशून्य शुद्ध चैतन्य है- *'एवं सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ईश्वरः तत्पदवाच्यार्थः उपाधिशून्यं शुद्धचैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थः।'*[120]

इसी प्रकार 'तत्' पद के भी दो प्रकार हो सकते हैं- वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ। वाच्यार्थ से हमारा ध्यान 'तत्' शब्द ईश्वर की ओर ले जाता है, जो मायोपाधिक है। सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी और सर्वशक्तिमान उसके लक्षण हैं, किन्तु 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ शुद्ध चैतन्य है, जिसमें ये कोई भी उपाधियाँ नहीं हैं। जैसे 'त्वं' शुद्ध चैतन्य है, वैसे ही 'तत्' भी शुद्ध चैतन्य है, इसलिये दोनों एक हैं- *'एवं च जीवेश्वरयो चैतन्यरूपेणऽभेदे बाधकाभावः।'*[121]

इस प्रकार चैतन्य रूप में जीव और ईश्वर अभिन्न हैं, वे केवल 'तत्' और 'त्वम्' उपाधि के कारण पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु उन्हें उपाधि रहित देखने पर दोनों एक ही शुद्ध-चैतन्य का अनुभव होता है।

महावाक्य में विद्यमान 'असि' शब्द जीव और ईश्वर, इन दोनों में सामान्य तत्त्व की ओर संकेत करता है। शुद्ध-चैतन्य जब प्रकृति द्वारा परिच्छिन्नता को प्राप्त हुआ दिखता है, तो 'जीव' कहलाता है, किन्तु वही जीव उपाधियों से जब ऊपर उठ जाता है, तब अपने आपको निर्मल दिव्य तत्त्व के रूप में जान कर 'अहं ब्रह्मास्मि' के भाव में निमग्न होता हुआ परमानन्द की अनुभूति करता है।

---

120 वही, पृ.४६

121 वही.

4.6. वाक्यवृत्ति नामक प्रकरण-ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श

आचार्य शङ्कर 'वाक्यवृत्ति' नामक प्रकरण ग्रन्थ में उस ज्ञान की व्याख्या करते हैं, जो मुक्ति का साक्षात् साधन है, किन्तु अज्ञानता के कारण शिष्य तत्त्वज्ञान को समझ नहीं पाया और गुरु के समक्ष आत्मसाक्षात्कार के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहता है-

पदार्थमेव जानामि नाद्यापि भगवन्स्फुटम्।

अहं ब्रह्मेति वाक्यार्थं प्रतिपद्ये कथं वद॥[122]

गुरुवर ! आपका कथन है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य आत्मा का पूर्ण ज्ञान करा सकता है और इसका गूढ़ लक्ष्यार्थ चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन द्वारा आत्मसाक्षात्कार का सीधा साधन है। आपके कथनानुसार निश्चय ही मैं इन शब्दों को सुन रहा हूँ, किन्तु इन शब्दों का तात्पर्यार्थ मैं ग्रहण नहीं कर पा रहा हूँ। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' सर्वनाम प्राय: दूर की वस्तु के लिये प्रयुक्त होता है। 'त्वं' शब्द भी सर्वनाम है, जो मध्यम पुरुष के लिए प्रयुक्त होता है। इन दो सर्वनामों में, जिनमें से एक मध्यम पुरुष तथा दूसरा अन्य पुरुष है, उन दोनों के बीच तादात्म्य रूपी ऐक्य कैसे हो सकता है ?

इस इन्द्रियानुभविक सापेक्ष जगत् में 'त्वं' पद का अर्थ कर्त्ता-भोक्ता जीव प्रतीत होता है और 'तत्' पद का अर्थ ईश्वर समझा जाता है, जो सृष्टि की रचना करता है और जीवों को पूर्व कर्मानुसार भोग प्रदान करता है, किन्तु परमार्थ में तुम्हारी आत्मा ही सबकी आत्मा (ब्रह्म) है तथा 'तत्त्वमसि' महावाक्य से उत्पन्न होने वाला जीव और ब्रह्म का तादात्म्य विषयक ज्ञान ही मुक्ति का साधन है-

तत्त्वमस्यादि वाक्योत्थं यज्जीवपरमात्मनो: ।

तादात्म्यविषयं ज्ञानं तदिदं मुक्तिसाधनम् ॥[123]

---

122 वाक्यवृत्ति, पृ. २९

123 वाक्यवृत्ति, श्लोक ६

अर्थात् जो हमें अपने सत् स्वरूप के अनुसंधान में प्रवृत्त करे और जो हमें वर्तमान परिच्छिन्न चेतना से ऊपर उठाकर आत्मज्ञान में स्थिर करे, वही हमारी मुक्ति का सीधा रास्ता है। मुक्ति का तात्पर्य इस परिवर्तन जगत् में प्राप्त होने वाले हमारे समस्त दु:खों से छुटकारा है।

इस मुक्ति का तात्कालिक उपाय अपरोक्ष ज्ञान ही हो सकता है, क्योंकि सत्य की अप्रतीति से भ्रान्ति (अज्ञान) की उत्पत्ति होती है। अपने भौतिक आवरण और उसके पास के पर्यावरण से मिथ्या तादात्म्य कर लेने से ही सांसारिक दु:खों की उत्पत्ति होती है। जीव जब अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसंधान कर यह अनुभव कर लेता है, कि वह स्वयं ब्रह्म है, तो उसका सारा अहंकार समाप्त हो जाता है और उसी के साथ उसके भ्रान्तिजन्य दु:ख भी मिट जाते हैं।

'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ निर्धारण के क्रम में सामान्य रूप से विचार किया जाय तो 'त्वम्' वह असीम आत्मतत्त्व है, जो अन्त:करण और उसकी वृत्तियों में साक्षी बनकर कार्य कर रहा है और 'तत्' वह असीम परमात्म तत्त्व है, जो माया और उसके समस्त विकारों का साक्षी बनकर कार्य करता है। दूसरे शब्दों में इस इन्द्रियानुभविक सापेक्ष जगत् में 'त्वम्' पद का अर्थ कर्त्ता-भोक्ता जीव ही प्रतीत होता है और 'तत्' पद का अर्थ वह परमात्मा समझा जाता है, जो जगत् की रचना करता है और जीवों को उनके कर्मानुसार भोग प्रदान करता है, किन्तु परमार्थ में जीव ही ब्रह्म है।

4.6.1. वाक्यवृत्ति के अनुसार त्वम् पद का वाच्यार्थ

'त्वम्' पद का तात्कालिक अर्थ वैयक्तिक अहं, जीव ही स्पष्ट रूप से समझ में आता है। उसका शाब्दिक अर्थ यही है, किन्तु लाक्षणिक अर्थ 'आत्मा' है। इस प्रकार के ज्ञान के सहारे साधक अपरोक्षानुभूति की दिशा में अग्रसर होता है। 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ का विवेचन करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है-

आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्यय शब्दयो:।

अन्त:करण संभिन्नबोध: स त्वंपदाभिद:॥[124]

जिस अस्मत् प्रत्यय रूप विषयी (चेतन तत्त्व) का आलम्बन पाकर संसार के सभी विषय प्रकाशित होते हैं और जो अन्त:करण से युक्त होकर बाहर के वातावरण तथा अपने अन्दर की घटनाओं का अनुभव करता है, वह जीव है। चैतन्य के प्रकाश में हमारे विचार प्रकाशित होकर चेतनवत् भासित होते हैं और अहं भाव को उत्पन्न करते हैं। विषयों के ज्ञान का साधन अन्त:करण के सीमित होने के कारण हम स्वयं को सीमित समझते हैं और अनन्त कामनाओं एवं तृष्णाओं में आबद्ध होकर महद् दु:ख का अनुभव करते हैं, यही 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ है। इसी क्रम में आचार्य शङ्कर 'त्वम्' पद में निहित अर्थ को श्लोक के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करते हैं, जिसका भाव इस प्रकार है-

- जिसकी सन्निधी मात्र से देह, इन्द्रिय आदि जड़ पदार्थ, वस्तुओं के ग्रहण और त्याग की क्षमता पाते हैं, उस आत्मतत्त्व को 'त्वम्' पद से जानना चाहिये।
- जिसकी सन्निधी मात्र से जड़ देह, इन्द्रियादि भी चेतन आत्मा के समान भासित होते हैं, उस आत्मतत्त्व को 'त्वम्' पद से जानना चाहिये।
- जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और बुद्धि आदि के भाव-अभाव का ज्ञाता जो साक्षात् चेतन आत्मा है, उसको 'त्वम्' पद से जानना चाहिये।
- जो स्थूल एवं सूक्ष्म देहों का संघात नहीं है, उस आत्मतत्त्व को 'त्वम्' पद से जानना चाहिये।
- जो असंग और निर्विकार प्रत्यगात्मा बुद्ध्यादि को गति प्रदान करता है, उस आत्मतत्त्व को 'त्वम्' पद से जानना चाहिये।
- जो साक्षिलक्षण चैतन्य (आत्मा) है, उसी को 'त्वम्' पदार्थ के रूप में अभिहित किया गया है।

---

124 वही, श्लोक, ४४

आत्मा ही शरीर, मन, बुद्धि के स्तर पर होने वाले समस्त अनुभवों का प्रकाशक है और हमारे अन्दर असंग, निर्लेप और साक्षी रूप में विद्यमान सबका द्रष्टा है, जिसे 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'त्वम्' पद से निर्दिष्ट किया गया है।

वेदान्त शास्त्र के अध्ययन के अनन्तर जब हम महावाक्यों के अर्थ का गहन चिन्तन करते हैं, तो हमें इस गूढ़ रहस्य की प्रतीति होती है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'त्वम्' पद सापेक्ष भाव में जीवात्मा का बोधक है, किन्तु अपने गहन अर्थ में यह 'त्वम्' पद प्रत्यगात्मा के शुद्ध ज्ञानस्वरूप का निर्देश करता है। यह चैतन्य सभी प्राणियों में सर्वदा प्रकाशक साक्षी होने के कारण 'आत्मा' कहलाता है।

युगों से 'सत्' की अप्रतीति में पड़े रहने से जीव महावाक्य में प्रयुक्त 'त्वम्' पद का लाक्षणिक अर्थ समझने में असमर्थ होता है। सतत चिन्तन, परस्पर तर्क संगत विचार और स्वतन्त्र रूप से सूक्ष्म मनन के द्वारा 'त्वम्' पद का गहन अर्थ समझ में आ सकता है।

'त्वम्' पद के लाक्षणिक अर्थ को दृढ़ करने के लिये 'तत्त्वमसि' महावाक्य में प्रयुक्त 'तत्' पद के अर्थ को समझना आवश्यक है।

4.6.2. वाक्यवृत्ति के अनुसार तत् पद का वाच्यार्थ

'तत्' पद के वाच्यार्थ ईश्वर का निरूपण करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है-

मायोपाधिर्जगद्योनि: सर्वज्ञत्वादिलक्षण:।

पारोक्ष्यशबल: सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिद:॥[125]

'तत्' पद का वाच्य उस ईश्वर को बताया गया है, जिसकी उपाधि माया है, जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है, सर्वज्ञादि जिसके लक्षण बताये गये हैं, जिसका ज्ञान परोक्ष रूप से होता है और सत्य आदि जिसके स्वरूप लक्षण हैं। ईश्वर वह परमतत्त्व है, जो समष्टि वासनाओं अर्थात् माया की उपाधि के द्वारा व्यक्त होता है। उसके समष्टि रूप विराट्, हिरण्यगर्भ और अव्यक्त के

[125] वही, ४५

रूप में तीन शरीर और वैश्वानर, सूत्रात्मा और अन्तर्यामी के रूप में तीन अहंकार हैं। ईश्वर में ही यह संकल्प उत्पन्न होता है कि मैं एक से अनेक हो जाऊँ और इस संकल्प से जगत् की रचना करता है। वह मायाधिपति नित्यमुक्त, सर्वशक्तिमान सर्वज्ञ और सच्चिदानन्दस्वरूप है। महावाक्य के 'तत्' पद का यही वाच्यार्थ है।

उपनिषदों में 'तत्' पद का अर्थ शिष्य को दो प्रकार से समझाया गया है-

1. **निषेध-मुख से-** जिसमें तत् (ब्रह्म) से पृथक् जो कुछ प्रतीत होता है, उसकी व्यावृत्ति की गयी है।
2. **विधि-मुख से-** जिसमें तत् (ब्रह्म) का साक्षात् निरूपण किया गया है।

इन दोनों विधियों द्वारा जगत् के मूल में अधिष्ठान रूप से विद्यमान तत्त्व का चिन्तन करना चाहिए।

4.6.3. निषेध-मुख से 'तत्' पद का अर्थ

इस विधि द्वारा 'तत्' (ब्रह्म) से पृथक् जो कुछ प्रतीत होता है, उसकी व्यावृत्ति की गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को अह्रस्व, अदीर्घ, अस्थूल आदि कहा गया है। मुण्डक उपनिषद् (*१/१/६*) में उसे अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण आदि निषेधात्मक पदों से उसका निरूपण किया गया है। आत्मा के लिये प्रयुक्त ये निषेधात्मक पद यह सूचित करते हैं कि स्थूल, सूक्ष्म, ह्रस्व, दीर्घ आदि सापेक्ष मापक पदों का पर ब्रह्म में कोई प्रयोजन नहीं है। पर ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर समस्त द्वैत विलीन हो जाता है। इस सत्य का अनुभव कर लेने पर वेदान्त का लक्ष्य और प्रयोजन दोनों सिद्ध हो जाता है।

व्यष्टि अहं जीव और समष्टि अहं ईश्वर दोनों ही एक परमात्मा (ब्रह्म) की अभिव्यक्तियाँ हैं। जीव और ईश्वर अपनी भिन्न उपाधियों के कारण पृथक् प्रतीत होते हैं। अविद्या से परिच्छिन्न परमात्मा जीव है और वही परमात्मा माया से परिच्छिन्न होकर ईश्वर है। जब हमारी अविद्या नष्ट हो जाती है, तब जीव आवरण और विक्षेप से ऊपर उठ जाता है, तो वह माया को भी पार कर जाता है। जीव और ईश्वर के मूल में विद्यमान तत्त्व के दर्शन होने पर एक अनन्त शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ निर्धारण के क्रम में 'वाक्यवृत्ति' नामक प्रकरण ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर 'तत्' पद की व्याख्या निषेध मुख से इस प्रकार करते हैं-

निरस्ताशेषसंसारदोषोऽस्थूलादि लक्षण:।

अदृश्यत्वादिगुणक: पराकृततमोमल:॥[126]

अर्थात् जो संसार के समस्त दोषों से मुक्त है, अस्थूल आदि लक्षणों वाला, अदृश्यत्वादि गुण वाला और अविद्या जनित तम से परे है, उसे उपनिषद् में 'तत्' पद से निरूपित किया गया है।

जिस प्रकार 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव है, किन्तु उसका लक्ष्यार्थ समस्त प्राणियों में उसके समस्त अनुभवों का साक्षी चैतन्य है, उसी प्रकार 'तत्' पद का वाच्यार्थ ईश्वर है और वह भी माया की उपाधि से संसारी है। ब्रह्म ही माया की उपाधि से ईश्वर और अविद्या की उपाधि से जीव है। उपाधि से उपहित होने पर भी ईश्वर, जीव की तुलना में अधिक स्वतन्त्र, तेजोमय, ऐश्वर्यवान और सर्वज्ञ है, फिर भी माया से परिच्छिन्न होने के कारण उसमें ब्रह्म की सीमित अभिव्यक्ति ही है।

इस मत में 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ वह शुद्ध-चैतन्य है, जो माया की उपाधि से सर्वथा विमुक्त है। दूसरे शब्दों में 'तत् 'पद का तात्पर्य यहाँ उस तत्त्व को बताया गया है, जो संसार के समस्त दोषों, यहाँ तक कि जन्म-मृत्यु से भी पूर्णत: मुक्त है।

यहाँ 'ईश्वर' का लक्ष्यार्थ ब्रह्म है। प्रत्येक जीव के स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर होते हैं। ईश्वर के भी तीन शरीर हैं। समष्टि स्थूल शरीर ईश्वर का स्थूल शरीर (विराट्) है। समष्टि सूक्ष्म शरीर उसका सूक्ष्म शरीर (हिरण्यगर्भ) है और समष्टि कारण शरीर अर्थात् जीवों की समस्त वासनाओं का पुंज ईश्वर का कारण शरीर (माया) है। इन समस्त शरीरों से परे परम-तत्त्व है, जो इन उपकरणों और इनकी परिच्छिन्नताओं से अस्पर्श रहता है, वह तत्त्व है 'परब्रह्म', जो 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ है। अत: उस असीम अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर जगत् में

---

126 वाक्य-वृत्ति, श्लोक २९

प्रतीत होने वाला नानात्व अद्वयतत्त्व में विलीन हो जाता है। इस सत्य का अनुभव कर लेने पर वेदान्त का लक्ष्य और प्रयोजन दोनों सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार उपनिषदों में प्रयुक्त निषेधात्मक वाक्यों के आधार पर आचार्य शङ्कर यहाँ 'ब्रह्म' से पृथक् जो कुछ भी प्रतीत होता है, उसकी व्यावृत्ति द्वारा निषेध मुख से 'तत्' पद का अर्थ-निर्धारण करते हैं।

4.6.4. विधि-मुख से 'तत्' पद का अर्थ

'वाक्य-वृत्ति' नामक प्रकरण ग्रन्थ में विधि-मुख द्वारा 'तत्' पद का साक्षात् निरूपण इस प्रकार किया गया है-

निरस्तातिशयानन्द: सत्यप्रज्ञानविग्रह:।

सत्तास्वलक्षण: पूर्ण: परमात्मेति गीयते॥[127]

अर्थात् पर ब्रह्म निरतिशय आनन्दस्वरूप, सत्य, प्रज्ञानविग्रह, सत्तामात्र और पूर्ण है। 'तत्' पद से निर्देशित सर्वव्यापी ब्रह्म को उपनिषद् में निरतिशय आनन्दस्वरूप तथा प्रज्ञानविग्रह कहा गया है। अर्थात् ब्रह्म प्रज्ञान स्वरूप है। यहाँ प्रज्ञान से तात्पर्य है- 'नित्य चेतनस्वरूप'। वही हमारी बुद्धि की चेतना है और उसी से हमारे समस्त विचार प्रकाशित होते हैं। अत: उसे ऋषि ने 'प्रज्ञानं ब्रह्म' कहा। वह शाश्वत, अखण्ड तथा अपरिवर्तनीय है। परब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, जो नामरूपात्मक मिथ्या जगत् की वस्तुओं के गुण-धर्मों से अप्रभावित रहता है। इसी क्रम में आचार्य शङ्कर 'तत्' पद में निहित-अर्थ को श्लोक के माध्यम से और अधिक स्पष्ट करते हैं, जिसका भाव सरल शब्दों में इस प्रकार है-

- वेदान्त के मुमुक्षुओं को जिस तत्त्व का चिन्तन, मनन एवं जिज्ञासा करने के लिये गुरु द्वारा उपदिष्ट किया जाता है, उस तत्त्व (ब्रह्म) को 'तत्' पद से जानना चाहिये।
- जिसे सब प्राणियों में जीवात्मा के रूप में प्रवेश करने वाला एवं उनका नियंत्रण करने वाला बताया गया है, उस तत्त्व (ब्रह्म) को 'तत्' पद से जानना चाहिये।

---

127 वही, ३०

➢ श्रुतियों में जिसे समस्त कर्मों का फलदाता एवं जीवों के कर्तृत्त्व का भी हेतु बताया गया है, उस तत्त्व (ब्रह्म) को 'तत्' पद से जानना चाहिये।

➢ श्रुतियों में मृत्तिका आदि अनेक दृष्टान्तों से जिस ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना हुआ सा हो जाने की प्रतिज्ञा की जाती है, उस तत्त्व को 'तत्' पद से जानना चाहिये।

इस प्रकार विधि मुख से 'तत्' पद में निहित तात्पर्यार्थ 'शुद्ध-चैतन्य' का संकेत मात्र किया गया है। वस्तुत: देखा जाय तो परिच्छिन्न शब्दों के द्वारा अपरिच्छिन्न वस्तु (ब्रह्म) का निरूपण सम्भव नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन में 'त्वम्' और 'तत्' पदों का वाच्यार्थ बताकर आचार्य भगवत्पाद यह स्पष्ट करते हैं कि महावाक्य का वाच्यार्थ ग्रहण करने पर एकत्व की स्थापना नहीं हो सकती, क्योंकि एक ही वस्तु में प्रत्यक् और परोक्ष, द्वैत और एकत्व का आरोप करना विरुद्ध है। अत: यहाँ लक्ष्यार्थ का ग्रहण करना अभिप्रेत है-

"तत्त्वमस्यादिवाक्येषु लक्षणा भागलक्षणा ।"[128]

'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्यार्थ जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा) से प्राप्त होता है। जीव की व्यष्टि और ईश्वर की समष्टिगत उपाधियों का त्याग करने पर अनिवार्य तत्त्व (शुद्ध-चैतन्य, परब्रह्म, अद्वयानन्द) शेष रहता है, यह परमतत्त्व ही व्यक्ति में प्रत्यगात्मा तथा समस्त नामरूपात्मक जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म के रूप में विद्यमान है।

4.6.5. तत् और त्वम् पदों के अर्थों के तादात्म्य की प्रक्रिया

'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ-निर्धारण के अनन्तर वाक्य का अर्थ-निर्धारण आचार्य शङ्कर इस प्रकार से करते हैं-

---

128 वही, ४८

तत्त्वंपदार्थो निर्णीतौ वाक्यार्थश्चिन्त्येतऽधुना।

तादात्म्यमत्र वाक्यार्थस्तयोरेव पदार्थयो:॥[129]

अर्थात् 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ निर्धारण के अनन्तर 'तत्' और 'त्वम्' इन दोनों पदों के अर्थों का तादात्म्य ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का वाक्यार्थ है।

4.6.6. तत् और त्वम् पदों की तत्त्विक-एकता

वैदिक वाङ्मय में निहित मन्त्रों के अर्थ को समझने एवं उसकी व्याख्या के सन्दर्भ में यह परम्परा रही है कि जहाँ मन्त्र का शाब्दिक अर्थ सन्तोषजनक दिखाई न दे, वहाँ गहन अर्थ (गूढार्थ) की खोज करनी चाहिए। इस कथन के आधार पर जहाँ शास्त्रों के गहन अर्थ को स्पष्ट करने में वाच्यार्थ सक्षम नहीं होता, वहाँ सर्वत्र विद्वान् लक्ष्यार्थ की सहायता लेते हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में इस नियम का अक्षरश: पालन किया गया है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य में तीन शब्द 'तत्', 'त्वम्' और 'असि' है। पहले दो शब्दों का अर्थ क्रमश: ईश्वर और जीव है और शब्द 'असि' सम्बन्ध का वाचक है। इसके द्वारा उन दोनों के ऐक्य का उद्घोष किया गया है, किन्तु 'तत्' और 'त्वम्' का शाब्दिक अर्थ (वाच्यार्थ) ईश्वर और जीव ग्रहण करने पर इन दोनों का एकत्व सूचित करने वाले 'असि' शब्द का पूरा भाव स्पष्ट रूप से संगत नहीं बैठता है।

महावाक्य में 'असि' पद द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' में जो पूर्ण एकत्व घोषित किया गया है, वह 'तत्' और 'त्वम्' का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करने से सिद्ध नहीं होता, इसलिए यहाँ गूढ़-अर्थ ग्रहण करना आवश्यक है। यहाँ 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ अद्वयानन्द और 'त्वम्' पद का लक्ष्यार्थ प्रत्यक् बोध निश्चित किया गया है। यह अर्थ 'तत्' और 'त्वम्' पदों के बीच पूर्ण तादात्म्य का अनुसंधान और अनुभव प्राप्त होने पर ही स्वीकार किया जाता है।

अत: इस तादात्म्य की प्रक्रिया में 'तत्' पद का वाच्यार्थ ईश्वर और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ जीव अस्वीकार कर दिया गया है। वाच्यार्थ ग्रहण करने पर इस महावाक्य का अर्थ ब्रह्मनिष्ठ ऋषियों

---

129 वही, श्लोक ३७

की साक्षात् अन्तरानुभूति के विरुद्ध हो जाता है। अत: यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पदों का लक्ष्यार्थ ग्रहण करना अभीष्ट है।

अत: महावाक्य का लक्ष्यार्थ समस्त विचारों और कर्मों का साक्षी स्वरूप प्रकाशक आत्मा (त्वं) और माया की उपाधि से विनिर्मुक्त शुद्ध चैतन्य (तत्) अर्थ स्वीकार करते हुए दोनों में पूर्ण एकत्व स्थापित किया गया है।

इस कथन में लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि वाच्यार्थ द्वारा प्रत्येक शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है, किन्तु किसी प्रसंग विशेष में उन शब्दों का तात्पर्य शब्दकोष में दिये गये उनके वाच्यार्थ (शाब्दिक अर्थ) से कहीं अधिक गम्भीर होता है। यहाँ 'त्वम्' पद का शब्दार्थ जीव और 'तत्' पद का शब्दार्थ ईश्वर है, किन्तु व्यष्टि और समष्टि दोनों एक कैसे हो सकते हैं? फिर भी 'तत्त्वमसि' महावाक्य में इन दोनों की एकता सूचित की गयी है। इस सम्बन्ध में वेदान्त शास्त्र में बड़ी दृढ़ता पूर्वक प्रतिपादन किया गया है कि ये दोनों तत्त्व एक ही सत्ता को सूचित करते हैं, दोनों में तादात्म्य है और इस तात्त्विक एकता का सूचक 'असि' पद है।

पहले 'तत्' और 'त्वम्' पदों का पृथक् अर्थ ईश्वर और जीव बताकर उनकी एकता और तादात्म्य का प्रतिपादन करने की प्रक्रिया भ्रान्ति में पड़े अज्ञानी साधक को असीम परमात्मा का साक्षात्कार कराने में सहायक होती है। ब्रह्म माया की उपाधि से ईश्वर (तत्) और वही ब्रह्म अन्त:करण की उपाधि (अविद्या) में जीव (त्वम्) के रूप में भासित होता है।

आध्यात्मिक पूर्णता का अनुभव प्राप्त कर ज्ञानियों ने जो लक्ष्यार्थ स्वीकार किया है, उसे और अधिक स्पष्ट करते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है-

प्रत्यग्बोधो य आभाति सोऽद्वयानन्दलक्षण:।

अद्वयानन्दरूपश्च प्रत्यग्बोधैकलक्षणा॥[130]

अर्थात् जो अन्तर्तम बोध रूप में भासित होता है, वही तत्त्व अद्वय और आनन्द लक्षण वाला है। जीव और ईश्वर दोनों के मूल में साररूप अद्वयानन्द ही अनुस्यूत है।

---

130 वही, श्लोक ३९

4.6.7. तत् और त्वम् पदों के तादात्म्य-ज्ञान का फल

'तत्त्वमसि' महावाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदों के तादात्म्य ज्ञान का फल बताते हुए आचार्य शङ्कर का कथन है कि जब इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदों के तादात्म्य की प्रतिपत्ति होती है, तभी 'त्वम्' पद के अर्थ में अब्रह्मत्व निवारित होता है-

इत्थमन्योन्य तादात्म्य प्रतिपत्तिर्यदा भवेत्।

अब्रह्मत्वं त्वमर्थस्य व्यावर्तेत तदैव हि॥[131]

जब 'तत्त्वमसि' महावाक्य के लक्ष्यार्थ से जीव (त्वम्) और आत्मा (तत्) के तादात्म्य का बोध हो जाता है और उसे यह अनुभव होने लगता है कि ये दोनों तत्त्व एक ही हैं, तो अविद्या समाप्त हो जाती है और उसी के साथ ही परमात्मा के सत् स्वरूप की अप्रतीति एवं मैं सीमित हूँ, कर्त्ता-भोक्ता हूँ, इस प्रकार की अन्यथा प्रतीति भी पूर्णत: समाप्त हो जाती है। व्यक्ति में ब्रह्म न होने का भाव ही 'अहं' को व्यक्त करता है, किन्तु जीव (त्वम्) और आत्मा (तत्) के तादात्म्य बोध से 'अहं'का भ्रम तत्काल समाप्त हो जाता है।

जीव के वास्तविक स्वरूप प्रत्यग् चैतन्य का बोध होते ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद का यह भ्रामक अर्थ भी समाप्त हो जाता है, कि कोई अदृश्य, अज्ञात सत्ता जगत् में अनुस्यूत होकर जगत् को नियन्त्रित कर रहा है। साधक के यथार्थ बोध में यह तत्काल ज्ञात हो जाता है, कि महावाक्य के 'तत्' पद का अर्थ माया से अपरिच्छिन्न परब्रह्म है।

भेद ज्ञान के कारण ही जीव को सकल सांसारिक दु:ख भोगने पड़ते हैं। ईश्वर और जीव का भेद ज्ञान ही अविद्या है। आत्म-साक्षात्कार होते ही सत् का उद्भव और अविद्या का विलय हो जाता है। अज्ञान में पलने वाला जीव अपने द्वारा कल्पित दु:ख तब तक पालता और सहता रहता है, जब तक वह निद्रा त्याग कर परब्रह्म के सत् स्वरूप का साक्षात्कार नहीं कर लेता। परमात्मा से अपने पृथक् होने का भाव ही जीव को संसार के कष्टकारी बन्धन में डाल देता है, किन्तु 'तत्'

131 वही, ४०

और 'त्वम्' के तादात्म्य का अनुभवजन्य ज्ञान के उद्‌भूत होते ही समस्त अज्ञान रूपी सांसारिक बन्धन नष्ट हो जाते हैं, केवल अद्वयानन्द की अनुभूति होती रहती है।

जीव और ईश्वर तत्त्वत: एक ही हैं तो इससे क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? शिष्य के समक्ष इस प्रकार शंका की उद्भावना कर आचार्य शङ्कर स्वयं उसका निवारण करते हुए कहते हैं कि वैयक्तिक अहं रूप जीव अविद्या के कारण केवल अपने बोध का अनुभव करता है, ब्रह्म का स्वरूप लक्षण अद्वयानन्द उसके अनुभव में नहीं आता है, क्योंकि अज्ञान से उपहित जीव के स्तर पर ब्रह्म विषय रूप में अनुभव में आने वाला चैतन्य नहीं है। अन्त:करण की उपाधि में सदा विक्षेप होते रहने के कारण इन्द्रियों से युक्त जीव प्रकाश्य विषयों के बिना कदापि नहीं रह सकता, इसीलिए शुद्ध ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप को वह ग्रहण नहीं कर पाता।

परमात्मा पूर्ण आनन्दस्वरूप एक अखण्ड तत्त्व है, जो हमारे अनुभव में नहीं आता, किन्तु तत्त्वानुसंधान के अनन्तर जब जीव और ईश्वर का तादात्म्य अपरोक्षरूप में अनुभव में आ जाता है, तब साधक को ब्रह्म का आनन्द और उसकी एकरूपता का साक्षात्कार हो जाता है। उस स्थिति में वह अनुभव करता है कि ब्रह्म पूर्ण, अद्वितीय और आनन्द स्वरूप है। अत: समस्त उपाधियों से परे जाने पर ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। उस अवस्था में चैतन्य के समक्ष कोई विषय प्रकाशित करने के लिए विद्यमान नहीं रहते, इसलिए परमात्मा को यहाँ अद्वयानन्द के रूप में अभिहित किया गया है। समस्त उपाधियों के प्रतिबन्ध से मुक्त होने पर जीव अपने स्वरूप में शुद्ध आनन्दमय ब्रह्म ही है।

इस प्रकार सम्पूर्ण 'तत्त्वमसि' महावाक्य 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ की एकता अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के तादात्म्य को सूचित करता है। इस महावाक्य का जीवब्रह्मैक्य रूप वास्तविक अर्थ प्राप्त होने पर भी जीवात्मा और परमात्मा का एकत्व हमारी बुद्धि में दृढ़ता से स्थापित नहीं हो पाता। अत: इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर का कथन है कि-

अहं ब्रह्मेतिवाक्यार्थबोधो यावद्दृढीभवेत्।

शमादि सहितस्तावदभ्यसेच्छ्रवणादिकम्॥ [132]

132 वाक्यवृत्ति, श्लोक ४९

अर्थात् जब तक 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का अर्थ-बोध दृढ न हो जाये, तब तक शमादि सहित श्रवण आदि का अभ्यास करना चाहिए। शास्त्रों के बार-बार पढ़ने, सुनने और समझने का प्रयास करना चाहिए। श्रवण, मनन और सत्संग से 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य का अर्थ-बोध दृढ़ हो जाता है और व्यक्ति अपने लक्ष्य को प्राप्त कर परमानन्द की अनुभूति करता है।

4.7. आत्मबोध नामक प्रकरण-ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ-विचार

शरीर, मन और बुद्धि की उपाधियों से परिच्छिन्न, अपनी ही वासनाओं से बद्ध, अनन्त विषयों द्वारा प्रलोभित, अनन्त दु:खों और समस्याओं से पीड़ित यह जीव वास्तव में वही उपाधिरहित, अनन्त, अव्यय, सच्चिदानन्द तत्त्व है। अपनी परिच्छिन्नताओं और दु:खों की इस अवस्था में जीव आनन्दमय ब्रह्म नहीं हो सकता, किन्तु जब जीव समस्त भौतिक उपाधियों से ऊपर उठ जाता है, तब इस अहंकार केन्द्रित व्यक्तित्व से छुटकारा पाता है और उसे दिव्य सत्ता की अनुभूति होती है। इस क्रम में आत्मा और ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में आत्मबोध नामक प्रकरण-ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर का कथन है-

निषिध्य निखिलोपाधीन् नेति नेतीतिवाक्यत:।

विद्यादैक्यं महावाक्यै: जीवात्मपरमात्मनो:॥[133]

अर्थात् नेति- नेति शास्त्र-वाक्यों की सहायता से सभी उपाधियों का निषेध करके महावाक्यों द्वारा इंगित जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करना चाहिए। 'प्रज्ञानं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि' ये सभी महावाक्य जीवात्मा और परमात्मा की एकता को सूचित करते हैं, क्योंकि इन सभी में एक ही अद्वितीय ब्रह्म अनुस्यूत है।

इस श्लोक में जीवात्मा की परिच्छिन्नकारी स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर रूप उपाधियों तथा इनके द्वारा अनुभव में आने वाले अनात्म पदार्थ- इन सभी के निषेध की प्रक्रिया द्वारा आत्मज्ञान की विधि की ओर संकेत किया गया है। 'नेति- नेति' के माध्यम से यह विधि साधक को आगे-

133 आत्मबोध, श्लोक ३०

आगे ले जाती है और इसकी परिणति इस अन्तिम अनुभव में होती है कि जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में परमात्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

मेरे भीतर का शुद्ध चैतन्य ही अद्वय सत्ता है तथा यही 'अद्वय तत्त्व' सभी प्राणियों के भीतर आत्मा के रूप में अनुस्यूत है। गुरु 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अद्वैत रूप 'शुद्ध चैतन्य' का शिष्य को उपदेश देते हैं। सत्य का अन्वेषण करने वाला वाला जिज्ञासु साधक लक्ष्य की प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा के कारण इन उपाधियों और उनसे सम्बन्धित बाह्य जगत् के विषयभूत नानात्मक पदार्थों का विश्लेषण करते हुए अपनी विवेक शक्ति द्वारा उन्हें अनात्मा जानकर उनका निषेध कर देता है। मन और बुद्धि के दृश्य होने के कारण काल, देश और कारण का भी निषेध कर दिया जाता है।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा 'हे श्वेतकेतु ! तुम वही चैतन्य हो'- इस रूप में जीव की ब्रह्मरूपता का उपदेश किया गया है। जीव की यह ब्रह्मरूपता स्वभावसिद्ध है। जीव को स्वस्वरूप (ब्रह्ममयता) का अनुभव होने पर उसके शरीरि एवं संसारित्व होने का जो भ्रम है, उसकी निवृत्ति हो जाती है। ब्रह्ममयता का बोध होने पर सीमितता से युक्त लौकिक व्यवहार समाप्त हो जाता है। इसकी पुष्टि श्रुतिवाक्य से की गयी है- *'यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूतत्तत्केन कं पश्येत्।'*[134] इस प्रकार 'तत्त्वमसि' श्रुतवाक्य से इस भाव की प्रतीति होती है कि आत्मबोध के अनन्तर ब्रह्मज्ञानी की दृष्टि में समस्त लौकिक व्यवहार मिथ्या (भ्रममात्र) अनुभूत होते हैं।

4.8. वेदान्तसार नामक प्रकरण ग्रन्थ के आधार पर महावाक्यार्थ विमर्श

अध्यारोप और अपवाद की प्रक्रिया द्वारा गुरु अधिकारी शिष्य को आत्मतत्त्व का उपदेश देता है। इस प्रक्रिया द्वारा शिष्य सच्चिदानन्द और प्रत्यगात्मा की एकता को समझता है, यह इसका मुख्यफल है। अध्यारोप और अपवाद को समझ लेने से 'तत्त्वमसि' महावाक्य में आये हुए 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यह इसका अवान्तरफल है।

4.8.1. तत्त्वमसि महावाक्य का पदार्थ निरूपण

पदों का अलग-अलग अर्थ समझ लेने पर ही वाक्य का अर्थ स्पष्ट होता है। अत: 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में अध्यारोप और अपवाद की सहायता से 'तत्' और 'त्वम्' पदों में निहित अर्थ का उद्घाटन करते हुए आचार्य सदानन्द योगिन्द्र का कथन है-

---

134 बृ.उ. २/४/१४

'आभ्यामध्यारोपापवादाभ्यां तत्त्वम्पदार्थशोधनमपि सिद्धं भवति। तथाहि अज्ञानादिसमष्टि-रेतदुपहितं सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदेकत्वेनावभासमानं तत्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं चैतन्यं तत्पदलक्ष्यार्थो भवति। अज्ञानादिव्यष्टिरेतदुपहिताल्पज्ञत्वादिविशिष्ट चैतन्यमेतदनुपहितं चैतत्त्रयं तप्तायःपिण्डवदे-कत्वेनावभासमानं त्वम्पदवाच्यार्थो भवति। एतदुपाध्युपहिताधारभूतमनुपहितं प्रत्यगानन्दं तुरीयं चैतन्यं त्वम्पदलक्ष्यार्थो भवति।'[135]

अर्थात् अज्ञान आदि (अज्ञान सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरों) की समष्टि और इनसे उपहित सर्वज्ञता आदि से विशिष्ट (ईश्वर, हिरण्यगर्भ और विराट् नामवाले) चैतन्य तथा इनसे अनुपहित स्वयम्प्रकाश अक्षरशब्दवाच्य चैतन्य- ये तीनों जब तपे हुए लौहपिण्ड के समान एकत्व को प्राप्त हुए अभिन्न प्रतीत हों, तो 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनते हैं। इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का अधिष्ठानभूत जो अनुपहित चैतन्य है, वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ बनता है।

इस तथ्य को और अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से आचार्य द्वारा यहाँ 'तप्त लौह पिण्ड' का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार 'अयं पिण्ड: दहति' (लोहे का गोला जलाता है), इस वाक्य का वाच्यार्थ है। यहाँ वक्ता को लोहे का गोला और उसमें सङ्क्रान्त अग्नि अभिन्न प्रतीत हो रहे हैं। इसी प्रकार जब अज्ञानादि की समष्टि, उससे उपहित चैतन्य तथा इसका आधारभूत अनुपहित चैतन्य- ये तीनों जब अभिन्न प्रतीत हों अर्थात् इनका पृथक्-पृथक् ग्रहण न हो, तो 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनते हैं, परन्तु 'अयं पिण्ड: दहति' वाक्य कहने से जब लोहे के गोले से भिन्न 'उसमें सङ्क्रान्त अग्नि ही दाह का हेतु है', ऐसा ज्ञात हो तो वह 'अयं पिण्ड: दहति' का लक्ष्यार्थ होता है। इसी प्रकार जब आधारभूत अनुपहित चैतन्य, उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्यों से भिन्न ज्ञात हो जाय, तो वह 'तत्' पद का लक्ष्यार्थ होता है।

इसी प्रकार अज्ञान आदि (अज्ञान सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर) की व्यष्टि और इनसे उपहित अल्पज्ञता आदि से विशिष्ट (प्राज्ञ, तैजस और विश्व संज्ञा वाले) चैतन्य तथा इनसे अनुपहित चैतन्य- ये तीनों जब तपे हुए लौहपिण्ड के समान एकत्व को प्राप्त हुए अभिन्न प्रतीत हों, तो

---

135 वेदान्तसार, खण्ड ४९

'त्वं' पद का वाच्यार्थ बनते हैं। इन उपाधियों और इनसे उपहित चैतन्य का आधारभूत जो अनुपहित सर्वान्तर आनन्दरूप तुरीय चैतन्य है, वह 'त्वं' पद का लक्ष्यार्थ बनता है।

4.8.2. तत्त्वमसि महावाक्य का वाक्यार्थ निरूपण

'तत्त्वमसि' महावाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अखण्ड-अर्थ का बोधक बनता है- *'इदं तत्त्वमसि वाक्यं सम्बन्धत्रयेणाखण्डार्थबोधकं भवति। सम्बन्धत्रयं नाम पदयो: सामानाधिकरण्यं पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभाव: प्रत्यगात्मपदार्थयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति।' तदुक्तम्-*

सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्ध: पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥

- (नैष्कर्म्यसिद्धि, ३/३)

1. 'तत्' और 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य।
2. दोनों पदों के वाच्यार्थ में विशेषणविशेष्यभाव।
3. प्रत्यगात्मा और दोनों पदों के वाच्यार्थ में लक्ष्यलक्षणभाव।

इन तीन सम्बन्धों के द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य अखण्ड-अर्थ का बोध कराता है, ऐसा ही सुरेश्वराचार्य का भी मत है- 'तत्त्वमसि' महावाक्य के पदों में, उसके वाच्यार्थों में तथा उसके वाच्यार्थों और प्रत्यगात्मा में क्रमश: सामानाधिकरण्य, विशेषणविशेष्यभाव और लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध है।

4.8.2.1. सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध द्वारा अर्थ-निर्धारण

जिन शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न हो, ऐसे दो या अधिक शब्दों का एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होना 'सामानाधिकरण्य' कहलाता है। इसमें दोनों पदों में समान विभक्ति का प्रयोग होता है और दोनों का तात्पर्यर्थ एक ही अर्थ में होता है। इस सम्बन्ध द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विश्लेषण करते हुए आचार्य सदानन्द योगिन्द्र का कथन है-

'सामानाधिकरण्यसम्बन्धस्तावद्यथा 'सोऽयं देवदत्त:' इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालविशिष्टदेवदत्त-वाचकसशब्दस्यैतत्कालविशिष्टदेवदत्तवाचकायं शब्दस्य चैकस्मिन् पिण्डे तात्पर्यसम्बन्ध:।

तथात्र 'तत्त्वमसि' इति वाक्येऽपि परोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यवाचकतत्पदस्यापरोक्षत्वादि-विशिष्टचैतन्यवाचकत्वं-पदस्य चैकस्मिंश्चैतन्ये तात्पर्यसम्बन्धः।'[136]

अर्थात् 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' शब्द भूतकाल विशिष्ट देवदत्त का वाचक है और 'अयम्' शब्द वर्तमानकाल विशिष्ट देवदत्त का वाचक है। इन दोनों शब्दों का एक ही देवदत्त रूप व्यक्ति में तत्पर्य होना 'सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध' है।

इसी प्रकार 'तत् त्वम् असि' वाक्य में 'तत्' पद का प्रवृत्तिनिमित्त परोक्षत्व, सर्वज्ञत्व और नियन्तृत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य तथा 'त्वम्' पद का प्रवृत्तिनिमित्त अपरोक्षत्व, अल्पज्ञत्व और नियम्यत्व आदि से विशिष्ट चैतन्य। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त के भिन्न होने पर भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों का तत्पर्य एक ही चैतन्य में है। अतः दोनों पदों में 'सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध' है।

4.8.2.2. विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध द्वारा अर्थ-निर्धारण

'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ में 'विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध' द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विश्लेषण करते हुए आचार्य सदानन्द योगिन्द्र का कथन है-

'विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दार्थतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्यायं शब्दार्थैतत्कालविशिष्टदेवदत्तस्य चान्योऽन्यभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्पदार्थपरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य त्वम्पदार्थापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यस्य चान्योन्यभेदव्यावर्तकतयाविशेषणविशेष्यभावः।'[137]

अर्थात् 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' शब्द के वाच्यार्थ अतीतकालविशिष्ट देवदत्त और 'अयम्' शब्द के वाच्यार्थ वर्तमानकाल विशिष्ट देवदत्त में पारस्परिक भेद (तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्व) के व्यावर्तक होने के कारण 'विशेषण-विशेष्य भाव' है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' पद के वाच्यार्थ परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य और 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्य में पारस्परिक भेद (परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्व) के व्यावर्तक होने के कारण 'विशेषण-विशेष्य भाव' है।

---

136 वेदान्तसार, खण्ड ५१

137 वही, खण्ड ५२

4.8.2.3. लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध द्वारा अर्थ-निर्धारण

'तत्' और 'त्वम्' पदों के वाच्यार्थ में 'लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध' द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का विश्लेषण करते हुए आचार्य सदानन्द योगिन्द्र का कथन है-

'लक्ष्यलक्षणसम्बन्धस्तु यथा तत्रैव वाक्ये सशब्दायंशब्दयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालैतत्काल-विशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तेन सह लक्ष्यलक्षणभावः। तथात्रापि वाक्ये तत्त्वम्पदयो-स्तदर्थयोर्वा विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वपरित्यागेनाविरुद्धचैतन्येन सह लक्ष्यलक्षण-भावः।'[138]

अर्थात् 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्य में 'सः' शब्द और 'अयम्' शब्द का अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ का तत्कालविशिष्टत्व और एतत्कालविशिष्टत्वरूप विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश देवदत्त के साथ लक्ष्यलक्षणभाव है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ का परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूप विरुद्धांश का परित्याग कर अविरुद्धांश चैतन्य के साथ लक्ष्यलक्षणभाव है। यहाँ 'तत्' और 'त्वम्' पद अथवा इन दोनों के वाच्यार्थ विरुद्धांश से रहित होकर 'लक्षण' हैं और अखण्ड-चैतन्य 'लक्ष्य' है। इस प्रकार पदों अथवा पदार्थों का अखण्ड-चैतन्य (प्रत्यगात्मा) के साथ 'लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध' सिद्ध होता है। इसी भाव का प्रतिपादन आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र द्वारा 'वेदान्तपरिभाषा' में भी किया गया है।[139]

4.9. महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का प्रयोजन

'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' और 'त्वम्' पदों से एक अखण्ड अर्थ (निर्विशेष चैतन्य) विवक्षित है, परन्तु अभिधा से उस अखण्ड-अर्थ का बोध नहीं हो सकता, क्योंकि अभिधा से तो दोनों पदों के परस्पर विरुद्ध वाच्यार्थ की ही प्रतीति हो सकती है। अतः उस अखण्डार्थ बोध के लिए

---

138 वही, ५३

139 *'तत्त्वमसीत्यादौ तत्पदवाच्यस्य सर्वज्ञत्वादिविशिष्टस्य त्वम्पदवाच्येन अन्तःकरणविशिष्टेनैक्यायोगाद् ऐक्यसिद्धार्थस्वरूपे लक्षणेति साम्प्रदायिकाः।'* (वेदान्तपरिभाषा)

लक्षणा का आश्रय लेना आवश्यक है। लक्षणा के द्वारा ही 'तत्' और 'त्वम्' पदों के पारस्परिक विरोध का व्यावर्तन होने पर निर्विशेष चैतन्य रूप अखण्डार्थ का बोध सम्भव हो सकेगा।

4.10. नीलमुत्पलम् एवं तत्त्वमसि महावाक्य के वाक्यार्थ-बोध में प्रक्रियागत भेद एवं इस सम्बन्ध में भाष्यकारों का दृष्टिकोण

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में 'नीलमुत्पलम्' यह वाक्य दृष्टान्त बन सकता है या नहीं? इस सम्बन्ध में वेदान्त-परम्परा में आचार्यों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हमें देखने को मिलता है।

अद्वैत-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में 'नीलमुत्पलम्' वाक्य से प्रक्रियागत भेद इसलिए है कि 'नीलमुत्पलम्' वाक्य में अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है, क्योंकि एक गुण है और दूसरा द्रव्य। अत: 'गुण-गुणी भाव' से भेद का व्यावर्तन करते हुए 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' अथवा 'उत्पलाभिन्नं नीलम्' इस रूप में अभेद का बोधक होता है, किन्तु 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में इस प्रकार का अभेद आचार्य शङ्कर को अभिप्रेत नहीं है, अखण्ड-अर्थ में उनका तात्पर्य निहित है। अत: अखण्डार्थ का बोधक होने के कारण यहाँ अणुमात्र भी भेद सम्भव नहीं है।

ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध आचार्य शङ्कर के परवर्ती भाष्यकारों के चिन्तन के सम्बन्ध में विचार करें तो अधिकतर भाष्यकार 'गुण-गुणी भाव', 'विशेषण-विशेष्य भाव' से 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या कर अभेद का प्रतिपादन करते हैं। अत: उनके चिन्तन में 'नीलमुत्पलम्' यह वाक्य अभेद प्रतिपादन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का दृष्टान्त बन सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर का भिन्न दृष्टिकोण है।

अद्वैत-परम्परा में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में 'तत्त्वपारिजातव्याख्या' के आधार पर कहा जा सकता है कि 'नीलमुत्पलम्' में जिस प्रकार 'गुण-गुणी भाव' है, उसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदों में 'गुण-गुणी भाव' नहीं हो सकता, क्योंकि 'नीलमुत्पलम्' में एक गुण है और दूसरा द्रव्य, जबकि 'तत्त्वमसि' महावाक्य में दोनों द्रव्य हैं। 'तत्पदार्थ' और 'त्वम्पदार्थ' इन दोनों पदों में कुण्डल और सुवर्ण के समान 'कार्य-कारण भाव' भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही नित्य और अविकृत हैं। इनमें 'अंश-अंशी भाव' भी नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही निरवयव हैं। इनमें 'विशेषण-विशेष्य भाव' भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'विशेषण-विशेष्य भाव' के लिए दो तत्त्व आवश्यक है, किन्तु अद्वैत-वेदान्त में तात्त्विक रूप से एक ही सत्ता होने के कारण 'विशेषण-विशेष्य भाव' सम्भव नहीं है।

इस प्रकार अद्वैत-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में 'गुण-गुणी भाव', 'कार्य-कारण भाव', 'अंश-अंशी भाव' और 'विशेषण-विशेष्य भाव' का पूर्णत: निषेध किया गया है, क्योंकि

इनमें से कोई भी सम्बन्ध स्वीकार करने पर वाक्यार्थ संसृष्ट माना जायेगा और संसृष्टार्थक वाक्य अखण्डार्थ का बोधक नहीं हो सकता। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अखण्ड-अर्थ में आचार्य का तात्पर्य होने के कारण इसे स्वगत, सजातीय और विजातीय भेदों से सर्वथा रहित विज्ञानघनमात्र माना गया है और शास्त्रों में निषेध-मुख से 'नेति-नेति' कहकर समस्त विशेषों का प्रत्याख्यान करके 'निर्विशेष शुद्धचैतन्य' का प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में वाक्य-वृत्ति नामक प्रकरण-ग्रन्थ में आचार्य शङ्कर का कथन है-

संसर्गो वा विशिष्टो वा वाक्यार्थो नात्र सम्मत:।

अखण्डैकरसत्वेन वाक्यार्थो विदुषां मत:॥

- (वाक्यवृत्ति, ३८)

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भेदसंसर्गरूप अथवा अभेदसंसर्गरूप वाच्यार्थ सम्मत नहीं है, प्रत्युत विद्वानों को स्वगतादिभेद शून्य वस्तुमात्र के रूप में वाक्य का अर्थ अभिमत है।

4.10.1. लक्षणा-शक्ति

लक्षणा-शक्ति के तीन भेद किये गये हैं-

1. जहल्लक्षणा
2. अजहल्लक्षणा
3. जहदजहल्लक्षणा (भागत्यागलक्षणा)

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में जहदजहल्लक्षणा उपयोगी होने के कारण उसकी चर्चा यहाँ अपेक्षित है, विस्तार भय के कारण यहाँ अन्य दो लक्षणा की चर्चा यहाँ नहीं की जा रही है ।

4.10.1.1. भागत्याग-लक्षणा

वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध कराने वाली वृत्ति जहदजहल्लक्षणा कहलाती है। इसको 'भागलक्षणा' अथवा 'भागत्यागलक्षणा' के नाम से भी जाना जाता है। वाच्यार्थ के भागमात्र का ग्रहण करने के कारण इसको 'भागलक्षणा' और वाच्यार्थ के एक भाग का परित्याग करने के कारण 'भागत्यागलक्षणा' कहा जाता है-

'वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदजहल्लक्षणा।' (विद्वन्मनोरञ्जनी)

'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' और 'त्वम्' पदों में तथा इनके वाच्यार्थों में परस्पर विरोध होने से लक्षणा के विना न तो सामानाधिकरण्य के कारण प्रतीत होने वाले एक वाक्यार्थ की सिद्धि हो सकती है और न उनमें परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव ही सिद्ध हो सकता है। लक्षणा के द्वारा पारस्परिक विरोध की निवृत्ति हो जाने पर विशेषण-विशेष्य भाव भी सिद्ध हो जाता है और वाक्यार्थ भी निष्पन्न हो जाता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में भागत्यागलक्षणा का उपयोग करते हुए आचार्य सदानन्द योगिन्द्र का कथन है-

'तत्त्वमसि' इति वाक्यं तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्यांशे विरोधाद् विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वांशं परित्यज्याविरुद्ध-मखण्डचैतन्यमात्रं लक्षयतीति।'[140]

अर्थात् भागत्यागलक्षणा द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों तथा इन दोनों के वाच्यार्थों में परोक्षत्वादिविशिष्टत्व और अपरोक्षत्वादिविशिष्टत्वरूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करके अविरुद्ध (अखण्ड) चैतन्य मात्र का बोध कराता है।

अपरोक्षानुभूति प्राप्त सिद्ध ज्ञानी पुरुष जीव और ईश्वर का तात्त्विक तादात्म्य उद्घोषित करते हैं। इस तादात्म्य से ब्रह्म और समस्त नामरूपों की एकता सिद्ध होती है। यही अर्थ तत्त्वदर्शी ऋषियों के अनुभव के अनुकूल है। अत: अपने अन्दर साक्षी आत्मा (त्वम्) और सर्वनाम ब्रह्म दोनों में तादात्म्य है और 'तत्त्वमसि' महावाक्य का यही लक्ष्यार्थ भी है। यही विद्वानों द्वारा स्वीकृत मत है।

4.11. अहं ब्रह्मास्मि भाव की अनुभूति

'तत्त्वमसि' उपदेश वाक्य द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पदों के अर्थ की एकता (जीवब्रह्मैक्य) रूप वास्तविक अर्थ प्राप्त होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' के भाव की अनुभूति होती है। इस क्रम में नेति-नेति इस निषेध-प्रक्रिया द्वारा जब व्यक्ति यह अनुभव कर लेता है कि बाह्य और आन्तरिक

---

140 वही, ५७

अनात्म कोशों में से वह कुछ भी नहीं है, तो सब पदार्थों में ओत-प्रोत एक ही नित्य तत्त्व का ज्ञान और अनुभव उसके लिए जीवन्त अनुभव बन जाता है।

जीव ही अविद्या से निवृत्त होकर सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मा है और परमात्मा ही नाम रूप की उपाधि में जीव के समान भासित होता है। इस तथ्य का ज्ञान न रहना ही समस्त अनर्थों का कारण है। आनन्दस्वरूप आत्मा तो हम स्वयं हैं, फिर भी संसार के दु:खों में भटक रहे हैं। किसी कृपालु गुरु के द्वारा जीव और ब्रह्म की एकता अर्थात् हमारे स्वरूप का बोध कराया जाता है, तो उस स्थिति में हम समस्त दु:खों से मुक्त होकर अपने आनन्द में मग्न हो जाते हैं और ब्रह्म ही हमारा वास्तविक स्वरूप है, इस 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य की अनुभूति करते हैं। वेद के सार तत्त्व और उपनिषद् के सर्वोच्च ज्ञान का चिन्तन, मनन कर ब्रह्म में अपना, अपने जगत् और ईश्वर की तत्त्विक एकता को जानना, समझना और भली-भाँति निश्चय करना ही जीवन की पूर्णता और वेदान्त का चरम लक्ष्य है।

इस प्रकार महावाक्य केवल सूत्र मात्र ही नहीं हैं, अपितु वे ऐसी स्वर्ण कुंजियाँ हैं, जो हमारे लिये वाणी और बुद्धि की पहुँच से परे परम उपयोगी तथ्यों का रहस्योद्घाटन करते हैं। मिथ्या के निषेध और वास्तविक तत्त्व के प्रतिपादन की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति 'अहं ब्रह्मास्मि' के भाव से परिपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव की पवित्र भूमि में प्रवेश करता है।

उपर्युक्त विवेचन द्वारा उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि महावाक्य में तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अनेक मूल्यवान् निर्देश, रहस्यमय भाव, वेदों का तात्पर्यार्थ तथा गम्भीर अर्थ बीज रूप में समाहित हैं। इस अध्याय में तत्त्वमसि महावाक्य के विश्लेषण के सन्दर्भ में आचार्य शङ्कर द्वारा अखण्डार्थ रूप शुद्ध चैतन्य में तात्पर्य का निश्चय किया गया है। महावाक्यों के गहन अर्थों का गम्भीर चिन्तन निरन्तर करने से समस्त संशय और विपरीत ज्ञान मन से निकल जाते हैं। संशय और विपरीत ज्ञान ही मानसिक प्रतिबन्धक होते हैं, जिनके कारण आत्मा का साक्षात् अनुभव नहीं हो पाता। अत: श्रवणादि के माध्यम से एवं महावाक्य सम्बन्धी अद्वैत विषयक सतत चिन्तन से अज्ञान की निवृत्ति होने से साधक स्वस्वरूप का साक्षात्कार करता है।

पंचम-अध्याय

अन्य ब्रह्मसूत्रभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

पंचम-अध्याय

अन्य ब्रह्मसूत्रभाष्यों में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

प्रस्थानत्रयी में महर्षि बादरायण विरचित 'ब्रह्मसूत्र' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। अपनी असाधारण विशेषताओं के कारण यह ग्रन्थ अपने रचना-काल से ही अध्ययन-अध्यापन तथा चर्चा में रहा है। यह अत्यन्त सूक्ष्म एवं गहन होने के कारण व्याख्या-सापेक्ष रहा है, अतएव वेदान्त के अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत और भेदाभेद मत के प्राय: सभी आचार्यों ने इस पर अपने भाष्य लिखे हैं, जिनमें से आचार्य शङ्कर, आचार्य भास्कर और विज्ञानभिक्षु द्वारा प्रणीत भाष्य निर्गुण ब्रह्म परक हैं तथा आचार्य रामानुज, आचार्य निम्बार्क, आचार्य मध्व, आचार्य श्रीकण्ठ, आचार्य श्रीपति, आचार्य वल्लभ और आचार्य बलदेव विद्याभूषण द्वारा प्रणीत भाष्य सगुण ब्रह्म परक हैं। सगुण ब्रह्म परक भाष्यों में से आचार्य रामानुज, आचार्य निम्बार्क, आचार्य मध्व, आचार्य वल्लभ और आचार्य बलदेव विद्याभूषण द्वारा प्रणीत भाष्य वैष्णव-सम्मत हैं, तो वहीं आचार्य श्रीकण्ठ और आचार्य श्रीपति के भाष्य शैव-सम्मत।

वैष्णव-परम्परा के चार सम्प्रदाय हैं-

- श्रीसम्प्रदाय।
- सनकसम्प्रदाय।
- ब्रह्मसम्प्रदाय।
- रुद्रसम्प्रदाय।

इन चार सम्प्रदायों में 'श्री-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य रामानुज, 'सनक-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क, 'ब्रह्म-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य मध्व और 'रुद्र-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य विष्णुस्वामी हैं। इन चार सम्प्रदायों को 'वैष्णव-सम्प्रदाय-चतुष्टयी' कहते हैं।

5.1. महावाक्य सम्बन्धी चिन्तन

महावाक्य शब्द वेदान्त दर्शन में पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है, जो एक विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन करता है। समस्त वेद के अर्थ का सार तथा वेदान्त का सर्वोच्च ज्ञान महावाक्यों में सूत्ररूप में निहित है। दूसरे शब्दों में यदि कहा जाये तो तत्त्वज्ञान की दृष्टि से अनेक मूल्यवान् निर्देश, वेदों का तात्पर्यार्थ तथा सृष्टि के रहस्यमय भाव बीज रूप में समाहित होने के कारण ऐसे वाक्यों को महावाक्य के रूप में अभिहित किया गया है। महावाक्यों में निहित ज्ञान की पराकाष्ठा तथा अर्थ-गाम्भीर्य के कारण ही वेदान्त को वेद का सार कहा गया तथा इनको आधार बनाकर पर्याप्त चिन्तन किया गया।

सामान्य रूप से यदि 'तत्त्वमसि' महावाक्य पर विचार किया जाये तो यह महावाक्य केवल अभेद का ही प्रतिपादन नहीं करता, अपितु इसमें भेद (द्वैत) के भी प्रतिपादित होने की सम्भावनाएँ विद्यमान है।

'तत्' और 'त्वम्' दोनों पदों में प्रथमा विभक्ति रूप सामानाधिकरण्य सम्बन्ध दृष्टिगत होने के कारण तादात्म्य द्वारा अभेद का प्रतिपादन किया जाता है, किन्तु यथाश्रुत अर्थ में ही विभक्ति का प्रयोग हो, ऐसा नहीं है, क्योंकि 'ऋजव: सन्तु पन्था:' (मार्ग सरल हो) इस स्थल में एकवचनान्त 'पन्थ:' शब्द की विभक्ति को बहुवचन 'पन्था:' में परिणत करना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद में प्रथमा विभक्ति रहने पर भी उसमें चतुर्थी विभक्ति मानकर '**तस्मै त्वम् असि**' इस रूप में 'तुम उसके लिये हो' अर्थात् जीव परमेश्वर की सेवा के लिये नियुक्त होगा।

इस प्रकार की व्याख्या से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती और इसी कारण से मुक्ति से पूर्व देहादि के सम्बन्ध से शरीर युक्त आत्मा संसार में अनेकानेक कष्टों का अनुभव करता है। यह **भक्ति-पक्ष** की व्याख्या है।

यदि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के पदों में निहित प्रथमा विभक्ति की पञ्चमी विभक्ति के अर्थ में **'तस्मात् त्वम् असि'** इस रूप में व्याख्या करें तो इस महावाक्य का अर्थ होगा- 'उससे तुम हो'- यह **शुद्धाद्वैत मत** की व्याख्या है।

यदि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'तत्' पद में प्रथमा विभक्ति रहने पर भी उसमें षष्ठी विभक्ति मानकर षष्ठी के अर्थ में **'तस्य त्वम् असि'** इस रूप में व्याख्या करें तो इस महावाक्य का अर्थ होगा- 'उसका तुम हो'। वह स्वामी है और तुम सेवक हो। यह **माध्व सम्प्रदाय** के अनुरूप व्याख्या है।

यदि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'तत्' पद में प्रथमा विभक्ति रहने पर भी उसमें सप्तमी विभक्ति मानकर सप्तमी के अर्थ में **'तस्मिन् त्वम् असि'** इस रूप में व्याख्या करें तो इस महावाक्य का अर्थ होगा- 'उसमें ही तुम हो' अर्थात् परमात्मा के आश्रय में जीव रहता है। इस व्याख्या से आत्यन्तिक अभेद का बोध नहीं होता, अपितु जीव और ब्रह्म में 'शरीर-शरीरि भाव' रूप अभेद का बोध होता है। जीवात्मा, परमात्मा का शरीर है, यह **विशिष्टाद्वैत मत** के अनुरूप व्याख्या है।

यदि मध्व चिन्तन के अनुसार 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस वेदवाक्य की व्याख्या 'स आत्मा अतत्त्वमसि' इस रूप में व्याख्या करें तो इस महावाक्य का अर्थ होगा- 'तुम वही नहीं हो'। 'आत्मा अतत्त्वमसि' इस विग्रह में दीर्घ-सन्धि है। जीव भोक्ता है और ईश्वर द्रष्टा है।

इस प्रकार यह एक गम्भीर विषय है कि 'तत्' के भिन्न-भिन्न अर्थ, 'त्वम्' के भिन्न-भिन्न अर्थ और दृष्टिकोण भिन्न होने से 'तत्' और 'त्वम्' के सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न व्याख्याओं के कारण किस प्रकार एक ही महावाक्य के अनेक अर्थ निर्धारित किये गये? अर्थ-निर्धारण के सिद्धान्त क्या हैं और शोध-प्रविधि क्या है? जिसके आधार पर एक ही पद के अनेक प्रकार से अर्थ किये गये और सभी अर्थ मान्यता प्राप्त हैं। इन सभी तथ्यों का विस्तारपूर्वक विवेचन इस अध्याय में किया जायेगा।

इस अध्याय में ब्रह्मसूत्र पर उपलब्ध (भास्करभाष्य से लेकर शक्तिभाष्य पर्यन्त) भाष्यों के आधार पर सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि' (६/८/७) महावाक्य का विश्लेषण

भाष्यकारों के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के आधार पर करते हुए अर्थ-निर्धारण का प्रयास किया जायेगा।

अर्थ-निर्धारण के क्रम में ब्रह्मसूत्र पर भास्कराचार्य विरचित 'भास्करभाष्य' के आधार पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या इस प्रकार है-

5.2. भेदाभेद-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य भास्कर 'त्वम्' और 'तत्' के मध्य भेदाभेद का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने ब्रह्म को जीव से भिन्न एवं अभिन्न दोनों रूप में स्वीकार किया है- *'भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेति स्थितम्।'*[141] 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के पूर्व भाष्यकार के 'भेदाभेद-चिन्तन' को समझना अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य भास्कर का यह 'भेदाभेद-चिन्तन' श्रुति पर आधारित है। वैदिक-चिन्तन में भेदपरक और अभेदपरक श्रुतिवाक्य प्राप्त होने के कारण 'भेदाभेद-सिद्धान्त' श्रुतिसम्मत है। भेद और अभेद दो विरुद्ध धर्मों की स्थिति एक ही आधार (ब्रह्म) में कैसे सम्भव है? इस आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार का कथन है कि जगत्कारण ब्रह्म में अनन्त शक्तियाँ निहित है, अत: स्वशक्तिविक्षेप से स्वेच्छानुसार वह सृष्टि करते हैं तथा प्रलय के समय चराचर जगत् का स्व में संहार कर लेते हैं। यह सारी प्रक्रिया वैसे ही सम्पन्न होती है, जैसे- सूर्य प्रात:काल में किरणों का विस्तार कर बहुत्व को प्राप्त होते हैं और सन्ध्याकाल में सबको अपने अन्दर समाहित करते हुए एकत्व को प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से भेदाभेद में किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

इसी क्रम में आचार्य भास्कर *'उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमि' (ब्र.सू. १/४/२०)* पर भाष्य करते हुए पाञ्चरात्र मत को उद्धृत करते हैं-

आमुक्तेर्भेद एव स्याज्जीवस्य च परस्य च।
मुक्तस्य च न भेदोऽस्ति भेदहेतोरभावत:॥[142]

अर्थात् मुक्ति की अवस्था में 'त्वम्' पद बोध्य जीव 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म से अभिन्न तथा संसारित्व की अवस्था में भिन्न-भिन्न रूप में प्रतीत होता है। इसी क्रम में भाष्यकार द्वारा द्रव्य और गुण का सम्बन्ध भी भेदाभेद माना गया है। *'युक्ते शब्दान्तराच्च' (ब्र.सू. २/१/१८)* में भेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का कथन है-

---

141 ब्र.सू.भा.भा. १/१/४

142 वही, १/४/२०

'न हि शुक्लपटयोर्धर्मधर्मिणोरत्यन्तभेद: किन्त्वेकमेव वस्तु। न हि निर्गुणं नाम द्रव्यमस्ति, न हि निर्द्रव्यो गुणोस्ति तथोपलब्धे: उपलब्धिश्च भेदाभेदव्यवस्थायां प्रमाणं ... अभेदधर्मश्च भेदो यथा महोदधेरभेद: स एव तरङ्गाद्यात्मना वर्तमानो भेद इत्युच्यते। न हि तरङ्गादय: पाषाणादिषु दृश्यन्ते तस्यैव ता: शक्तय: शक्तिशक्तिमतोश्चानन्यत्वम् अन्यत्वं चोपलक्ष्यते यथाग्नेर्दहनप्रकाशनादिशक्तयो भेदा: यथा च वायो: प्राणादिवृत्तिभेदेन भेद:। तस्मात् सर्वमेकानेकात्मकं नात्यन्तमभिन्नं भिन्नं वा।' [143]

अर्थात् 'शुक्ल: पट:' इसमें गुण और द्रव्य भाव होते हुए भी अत्यन्त भेद नहीं है, अपितु ये दोनों एक ही वस्तु को बताते हैं। गुणों के अभाव में द्रव्य रूपी सत्ता का तथा द्रव्य के अभाव में गुण रूपी सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अत: भाष्यकार दृष्टान्त के माध्यम से भेदाभेद का प्रतिपादन करते हैं, जैसे- जल का समुद्र से अभेद है, किन्तु लहर, तरंग आदि के रूप में भेद है और यह भेद रूपी लहर, तरंग आदि जल से भिन्न अन्य (पाषाणादि) स्थलों पर दिखाई नहीं देते। औपाधिक प्रतीत होने वाला भेद भी वस्तुत: अभेद की सत्ता पर ही आश्रित होता है, जैसे लहर, तरंग अभेदात्मक-समुद्र रूपी जल में ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार इस दृष्टान्त में भेद-अभेद दोनों विद्यमान है। शक्तिमान् और शक्ति न तो पूर्णत: भिन्न है, न पूर्णत: अभिन्न, दोनों में परस्पर 'भेदाभेद-सम्बन्ध' है।

5.2.1. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

5.2.1.1. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में 'कारण-कार्य भाव' का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का अभिमत है कि जहाँ उपादान और उपादेय का प्रसंग होता है, वहाँ कारण की दृष्टि से अभेद और कार्य की दृष्टि से भेद होता है। अत: कारणावस्था में 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म एक और अभिन्न है तथा कार्यावस्था में वह 'त्वम्' रूप में भिन्न है-

कार्यरूपेण नानात्वमभेद: कारणात्मना।

हेमात्मना यथाऽभेद: कुण्डलाद्यात्मना भिदा॥[144]

कारणरूप में सर्वत्र विद्यमान होने के परिणामस्वरूप ब्रह्म सभी वस्तुओं से अभिन्न है और अभिन्न होते हुए भी कार्यावस्था में वह नानात्व को प्राप्त होता है। यहाँ कारण-कार्य भाव के

---

143 वही, २/१/१८

144 वही, १/१/४

सम्बन्ध में कुण्डल और सुवर्ण तथा मृत्तिका एवं घट में उपादान-उपादेय भाव तथा आधाराधेय भाव भी है। अत: इस दृष्टि से भेदाभेद में कोई विरोध नहीं है।

'तत्तु समन्वयात्' (ब्र.सू.१/१/४) पर भाष्य करते हुए कारण-कार्य रूप 'तत्-त्वम्' के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में 'दृष्टान्त-पद्धति' का उपयोग करते हुए आचार्य भास्कर स्वर्ण का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। जैसे- स्वर्ण विनिर्मित स्वर्ण कुण्डल, स्वर्ण मुद्रिका से भिन्न है, किन्तु स्वर्णत्व के एक होने से उन दोनों कार्यों में अभेद भी है। यह कार्यरूप भेद औपाधिक है। कुण्डल, मुद्रिका आदि उपाधि के नष्ट होते ही स्वर्णत्व रूप अभेद की प्रतीति होने लगती है। ठीक वैसे ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में 'त्वम्' पद द्वारा कार्यरूप जगत् में नानात्व की प्रतीति होती है, किन्तु अविद्यारूपी उपाधि के नष्ट होते ही 'तत् और त्वम्' में अभेद की अनुभूति होने लगती है। मुख्यतया 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म अन्तर्यामी रूप में सभी वस्तुओं में समान रूप से अनुस्यूत है और सभी वस्तुएँ परस्पर भिन्न हैं। इस प्रकार 'दृष्टान्त-पद्धति' के माध्यम से आचार्य भास्कर 'तत्त्वमसि' का अर्थ-निर्धारण करते हैं।

5.2.1.2. तत्त्वमसि महावाक्य के सम्बन्ध में परिणामवाद

'तत्' स्वशक्तिविक्षेप द्वारा 'त्वम्' रूप में परिणत होता है और इस परिणति में 'तत्' के स्वरूप में लेशमात्र भी विकार नहीं होता। इस सम्बन्ध में आचार्य भास्कर तन्तुनाभ और पटतन्तु का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं-

अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षण:।
परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत्॥[145]

जाले के निर्माण के अनन्तर भी जैसे तन्तुनाभ के स्वरूप में कोई तात्त्विक विकार नहीं होता, जैसे तन्तुओं से विनिर्मित पट में स्थित तन्तुओं में तात्त्विक रूप से कोई विकार नहीं होता, वैसे ही जगत् रूप में परिणति के अनन्तर भी 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म में कोई तात्त्विक विकार नहीं होता। परिणामवाद के सम्बन्ध में भाष्यकार का कथन है- *'ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्स्वभाव्यात्। यथा क्षीरं दधिभावाय अम्भो हिमभावाय।' (ब्र.सू.भा.भा.२/१/२४)* अर्थात् दुग्ध का दधिरूप में जिस प्रकार परिणमन होता है, वैसे ही ब्रह्म का भी जीव एवं प्रपञ्च रूप में परिणमन होता है। इसी भाव का प्रतिपादन ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्य (१/४/२५) में किया गया है- *'तथा च वाक्यं परिणामस्तु स्याद् दध्यादिवदिति विगीतम्'।*

---

145 वही, २/१/१४

ब्रह्म अपनी इच्छा से लोक हित के निमित्त स्वशक्त्यनुसार परिवर्तित होता है- *'स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति।'(ब्र.सू.भा.भा. २/१/१४)* पारमार्थिक रूप से ब्रह्म और जीव जल-तरंग तुल्य हैं, जिसमें ऐक्य स्वाभाविक और वैभिन्य औपाधिक है- *'स च भिन्नाभिन्नस्वरूपो अभिन्नरूपं स्वाभाविकमौपाधिकं तु भिन्नरूपमुपाधीनां च बलवत्त्वात्' (ब्र.सू.भा.भा. २/३/४३)।* इसी भाव का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार ने *'ज्ञोऽत एव'* (ब्र.सू.२/३/१८) में 'अग्निस्फुलिंग-न्याय' द्वारा ब्रह्म के स्वाभाविक और औपाधिक रूप को बताते हैं- *'विस्फुलिङ्गन्यायेन विज्ञानमानन्दं ब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति। स्वाभाविकं चास्य ब्रह्मरूपमौपाधिकमितरत्।'*[146] अर्थात् विस्फुलिंगन्याय द्वारा जीव सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्दमय है, यह उसका स्वाभाविक स्वरूप है, इसके अतिरिक्त अन्य सब कुछ जो उसके स्वरूप में है, वह सब औपाधिक है। इसी क्रम में *'अविभागेन दृष्टत्वात्'(ब्र.सू.४/४/४)* में भाष्यकार का कथन है- *'जीवपरयोश्च स्वाभाविकोऽभेदः औपाधिकस्तु भेदः स तन्निवृत्तौ निवर्तते'*[147] अर्थात् ब्रह्म और जीव के मध्य स्वाभाविक अभेद है और भेद औपाधिक है। उपाधि की निवृत्ति के अनन्तर जीव का ब्रह्म के साथ एकीभाव हो जाता है। इस प्रकार आचार्य भास्कर का चिन्तन 'औपाधिक-भेदाभेदवाद' कहलाता है।

5.2.1.3. तत् और त्वम् पदों के मध्य भेदाभेद-सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में भाष्यकार 'तत्' और 'त्वम्' पदों के मध्य भेदाभेद रूप सम्बन्ध मानते हैं, जिसमें अभेद रूप सम्बन्ध स्वाभाविक है और भेद रूप सम्बन्ध औपाधिक है- *'तत्त्वमसीति श्रुतेर्भिन्नाभिन्नो जीवः स्वाभाविकं नित्यसिद्धमभिन्नरूपमितर-दौपाधिकं प्रवाहनित्यमिति विवेकः' (ब्र.सू.भास्करभाष्य, ३/२/६)।*

यह भेदाभेद-सम्बन्ध तादात्म्य पर आधारित है। आचार्य शङ्कर भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों के मध्य तादात्म्य-सम्बन्ध मानते हैं, किन्तु उनका तादात्म्य अभेदमूलक है और आचार्य भास्कर का तादात्म्य भेदाभेदमूलक है।

'अंशो नानाव्यपदेशात् अन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके' (ब्र.सू. २/३/४३) पर भाष्य करते हुए आचार्य भास्कर 'त्वम्' को 'तत्' का अंश मानते हैं- *'तदंशो जीवोऽस्ति ... यथा*

---

146 वही, २/३/१८

147 वही, ४/४/४

पटस्यांशोऽवयवस्तन्तुरिति।'[148] अंश की व्याख्या करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'उपाध्यवच्छिन्नस्य अनन्यभूतस्य वाचकोऽयमंशशब्दः प्रयुक्तो यथाग्नेर्विस्फुलिङ्गस्य।'*[149] अर्थात् अनन्यभूत सत्ता का उपाधि द्वारा अवच्छिन्न होना ही 'अंश' शब्द वाच्यार्थ है।

अर्थ-निर्धारण के क्रम में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के सम्बन्ध को व्याख्यायित करते हुए भाष्यकार ने *(ब्र.सू.भा.भा. २/३/४३)* में 'अग्निस्फुलिंगवत्' दृष्टान्त द्वारा प्रस्तुत किया है, जिसमें 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म अग्निस्थानीय है और 'त्वम्' पद बोध्य जीव स्फुलिंगस्थानीय है। यहाँ अग्निस्फुलिंग अग्नि से अभिन्न है तथा उपाधियुक्त होने से भिन्न भी है।

इसी प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदों के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हुए भास्कर भाष्य में अन्य स्थल पर उसे 'अहिकुण्डलवत्' दृष्टान्त द्वारा कहा बताया गया है, जिसमें 'तत्' पद बोध्य परमात्मा अहिस्थानीय है और 'त्वम्' पद बोध्य जीव कुण्डलस्थानीय है। ब्रह्म अन्तर्यामी रूप से जीव में अनुप्रविष्ट है, अत: इस रूप में 'तत्' 'त्वम्' के बीच अभेद है तथा जीवत्व रूप उपाधि से अवच्छिन्न होने के कारण 'त्वम्' 'तत्' से भिन्न है। इस प्रकार 'तत्' और 'त्वम्' पदों में परस्पर 'भेदाभेद-सम्बन्ध' है।

भाष्यकार के चिन्तन के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा संसारोपाधि के नष्ट होने पर ब्रह्म और जीव का अभेद वास्तविक प्रतीत होता है। उपाधिगत भेद के नाश होने पर जैसे घटाकाश महाकाश में मिल जाता है, वैसे ही अविद्या रूपी उपाधि के नाश होने पर जीव ब्रह्म के साथ एकीभूत हो जाता है- *'यतः प्रादुर्भूताः तत्रैव स्वकारणे प्रलीयन्ते'(ब्र.सू.भास्करभाष्य ४/२/१४)।*

5.3. विशिष्टाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के पूर्व 'विशिष्टाद्वैत-चिन्तन' को समझना अत्यन्त आवश्यक है। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य रामानुज द्वारा 'श्री-भाष्य' का प्रणयन करने के कारण इस चिन्तन को 'श्री-सम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है। इनका मार्ग प्रपत्ति-मार्ग कहलाता है। प्रपत्ति रूपा भक्ति के वश में होकर भगवान् स्वयं ही जीव को पूर्ण ज्ञान करा देते हैं। इस चिन्तन में तीन तत्त्व माने गये हैं- *'चिदचिदीश्वरभेदेन भोक्तृ-भोग्य-नियामकभेदेन च व्यवस्थितास्त्रयः पदार्थाः।'*[150] अर्थात् चित्, अचित् और ईश्वर के रूप में सत्ता के तीन भेद स्वीकार किये गये हैं, जो क्रमश: भोक्ता, भोग्य और नियामक के रूप में व्यवस्थित हैं। इस विचारधारा में जीव

---

148 वही, २/३/४३

149 वही.

150 सर्वदर्शनसंग्रह, पृ.१६१

ब्रह्म का शरीर है तथा जगत् ब्रह्म का परिणाम (ब्रह्म का अवस्थान्तर) है एवं दोनों ही सत्य हैं। इन दोनों में वे परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव मानते हैं। इसमें जीव चित्, जगत् अचित् तथा ब्रह्म के चित् एवं अचित् से विशिष्ट (युक्त) होने के कारण इनका सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। इन दोनों विशिष्टों में *"विशिष्टयोः ऐक्यम्"* कहकर एकता का प्रतिपादन किया गया है।

5.3.1. विशिष्टाद्वैत पद सम्बन्धी विग्रह

'विशिष्टाद्वैत' सम्बन्धी निर्वचन[151] रूप विग्रह द्रष्टव्य है -

- *'विशिष्टं च तद् अद्वैतं च विशिष्टाद्वैतम्'।*[152]

अर्थात् विशिष्ट है ब्रह्म जिसमें, वह अद्वैतरूपी चिन्तन 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। यहाँ विशिष्ट पद सविशेष का पर्याय है, जिसका अर्थ है- विशेषण से युक्त। विशेषणों के अनेक होने पर भी उनसे विशिष्ट वस्तु एक ही है।

- *'विशिष्टस्य अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्। विशिष्टनिष्ठः अभेद इत्यर्थः'।*[153]
- *'विशिष्टे अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्।'*[154]

अर्थात् विशिष्ट ब्रह्म में विद्यमान अभेद 'विशिष्टाद्वैत' पद का वाच्य है।

- *'सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्टं च स्थूलचिदचिद् विशिष्टं च विशिष्टे तयोः विशिष्टयोः अद्वैतं विशिष्टाद्वैतम्'।*[155]

अर्थात् कारणावस्था वाले सूक्ष्मचिदचिद् विशेषण से विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप का कार्यावस्था वाले स्थूलचिदचिद् विशेषण से विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप के साथ जो अभेद है, उसे 'विशिष्टाद्वैत' शब्द से अभिहित किया गया है। यहाँ सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्व का अर्थ है- परमात्मा द्वारा कारणरूप

---

151 निर्वचन का शाब्दिक अर्थ है- *'निष्कृष्य विगृह्य वचनं निर्वचनम्'* अर्थात् किसी शब्द में निहित अर्थ को विग्रह के द्वारा प्रकट करना।

152 विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन, पृ. ५०६

153 वही, पृ. ५०७

154 वही, पृ. ५०९

155 वही.

सूक्ष्मावस्था वाले चिदचिद् का नियमन करना। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्व का अर्थ है- परमात्मा द्वारा कार्यरूप स्थूलावस्था वाले चिदचिद् का नियमन करना।

सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म कारणावस्था में विद्यमान सूक्ष्मचिदचिद् से विशिष्ट होकर स्थित रहता है तथा सृष्टिकाल में कार्यावस्था में विद्यमान स्थूलचिदचिद् से विशिष्ट हो जाता है। अत: दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म चेतन-अचेतन से विशिष्ट रहता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्वयं स्थूलचिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म के रूप में परिणत हो जाता है- *'तदात्मानं स्वयमकुरुत'(तै.उ. २/७/१)* इस श्रुतिवाक्य में भी ब्रह्म को ही कारण-कार्य का हेतु माना गया है।

इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है-

- *'कार्यावस्थचेतनाऽचेतनात्मकविशेषण-कारणावस्थचेतनाऽचेतनात्मकविशेषणविशिष्टे ब्रह्माणि अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्'* [156]
अथवा
- *'विशेषणद्वयविशिष्टे ब्रह्माणि अद्वैतम् विशिष्टाद्वैतम्'* [157]

सामान्यतया दो विशेषणों से विशिष्ट वस्तु में भेद विद्यमान होता है, किन्तु वैसी स्थिति यहाँ नहीं है। अत: कार्यावस्था वाले चेतन-अचेतनात्मक विशेषण तथा कारणावस्था वाले चेतन-अचेतनात्मक विशेषण से विशिष्ट होने पर भी ब्रह्म में विद्यमान भेद का अभाव 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

विशिष्ट रूप अद्वैत का प्रतिपादन करते हुए इस चिन्तन में कहा गया है कि - *'स्वपृथक्भूतवस्त्वन्तरशून्यम्'*[158] अर्थात् शरीर रूप में सर्वत्र व्याप्त होने के कारण जिससे पृथक् (भिन्न) कुछ है ही नहीं। चेतन-अचेतन रूप जीव-जगत् शरीरात्मभाव से उसमें स्थित होने के कारण उससे 'अपृथक्-सिद्ध' है। अत: अपने से पृथक् वस्त्वन्तर के अभाव वाला विशिष्ट-चैतन्य (ब्रह्म) 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है।

---

156 वही.

157 वही.

158 वही.

5.3.2. तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श

अद्वैत वेदान्त और रामानुज वेदान्त में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में समन्वय की दिशा में भेद है। शाङ्कर वेदान्त के अनुसार 'तत्' पद परोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पद अपरोक्षत्वादिविशिष्ट चैतन्यरूप जीव का बोधक है। दोनों के परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व अंशों में विरोध होने पर भी भागत्याग-लक्षणा द्वारा ब्रह्मात्मैक्य रूप अखण्डार्थ का प्रतिपादन किया गया है।

आचार्य रामानुज का दृष्टिकोण शाङ्कर वेदान्त के उक्त दृष्टिकोण से भिन्न है। इस चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अखण्डार्थ विवक्षित नहीं है, अपितु 'अभेद रूप अर्थ' विवक्षित है। इस क्रम में भाष्यकार अभिधा-शक्ति से 'गुण-गुणी भाव' द्वारा सादृश्य रूप अभेदार्थ का प्रतिपादन करते हैं। अत: 'तत्त्वमसि' महावाक्य के (अभेद रूप) अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

रामानुज-चिन्तन पर आधारित 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' नामक ग्रन्थ में 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य को षड्-विध तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गों ये युक्त मानते हुए विशिष्टाद्वैत-परक व्याख्या की गयी है। आचार्य द्वारा ब्रह्मात्मकत्व की सिद्धि करते हुए जीव को ब्रह्मात्मक बताया गया है- *'ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य स ब्रह्मात्मक: तस्य भाव: ब्रह्मात्मकत्वम्'।*[159] अर्थात् ब्रह्म जिसका आत्मा (अन्तरात्मा, नियामक) होता है, वह सत्ता ब्रह्मात्मक कही जाती है। 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म जीवात्मा का भी आत्मा (नियन्ता) है, इस कारण से जीवात्मा को ब्रह्मात्मक कहा गया है। अन्तर्यामी होने के कारण ब्रह्म जीव में सदैव अनुस्यूत रहता है। इस रूप में 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा श्वेतकेतु नामक जीवविशेष का ब्रह्मात्मकत्व (विशेषण रूप में) वर्णित है। पृथक्-सिद्ध एवं अपृथक्-सिद्ध भेद के आधार पर विशेषण दो प्रकार के होते हैं-

1. **पृथक्-सिद्ध विशेषण-** दण्ड, कुण्डलादि मनुष्य के इच्छानुसार धारण किये जाने पर उसके आश्रित होकर विद्यमान रहते हैं, अत: इस रूप में वे पृथक्-सिद्ध विशेषण कहलाते हैं।
2. **अपृथक्-सिद्ध विशेषण-** शरीर जीवात्मा पर एवं जीवात्मा परमात्मा पर अपनी सत्तापर्यन्त पूर्णतया आश्रित होकर रहते हैं। अत: इस रूप में वे अपृथक्-सिद्ध विशेषण कहलाते हैं।

---

159 वही, पृ. १९५

5.3.3. तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा विशिष्टरूप अभेदार्थ का प्रतिपादन

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में कहा गया है कि जगत् के सम्पूर्ण (चेतन-अचेतन) पदार्थ ब्रह्म के शरीर हैं तथा ब्रह्म आत्मा रूप में प्रविष्ट होकर जीव-जगत् को धारण (नियमन) करता है। आधार रूप आत्मा के प्रति शरीर विशेषण बनता है। अत: शरीरवाचक सभी शब्दों के द्वारा विशेष्य रूप ब्रह्म का ही अभिधान होता है। विशिष्टाद्वैत-चिन्तन की इस पृष्ठभूमि के आधार पर 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य में 'तत्', 'त्वम्' पदों द्वारा सादृश्य रूप अभेदार्थ (ब्रह्म) का अभिधान किया गया है, जो जीवात्मरूप शरीर को धारण करते हुए उससे विशिष्ट होकर कारण रूप में विद्यमान है।

अचेतन रूप शरीर का अधिष्ठाता 'त्वम्' पद बोध्य जीव सविशेष ब्रह्म पर पूर्णतया आश्रित होकर रहता है। दृष्टान्त-पद्धति का उपयोग करते हुए बताया गया है कि ब्रह्म का शरीर जीवात्मरूप ब्रह्म के आश्रित होकर उसी प्रकार विशेषण बनता है, जिस प्रकार शुक्ल आदि रूप द्रव्य के आश्रित होकर द्रव्य के विशेषण बनते हैं। अत: जिस प्रकार द्रव्य की सत्ता (अस्तित्व) से गुण की सत्ता होती है उसी प्रकार जगत्-कारण रूप ब्रह्म की सत्ता से जीव की सत्ता है। जिस प्रकार गुण द्रव्य को छोड़कर पृथक् स्थिति और प्रवृत्ति के योग्य नहीं होता, उसी प्रकार जीव परमात्मा की सत्ता से पृथक् होकर स्थिति और प्रवृत्ति रहित हो जाता है। इस कारण से जीव की स्थिति और प्रवृत्ति पूर्णतया ब्रह्माधीन है।

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के प्रसंग में जीववाचक 'त्वम्' पद उसी प्रकार परमात्मा का बोध कराता है, जैसे गुणवाचक शुक्लादि शब्द शुक्लरूप वाले द्रव्य का बोध कराते हैं। जैसे लोकव्यवहार में गो शब्द का अर्थ मात्र गोत्व नहीं होता, अपितु गोत्व विशिष्ट गोपर्यन्त अर्थ का बोधक होता है, उसी प्रकार 'त्वम्' पद का अर्थ केवल शरीर का अधिष्ठाता जीवमात्र नहीं है, अपितु 'त्वम्' पद का पूर्ण अर्थ शरीर के अधिष्ठाता जीव के अन्तर्यामी ब्रह्मपर्यन्त है। इस प्रकार 'तत्' पद जगत्कारणत्वेन जिस विशिष्ट ब्रह्म का बोध कराता है, 'त्वम्' पद की प्रवृत्ति भी जीवान्तर्यामित्वेन उसी सविशेष ब्रह्म की सिद्धि में होती है। अत: जगत्कारणत्वेन, जीवान्तर्यामित्वेन प्रवृत्तिनिमित्त भिन्न होने पर भी दोनों (तत्, त्वम्) पद एक ही सत्ता (विशिष्ट चैतन्य) का बोध कराते हैं।

रामानुज वेदान्त में चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म का अन्तर्यामी रूप से कथन करते हुए 'तत्' और 'त्वम्' पद का वाच्य अन्तत: एक ही शुद्ध चैतन्य में माना गया है- *'तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेन एकार्थाभि-धायित्वादित्ययमर्थ:।'(श्रीभाष्य, २/३/४५)*

अन्तर्यामी रूप में अनुस्यूत (स्थित) होता हुआ जीवात्मा परब्रह्म का शरीर है। इस दृष्टिकोण के कारण ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'त्वम्' पद द्वारा जीवात्मशरीरक ब्रह्म का तथा 'तत्' पद द्वारा परब्रह्म का अभिधान करते हुए अभेद का प्रतिपादन किया गया है। इस जीवात्मशरीरक अन्तर्यामी ब्रह्म एवं जगत् कारण ब्रह्म (परब्रह्म) के मध्य अभेद की सिद्धि में ही 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का तात्पर्यार्थ निहित है।

अर्थ-निर्धारण के क्रम में 'प्रश्नोत्तर-पद्धति' का आश्रय लेते हुए 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में यह प्रश्न उपस्थापित किया गया है कि जब 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के सामानाधिकरण्य से ही अर्थावबोध हो जाता है, तो महावाक्य में 'असि' पद का प्रयोग क्यों किया गया है? इसका समाधान करते हुए बताया गया है कि 'अस्' धातु द्वारा सत्ता (अस्तित्त्व) का बोध होता है। अत: 'तत्' एवं 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ का तादात्म्य उचित है, यह 'असि' पद से ज्ञात होने के कारण महावाक्य में उसका प्रयोग किया गया है।

मूल सत्ता (चैतन्य) के अन्तर्यामी रूप का 'वेदार्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ में प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *'अन्तर्यामिरूपेण अवस्थितस्य परस्य शरीरतया प्रकारत्वात् जीवात्मन: तत्प्रकारं ब्रह्मैव त्वम् इति शब्देन अभिधीयते'(वेदार्थसंग्रह, पृ.१२)*। यद्यपि यहाँ जीव एवं जगत् की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की गयी है, किन्तु परमात्मा अन्तर्यामी रूप में जीव एवं जगत् में अनुस्यूत है-

'परमेश्वरस्य भोक्तृभोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेण अवस्थानम्।'[160]

इस चिन्तन में जीवात्मा के वाचक 'त्वम्' पद का 'तत्' पद (परमात्मा) में ही पर्यवसान माना गया है- *'जीवात्मशरीरकं परमात्मानमवगम्य जीवात्मवाचिनामहंत्वमादि शब्दानामपि परमात्मन्येव पर्यवसानं ज्ञात्वा 'मामेवविजानीहि'-'मामुपासस्व' इति स्वात्मशरीरकं परमात्मानमेवोपास्यत्वेनोपदिदेश।'*[161]

अर्थात् *'मामेवविजानीहि' 'मामुपासस्व'* - 'मुझे ही जानो' और 'मेरी ही उपासना करो' इस अर्थ में 'उपास्य-उपासक भाव' द्वारा *'तस्मै त्वम् असि'* के रूप में 'तत्' और 'त्वम्' का कथन किया गया है।

चराचर जगत् में चैतन्य (आत्मा) अन्तर्यामी रूप में अनुस्यूत है। सम्पूर्ण जगत् उस चैतन्य का शरीर है, इस कारण से 'त्वम्' पद बोध्य जीव भी विशेषण रूप में 'ब्रह्म' ही है। अत: सब कुछ

---

160 सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. १८६

161 श्रीभाष्य, १/१/३१

ब्रह्मात्मक प्रतीत होने से 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा इस 'अभेद रूप अर्थ' का प्रतिपादन किया गया है।

इसी क्रम में ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य के 'अविभागेन-दृष्टत्वाधिकरण' में अभेद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि मुक्ति की अवस्था में जीव एवं ब्रह्म के मध्य भेद की प्रतीति नहीं होती। वस्तुत: इस चिन्तन में भेद के अभाव का अर्थ है- औपाधिक भेद का अभाव। जीव के नित्य होने के कारण स्वाभाविक भेद प्रत्येक दशा में विद्यमान रहता है। 'अविभागेन-दृष्टत्वात्' (ब्र.सू.श्रीभा.४/४/४) सूत्र द्वारा 'अपृथक्-सिद्ध सम्बन्ध' पर आधारित जीव एवं ब्रह्म के मध्य अभेद का कथन करते हुए कहा गया है- *'ब्रह्मण: स्वात्मानमविभागेनानुभवति मुक्त: ... स्वात्मान: स्वरूपं हि 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि सामानाधिकरण्य निर्देशै: परमात्मकं तच्छरीरतया तत्प्रकारभूतमिति प्रतिपादितम्।'*[162]

अर्थात् मुक्तावस्था में जीव स्व को ब्रह्म से अभिन्न अनुभव करता है। उसकी यह अभिन्नता 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा सामानाधिकरण के आधार पर सिद्ध की गयी है।

5.3.4. तात्पर्य-निर्णायक षड्-विध लिङ्गों द्वारा सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन

'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' नामक ग्रन्थ के 'ब्रह्मविवेचन-खण्ड' के आधार पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में तात्पर्यनिर्णायिक उपक्रम-उपसंहारादि षड्-विध लिङ्गों द्वारा सविशेष ब्रह्म का प्रतिपादन द्रष्टव्य है-

5.3.4.1. उपक्रम-उपसंहार

जिस अर्थ के प्रतिपादन में प्रकरण का तात्पर्य निहित होता है, उसी से प्रकरण का उपक्रम (आरम्भ) किया जाता है और उसी अर्थ में प्रकरण का उपसंहार (समाप्ति) भी होता है। इस प्रकार उपक्रम-उपसंहार की एकवाक्यता प्रकरण के तात्पर्यनिर्णय में हेतु मानी जाती है। जैसे- *'सदेव सोम्येदम् अग्र आसीत्'(छा.उ.६/२/१)* इस श्रुतिवाक्य में सद्विद्या का उपक्रम-वाक्य निमित्तकारणत्व, उपादानकारणत्व तथा इनके लिए उपयोगी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्त्व आदि का बोधक होने के कारण चित् एवं अचित् विशिष्ट सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है। 'तत्त्वमसि' यह उपसंहार वाक्य जगत्कारणत्व और जीवान्तरात्मत्व से विशिष्ट ब्रह्म की एकता का बोध कराने से सविशेष ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है।

---

162 ब्र.सू.श्रीभा. ४/४/४

5.3.4.2. अभ्यास

जिस अर्थ के प्रतिपादन में प्रकरण का तात्पर्य निहित होता है, उसी अर्थ में उसकी बार-बार आवृत्ति 'अभ्यास' कहलाता है। सद्विद्या में चित्, अचित् विशिष्ट ब्रह्म की एकार्थता बोधक 'तत्त्वमसि' महावाक्य की नौ बार आवृत्ति की गयी है। इस आवृत्ति रूप अभ्यास के द्वारा सविशेषाद्वैत ब्रह्म में ही प्रकरण का तात्पर्य निहित है।

5.3.4.3. अपूर्वता

प्रकरण प्रतिपाद्य विषय की शास्त्र से अतिरिक्त अन्य प्रमाण के द्वारा सिद्धि न होना ही 'अपूर्वता' कहलाता है। सद्विद्या के प्रसंग में जगत्कारणत्व, जीवान्तरात्मत्व, अन्तर्यामित्व आदि जो ब्रह्म के विशेषण कहे गये हैं, उनकी शास्त्रातिरिक्त अन्य प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार 'अपूर्वता' द्वारा भी विशिष्टाद्वैत रूप अर्थ में ही तात्पर्य की सिद्धि होती है।

5.3.4.4. फल

प्रकरण प्रतिपाद्य वस्तु को विषय बनाने वाला 'फल' भी तात्पर्य निर्णय में हेतु होता है। इस क्रम में श्रुतिवाक्य *'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्ये'(छा.उ. ६/१४/२)* अर्थात् प्रारब्धजन्य भोग की समाप्ति के अनन्तर ही मोक्षप्राप्ति रूप सविशेष ब्रह्म का सादृश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार मोक्ष रूप ब्रह्म सादृश्य के द्वारा भी सविशेष ब्रह्म की ही सिद्धि होती है।

5.3.4.5. अर्थवाद

प्रशंसा एवं निन्दा परक वाक्य रूप 'अर्थवाद' को प्रकरण प्रतिपाद्य अर्थ के निर्णय में हेतु माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में आरुणि-उद्दालक के मध्य सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादक सद्विद्या विषयक प्रशंसात्मक संवादरूप 'अर्थवाद' का कथन किया गया है। इस प्रशंसापरक संवादरूप 'अर्थवाद' द्वारा भी सविशेष ब्रह्म में ही तात्पर्य का निश्चय होता है।

5.3.4.6. उपपत्ति

तात्पर्यार्थ की सिद्धि हेतु प्रस्तुत किये गये तर्क को 'उपपत्ति' कहा जाता है। प्रतिपाद्य अर्थ की सिद्धि के लिये जो मृत्पिण्डादि का दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है, वह सविशेष ब्रह्म की सिद्धि में 'उपपत्ति' है। मृत्पिण्ड के दृष्टान्त के आधार पर यह बताया गया है कि ब्रह्म के ज्ञान से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होने पर भी ब्रह्म के किसी भी विशेष का निषेध नहीं होता।

इस प्रकार उपक्रम-उपसंहारादि षड्-विध लिङ्ग के माध्यम से 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का तात्पर्यार्थ सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादन में ही सिद्ध होता है।

5.3.5. तत् और त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

'तत्' और 'त्वम्' पदों के मध्य सम्बन्ध का निर्धारण करते हुए 'शरीर-शरीरि भाव', 'अविनाभाव' 'आधार-आधेय भाव', 'नियम्य-नियामक भाव', 'धार्य-धारक भाव', 'अंश-अंशी भाव', 'शेष-शेषी भाव' तथा सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध द्वारा सविशेष ब्रह्म रूप 'विशिष्ट-अद्वैत' की व्याख्या की गयी है, जो द्रष्टव्य है-

5.3.5.1. अविनाभाव-सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के अर्थ-निर्धारण में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के मध्य 'अविनाभाव-सम्बन्ध' मानते हुए अभेद का प्रतिपादन किया गया है। 'अविनाभाव' से तात्पर्य है- *'पृथग्व्यवहारानर्हसंसर्गविशेष अविनाभाव:'*[163] अर्थात् पृथक् व्यवहार के अयोग्य संसर्ग विशेष को 'अविनाभाव' कहते हैं। दूसरे शब्दों में *'पृथक्स्थित्यभाव: अविनाभाव:'*[164] अर्थात् पृथक् न रहने वाला। जिन दो पदार्थों में एक के बिना दूसरा पदार्थ नहीं रह सकता, वे दोनों पदार्थ अविनाभाव (अपृथक्-सिद्ध) कहलाते हैं। जैसे अग्नि के बिना धूम की स्थिति सम्भव नहीं है, अत: अग्नि के साथ धूम का 'अविनाभाव-सम्बन्ध' है। वैसे ही ब्रह्म के बिना जगत् (चित् और अचित्) की स्थिति सम्भव नहीं है, इसलिए 'तत्' के साथ 'त्वम्' (शरीर-जगत् और शरीरी-ब्रह्म) का 'अविनाभाव-सम्बन्ध' है।

5.3.5.2. शरीर-शरीरि भाव सम्बन्ध

रामानुजाचार्य विरचित 'वेदार्थसंग्रह' में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के मध्य 'शरीर-शरीरि भाव' का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *"जीवात्मा तु ब्रह्मण: शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मक: ; 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृ.उ.मा.पा. ५/७/२६) इति श्रुत्यन्तरात्। एवम्भूतस्य जीवस्य शरीरतया प्रकारभूतानि देवमनुष्यादिसंस्थानानि वस्तुनि इति, ब्रह्मात्मकानि तानि सर्वाणि।"*[165]

---

163 विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन, पृ. १९७

164 वही, पृ. १९६

165 वेदार्थसंग्रह, पृ. १६

अर्थात् जीवात्मा 'शरीरी ब्रह्म' के विशेषणरूप में शरीर[166] द्वारा ब्रह्मात्मक प्रतीत होता है। *'यस्यात्मा शरीरम्' (बृ.उ.मा.पा.५/७/२६)* श्रुतिवाक्य को उद्धृत करते हुए इस तथ्य की पुष्टि की गयी है। अत: देव, मनुष्यादि विशेषणों द्वारा शरीररूप में प्रतीत होने वाला जगत् वस्तुत: ब्रह्मात्मक है- *'शरीरात्मभावेन च तदात्मकत्वं, श्रुत्यन्तरात् विशेषतोऽवगतम् ; अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्वात्मा' (तै.आ.३/११/३) इति। प्रशासितृत्वरूपात्मत्वेन सर्वेषां जनानाम् अन्त:प्रविष्ट:। अत: सर्वात्मा- सर्वेषां जनानाम् आत्मा, सर्वं च अस्य शरीरम् इति विशेषतो ज्ञायते ब्रह्मात्मकत्वम् ।'*[167]

ब्रह्म शरीरी तथा जीव-जगत् (चित् और अचित्) ब्रह्म के शरीर हैं। अर्थात् वह शरीरी ब्रह्म शरीर रूप जीव-जगत् का आधार है। जिस प्रकार आत्मा शरीर में सर्वत्र अनुस्यूत होकर उसको धारण करते हुए उसका नियमन करता है, उसी प्रकार 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म भी जीव एवं जगत् को धारण करते हुए नियामक रूप में उसका नियमन करता है- *'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृत:।'*[168]

इसी क्रम में माधवाचार्य विरचित 'सर्वदर्शनसंग्रह' के विशिष्टाद्वैतखण्ड में भी 'त्वम्' पद बोध्य जीव एवं 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म के मध्य 'शरीर-शरीरि भाव' मानते हुए कहा गया है- *'जीवपरमात्मनो: शरीरात्मभावेन तादात्म्यं न विरुद्धमिति प्रतिपादितम्। जीवात्मा हि ब्रह्मण: शरीरतया प्रकारत्वाद् ब्रह्मात्मक:।'(सर्वदर्शनसंग्रह, पृ.१७६)*

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में जीव एवं ब्रह्म में 'शरीरात्मभाव-सम्बन्ध' द्वारा अभेदार्थ सिद्ध होता है, किन्तु यह अभेदार्थ स्वरूप-एकता (अखण्डार्थ) का बोधक नहीं है, अपितु सादृश्य रूप अभेद का बोधक है। जीव एवं ब्रह्म के मध्य 'शरीरात्मभाव-सम्बन्ध' स्वीकार करने से भेदपरक एवं अभेदपरक श्रुतिवाक्यों में आपातत: प्रतीत होने वाले विरोध का परिहार हो जाता है। इसी क्रम में परमात्मा एवं जीवात्मा बोधक 'तत्' और 'त्वम्' पदों के सम्बन्ध में 'आत्म-शरीर भाव' की व्याख्या करते हुए 'वेदार्थसंग्रह' में कहा गया है-

---

166 विशिष्टाद्वैत-चिन्तन में **'शरीर'** शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है- *'सर्वात्मना आधेयतया नियाम्यतया शेषतया च अपृथक्-सिद्धं प्रकारभूतम्'* (वेदार्थसंग्रह, पृ.२४८)। एक अन्य व्याख्या के अनुसार- *'व्याप्यत्वे सति सर्वात्मना स्वार्थे धारयितुं शक्यम्।'* (वही, पृ.२५६)

167 वही, पृ. १८

168 बृ.उ.मा.पा. ३/७/२६

'अयमेव आत्म-शरीरभाव: ; पृथक्सिद्ध्यनर्हाधाराधेयभाव: नियन्तृनियाम्यभाव:, शेषशेषि-भावश्च। सर्वात्मना आधारतया नियन्तृतया शेषितया च आप्नोतीति आत्मा । सर्वात्मना आधेयतया नियाम्यतया शेषतया च अपृथक्सिद्धं प्रकारभूतमिति आकार: शरीरम् इति चोच्यते । एवमेव हि जीवात्मन: स्वशरीरसम्बद्ध:। एवमेव परमात्मन: सर्वशरीरत्वेन सर्वशब्द-वाच्यत्वम्।' [169]

अर्थात् परमात्मा और जीवात्मा सम्बन्धी 'आत्म-शरीर भाव' सम्बन्ध को अपृथक्-सिद्ध होने के कारण 'आधार-आधेय भाव', 'नियन्तृ-नियाम्य भाव' एवं 'शेष-शेषी भाव' के रूप में भी अभिहित किया जाता है। आधार, नियामक एवं शेषी रूप में सर्वात्मा शब्द द्वारा बोध्य परमात्मा का कथन और आधेय, नियाम्य एवं शेष रूप में अपृथक्-सिद्ध विशेषणभूत आत्मा का शरीर रूप में अभिधान किया गया है। इस प्रकार जीवात्मा का स्वशरीर से सम्बद्ध होने के कारण शरीर रूप में एवं परमात्मा का सर्व शरीर से सम्बद्ध होने के कारण 'सर्व' शब्द द्वारा अभिधान होता है। ब्रह्म, जीव और जगत् के सम्बन्ध में 'शरीरात्मभाव-सम्बन्ध' का ही उत्तरोत्तर विस्तार 'नियम्य-नियामक भाव' सम्बन्ध के रूप में, 'धार्य-धारक भाव' सम्बन्ध के रूप में तथा 'शेष-शेषी भाव' सम्बन्ध के रूप द्रष्टव्य है-

5.3.5.3. नियम्य-नियामक भाव सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में जीव-ब्रह्म एवं शरीर-आत्मा के मध्य 'नियम्य-नियामक भाव' सम्बन्ध मानते हुए महावाक्य सम्बन्धी तात्पर्यार्थ का निर्धारण किया गया है। शरीर नियम्य है तथा जीवात्मा नियामक है, क्योंकि शरीर आत्मा के इच्छानुसार कार्य में प्रवृत्त होता है। इसी रूप में जीवात्मा नियम्य है तथा 'तत्' पद बोध्य परमात्मा नियामक है, क्योंकि वह जीवात्मा के अन्दर अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट होकर उसके प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार का नियमन करता है। इस कारण से जीवात्मा नियम्य होकर परमात्मा के इच्छानुरूप कार्य में संलग्न होता है। अत: 'नियम्य-नियामक भाव' द्वारा 'त्वम्' पद को 'तत्' पद से सम्बद्ध बताया गया है।

---

169 वेदार्थसंग्रह, पृ. ७६

5.3.5.4. धार्य-धारक भाव सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में जीव -ब्रह्म तथा शरीर -आत्मा के मध्य 'धार्य-धारक भाव' सम्बन्ध मानते हुए महावाक्य सम्बन्धी तात्पर्यार्थ का निर्धारण किया गया है। इस क्रम में धार्यत्व को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है-

'धार्यत्वं नाम परमात्मस्वरूपसंकल्प व्यतिरेकप्रयुक्तस्वसत्ताव्यतिरेकयोग्यत्वम्।' [170]

अर्थात् परमात्मा के स्वरूप और संकल्प के बिना जिसकी सत्ता एवं स्थिति सम्भव न हो सके, वह धार्य कहलाता है। इस सम्बन्ध में जीवात्मा अपने स्वरूप एवं संकल्प के द्वारा जड़-शरीर को धारण करता है, इसलिए शरीर धार्य है तथा जीवात्मा धारक (धारण करने वाला) है, क्योंकि आत्मा के बिना शरीर की स्थिति सम्भव नहीं है। इसी क्रम में जीवात्मा धार्य है तथा परमात्मा धारक है, क्योंकि परमात्मा के बिना जीवात्मा की स्थिति सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में *'एष सेतुर्विधरण:'*(बृ.उ.४/४/२२) श्रुतिवाक्य के अनुसार परमात्मा को समस्त जगत् (चित्, अचित) को धारण करने वाला सेतु बताया गया है। इस प्रकार 'धार्य-धारक भाव' द्वारा महावाक्य सम्बन्धी 'त्वम्' और 'तत्' पद की व्याख्या की गयी है।

5.3.5.5. शेष-शेषी भाव सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में जीव एवं ब्रह्म के मध्य 'शेष-शेषी भाव' सम्बन्ध माना गया है। श्रीभाष्य की व्याख्या श्रुतप्रकाशिका (१/१/१) में 'शेष-शेषी भाव' को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है-

'परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेष: परश्च शेषी।'[171] अथवा *'शेषप्रतिसम्बन्धित्वं शेषित्वम्।'*[172] *'परमप्रयोजनभूतपरगतातिशयाधायकत्वं शेषत्वम्।'*[173]

अर्थात् उत्कर्षता आदि विशेषताएँ अतिशय कही जाती हैं। दो पदार्थों के मध्य दूसरे की अतिशयता (श्रेष्ठता) को सिद्ध करने की इच्छा से जो पदार्थ ग्राह्य होता है, उसे 'शेष' कहते हैं तथा जिसके लिये ग्राह्य होता है अथवा जो दूसरे से किसी न किसी प्रकार उत्कर्षता को प्राप्त होता है, उसे 'शेषी' कहते हैं। ईश्वर को 'शेषी' रूप में अभिहित करते हुए 'वेदार्थसंग्रह' में कहा गया है-

---

170 विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन, पृ. २०३

171 विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन, पृ. २००

172 वेदार्थसंग्रह, पृ. २४८

173 वही.

'ईश्वरगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव चेतनाचेतनात्मकस्य नित्यस्य अनित्यस्य सर्वस्य वस्तुन: स्वरूपमिति सर्वम् ईश्वरशेषभूतम्, सर्वस्य च ईश्वर: शेषी।' [174]
अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में ब्रह्म को 'शेषी' एवं जगत् (जड़-चेतन रूप चित् एवं अचित्) को 'शेष' रूप में अभिहित किया गया है, क्योंकि जड़-चेतनात्मक सभी पदार्थ परमात्मा के अतिशयता हेतु ग्राह्य होते हैं, इसलिए 'शेष' एवं परमात्मा 'शेषी' है।

5.3.5.6. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

रामानुज वेदान्त में जगत् की व्याख्या के सम्बन्ध में ब्रह्म की दो अवस्थाएँ मानी गयी हैं- कारणावस्था और कार्यावस्था। जगत्कारण रूप सविशेष ब्रह्म ही स्वेच्छानुसार जगत् रूप में परिणत होकर सर्वत्र अनुस्यूत है और उसी का आश्रय पाकर जीव एवं जगत् स्थित है-
'एवं भोक्तृभोग्यरूपेण-अवस्थितयो: सर्वावस्थावस्थितयो: चिदचितो: परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदपृथक्-स्थितिं परंपुरुषस्य चात्मत्वमाहु: काश्चन श्रुतय:।' [175]
अर्थात् चेतन जीव भोक्ता और अचेतन वस्तु भोग्य है, इस प्रकार भोक्ता भोग्य के रूप में अवस्थित सभी अवस्थाओं में सदा एक रूप में चिद् एवं अचित् परमपुरुष परमात्मा के ही शरीर हैं और उसी के द्वारा संचालित होते हैं। परमात्मा से पृथक् रूप में स्थित रहने का इनमें सामर्थ्य नहीं है, इस कारण से श्रुतिवाक्यों में परमपुरुष का आत्मा रूप में उपदेश किया गया है- *'अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानां सर्वात्मा'* [176] *इति। ... 'एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तु-शरीरतया तत्प्रकार: परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित:।'* [177]
अर्थात् वह सभी का शासक अन्तर्यामी आत्मा है। इस प्रकार सभी अवस्थाओं में विद्यमान चित्, अचित् रूप सम्पूर्ण पदार्थ उसी सविशेष ब्रह्म परमात्मा के शरीर होने के कारण उसी के प्रकार (विशेषण) हैं। कारणावस्थ और कार्यावस्थ समस्त चेतन, अचेतन पदार्थों में वह परमात्मा अन्तर्यामी रूप में विद्यमान है, इसी कारण से श्रुतिवाक्यों में (कारणावस्था एवं कार्यावस्था) इन दोनों अवस्थाओं को परमात्मा की ही अवस्था बताया गया है-
'चिदचितो: सर्वावस्थयो: परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात्तत्प्रकार: परमपुरुष: सर्वदा सर्वशब्दवाच्य:।' [178]

---

174 वही, पृ. २६५

175 ब्र.सू.श्रीभा. १/१/१

176 वही.

177 वही.

178 वही.

अर्थात् चित् एवं अचित् रूप में विद्यमान पदार्थ सभी अवस्थाओं में सविशेष ब्रह्म के शरीर रूप में रहते हैं। परमात्मा के विशेषण रूप में इनका सर्वदा अस्तित्व बना रहता है। भाष्यकार द्वारा इसी भाव का विस्तृत रूप से प्रतिपादन करते हुए कहा गया है-

'सर्वे वाचका: शब्दा: अचिद्विशिष्टजीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति, कारणावस्थ-परमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिन: शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तं, अत: स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यकारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद् वस्तुशरीरकं ब्रह्मैव कारणमिति।'[179]

अर्थात् सम्पूर्ण अर्थबोधक शब्द चित्, अचित् विशिष्ट परमात्मा के वाचक हैं। इस कारण से जगत्कारण रूप सविशेष ब्रह्म के बोधक 'तत्' पद के साथ कार्यावस्थ जीवात्मा का बोधक 'त्वम्' पद का सामानाधिकरण्य द्वारा अभेदोक्ति की निर्बाध रूप से सिद्धि होती है। इसी क्रम में 'कारण-कार्य भाव' द्वारा जगत् की व्याख्या करते हुए 'वेदार्थसंग्रह' में कहा गया है-

'कार्यकारणभावादिमुखेन, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यम्'(छा.उ.६/८/७) इति, कृत्स्नस्य जगत: स एवाऽत्मा, कृत्स्नं च जगत् तस्य शरीरम्, तस्मात् त्वंशब्दवाच्यमपि जीवप्रकारं ब्रह्मैव इति, सर्वस्य ब्रह्मात्मकत्वं प्रतिज्ञातम्', 'तत्त्वमसि'(छां.उ.६/९/४) इति जीवविशेषे उपसंहृतम्।'[180]

इस प्रकार कारण-कार्य भाव द्वारा यह स्पष्ट होता है कि स्थूल-सूक्ष्म, जड़-चेतन रूप सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का शरीर रूप विशेषण है तथा इस सम्बन्ध में ब्रह्म स्वयं ही कारण-कार्य रूप में विद्यमान है। सूक्ष्म जड़-चेतन शरीर वाला ब्रह्म ही, स्थूल जड़-चेतन जगत् का कारण है।

5.3.5.7. समानाधिकरण-सम्बन्ध

रामानुजाचार्य द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में 'तत्' पदबोध्य जगत् कारणरूप ब्रह्म एवं 'त्वम्' पदबोध्य जीव का 'समानाधिकरण[181]- सम्बन्ध' से ऐक्य प्रतिपादन करते हुए 'ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य' के 'जिज्ञासाधिकरण' में कहा गया है-

'तत्त्वमस्यादि वाक्येषु सामानाधिकरण्यं न निर्विशेषवस्त्वैक्यपरम्, तत्त्वंपदयो: सविशेषब्रह्मा-भिधायित्वात्। तत्पदंहि सर्वज्ञं सत्यसंकल्पं जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति – "तदैक्षत् बहुस्याम्" इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतित्वात्। तत् सामानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं

---

179 वही.

180 वेदार्थसंग्रह, पृ. १७

181 *'सामानाधिकरण्यं नाम 'द्वयो: पदयो: प्रकारद्वयमुखेन एकार्थनिष्ठत्वम्।'* (वेदार्थसंग्रह, पृ.२४९)

ब्रह्मप्रतिपादयति प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य। प्रकारद्वयपरित्यागे प्रवृत्तिनिवृत्तिभेदासंभवेन सामानाधिकरण्यमेव परित्यक्तं स्यात्, द्वयोः पदयोः लक्षणा च।'[182]

अर्थात् 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के सविशेष ब्रह्म का वाचक होने के कारण 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का निर्विशेष वस्त्वेकपरक अखण्डत्व में तात्पर्यार्थ नहीं है। 'तत्' पद सर्वज्ञ, सत्य, संकल्परूप जगत्कारण सविशेष ब्रह्म का बोधक है। "तदैक्षत् बहुस्याम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा भी उसी भाव का बोध कराते हैं। 'तत्' का सामानाधिकरण 'त्वम्' पद भी अचित् विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का बोधक है। भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त वाले दो पदार्थों की एक अर्थ में प्रवृत्ति को 'सामानाधिकरण्य' शब्द से अभिहित किया गया हैं। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों में यदि प्रकारगत (विशेषणसम्बन्धी) भेद स्वीकार नहीं करेंगे तो भिन्न प्रवृत्तिनिमित्तकता नहीं बनेगी और सामानाधिकरण्य रूप सम्बन्ध का परित्याग करना पड़ेगा, जिसके फलस्वरूप अर्थ-निर्धारण में दोनों पदों में लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना पड़ेगा, जो सिद्धान्तसम्मत नहीं है।

इसी क्रम में दृष्टान्त-पद्धति का उपयोग करते हुए 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का निराकरण किया गया है-

"सोऽयं देवदत्तः" इत्यत्रापि न लक्षणा, भूतवर्तमानकालसंबंधितयैक्यप्रतीत्यविरोधात्। देशभेदविरोधश्च कालभेदेन परिहृतः "तदैक्षत बहुस्यां" इत्युपक्रमविरोधश्च। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञानं च न घटते। ज्ञानस्वरूपस्य निरस्तनिखिलदोषस्य सर्वज्ञस्य समस्तकल्याणगुणात्मकस्य अज्ञानं तत्कार्यानिन्तांपुरुषार्थाश्रियत्वं च न भवति। बाधार्थत्वे च सामानाधिकरण्यस्य त्वंतत्पदयोरधिष्ठानलक्षणा निवृत्तिलक्षणा चेति लक्षणादयस्त एव दोषाः।'[183]

अर्थात् *"सोऽयं देवदत्तः"* इस दृष्टान्त में वाक्य का अन्वय अभिधा (मुख्यार्थ) से ही हो जाने के कारण लक्षणा-शक्ति (लक्ष्यार्थ) की आवश्यकता नहीं है। 'तत्' पद का अर्थ यदि निर्विशेष चैतन्य किया जाय तो "तदैक्षत् बहुस्याम्" इस उपक्रम श्रुतिवाक्य से विरोध होगा और एक विज्ञान से सर्व विज्ञान सम्बन्धी प्रतिज्ञा भी संगत नहीं होगी। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का सामानाधिकरण्य एकत्व बोधक नहीं, अपितु बाधार्थक है, यदि ऐसा कहा जाये तो 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के सर्वाधिष्ठानभूत जगत्कारण परब्रह्म और जीवात्मा के जीवभाव की निवृत्ति के लिये लक्षणा-शक्ति का आश्रय लेना पड़ेगा, जिससे इस सम्बन्ध में कथित सामानाधिकरण्य नियम का भी अवरोध होगा, इसके साथ ही साथ प्रकरण विरोध आदि अनेकानेक दोष उपस्थित होंगे। इस प्रकार समस्त दोषों के निवृत्ति एवं सिद्धान्तसम्मत तात्पर्यार्थ-निर्धारण हेतु सामानाधिकरण्य-

---

182 ब्र.सू.श्रीभा. १/१/१

183 वही.

सम्बन्ध का आश्रय लेते हुए अभेदार्थ का कथन किया गया है- *'जीवशरीरजगत्कारणब्रह्मपरत्वे मुख्यवृत्तं पदद्वयं, प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम्।'*[184]
अर्थात् जीवशरीरक, जगत्कारण रूप परब्रह्म के मुख्यार्थ बोधक 'तत्' एवं 'त्वम्' दो पद हैं, जिसके द्वारा एक ही विशिष्ट वस्तु (सविशेष ब्रह्म) का दो प्रकार से कथन किया गया है, यही इसका सिद्ध सामानाधिकरण्य है। इसी भाव का प्रतिपादन करते हुए 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कहा गया है- *'तत्समानाधिकरणं त्वंपदं चाचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्माचष्टे। प्रकारद्वयविशिष्टैक-वस्तुपरत्वात् सामानाधिकरण्यस्य ।'*[185]
अर्थात् 'तत्' पद का समानाधिकरण 'त्वम्' पद भी अचित् विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का ही बोध कराता है। सामानाधिकरणता (Identity) दो विशेषणों से विशिष्ट किसी एक वस्तु का बोध कराती है। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के सम्बन्ध में भी दो विशेषणों से विशिष्ट होकर अन्तत: उसका पर्यवसान सविशेष ब्रह्म में ही होता है। इसी क्रम में समानाधिकरण द्वारा अभेद का कथन करते हुए वेदार्थसंग्रह में कहा गया है- *'सामानाधिकरण्यं हि ! द्वयो: पदयो: प्रकारद्वय-मुखेन एकार्थनिष्ठत्वम्। 'तत् त्वम्' इति सामानाधिकरण्ये, 'तत्' इत्यनेन जगत्कारणं सर्वकल्याणगुणाकरं निरवद्यं ब्रह्म उच्यते। 'त्वम्' इति च चेतनसमानाधिकरणवृत्तेन जीवान्तर्यामिरूपं तच्छरीरं तदात्मतया अवस्थितं तत्प्रकारं ब्रह्म उच्यते।'*[186]
अर्थात् सामानाधिकरण्य वृत्ति द्वारा 'तत्', 'त्वम्' ये दोनों पद विशेषण रूप से अभेद रूप एकता का बोध कराते हैं। 'तत्' पद द्वारा जगत्कारण, सर्वकल्याणादि गुणों से युक्त सविशेष ब्रह्म का कथन तथा 'त्वम्' पद द्वारा जीवान्तर्यामि रूप उस जगत्कारण ब्रह्म का शरीर एवं विशेषण के रूप में ब्रह्मात्मकत्व का कथन किया गया है।
'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में 'समानाधिकरण-सम्बन्ध' का प्रयोग करते हुए जीवात्मा और परमात्मा के बोधक 'तत्' और 'त्वम्' पदों की प्रवृत्ति अन्तत: जगत्कारणरूप ब्रह्म में बताई गयी है -
'सर्वस्य चिदचिद्वस्तुन: ब्रह्मशरीरत्वात्, सर्वशरीरं सर्वप्रकारं सर्वै: शब्दै: ब्रह्मैवाभिधीयते- इति, 'तत् त्वम्' इति सामानाधिकरण्येन, जीवशरीरतया जीवप्रकारं ब्रह्मैव अभिहितम्। एवमभिहिते सति, अयमर्थो ज्ञायते – 'त्वम्' इति य: पूर्वदेहस्याधिष्ठातृतया प्रतीत:, स: परमात्मशरीरतया परमात्मप्रकारभूत: परमात्मपर्यन्त:। अत: 'त्वम्' इति शब्द: तत्प्रकारविशिष्टं तदन्तर्यामिणमेव

---

184 वही.

185 सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. १७३

186 वेदार्थसंग्रह, पृ. ६७-६८

आचष्टे इति। ... 'तत् त्वम्' इति सामानाधिकरणवृत्तयोः द्वयोरपिपदयोः ब्रह्मैव वाच्यम्। तत्र 'तत्' पदं जगत्कारणभूतं सर्वकल्याणगुणाकरं निरवद्यं निर्विकारम् आचष्टे। 'त्वम्' इति च तदेव ब्रह्म जीवान्तर्यामिरूपं सशरीरं जीवप्रकारविशिष्टमाचष्टे। तदेवं प्रवृत्तिनिमित्तभेदेन एकस्मिन् ब्रह्मण्येव तत् त्वम् इति द्वयोः पदयोः वृत्तिरुक्ता, ब्रह्मणः निरवद्यत्वं निर्विकारत्वं सर्वकल्याणगुणाकरत्वं जगत्कारणत्वं च अबाधितम्।'[187]

अर्थात् चिदचित् रूप सभी वस्तुओं के ब्रह्मशरीर रूपी परिधि के अन्तर्गत विद्यमान होने के कारण सर्वशरीर, सर्वप्रकार (विशेषण) एवं सर्व शब्द द्वारा एकमात्र 'ब्रह्म' का ही अभिधान होता है। इस ब्रह्मपरक (ब्रह्मात्मक) अभिधान में 'तत्' और 'त्वम्' पदों के मध्य 'समानाधिकरण-सम्बन्ध' द्वारा जीव के शरीर रूप एवं विशेषण रूप का अन्ततः ब्रह्म में ही पर्यवसान होता है। इस प्रकार का अभिधान होने पर 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में एकमात्र 'अभेद रूप अर्थ' का ग्रहण करना चाहिए।

'तत्', 'त्वम्' इन दोनों पदों का एक ही अभेदात्मक स्वभाव वाले ब्रह्म में प्रवृत्ति होने के कारण अधिष्ठात्री रूप में पूर्व शरीर में प्रतीत होने वाला 'त्वम्' पद वाच्य जीव का ही परमात्मशरीर द्वारा परमात्मा के विशेषण रूप में अभिधान होता है। अतः 'त्वम्' पद तत्प्रकारविशिष्ट अन्तर्यामि (शुद्ध चैतन्य) का बोधक है- *'अत्राऽपि जगत्कारणभूतस्यैव परस्य ब्रह्मणः जीवान्तर्यामितया जीवात्मत्वम् अविरुद्धम् – इति प्रतिपादितम्। यथाभूतयोरेव हि द्वयोः ऐक्यं सामानाधिकरण्येन प्रतीयते।'*[188]

यहाँ 'तत्' पद का जगत्कारणभूत, सर्वकल्याणकारक, निरवद्य और निर्विकार चैतन्य में तात्पर्यार्थ है तथा 'त्वम्' पद द्वारा प्रतीत होने वाला अन्तर्यामि, सशरीर जीवप्रकारविशिष्ट ब्रह्म ही बोध्य है। प्रवृत्तिनिमित्त के भिन्न होने पर भी 'तत्', 'त्वम्' इन दोनों पदों का एक ही अभेदात्मक चैतन्य (ब्रह्म) में पर्यवसान होता है। इस प्रकार ब्रह्म का निरवद्यत्व, निर्विकारत्व, सर्वकल्याणकारकत्व और जगत्कारणत्व निर्बाधरूप से सिद्ध होता है।

---

[187] वही, पृ. १९-२०

[188] वही, पृ. २६

5.3.5.8. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

'ब्रह्मैव जीव: स्वयम्'(वि.चू.३९५) इस रूप में शाङ्कर वेदान्त के विपरीत रामानुज वेदान्त में जीव एवं ब्रह्म के मध्य अखण्ड रूप अद्वैतता न मानकर अंशांशिभाव का प्रतिपादन किया गया है। जिसके अनुसार ब्रह्म अंशी एवं जीव अंश है। विशिष्ट वस्तु का एकदेशीय भाग 'अंश' कहलाता है, इस रूप में एक विशिष्ट सत्ता का विशेषण उसका अंशभूत ही है- *'एकवस्त्वेकदेशत्वं हि अंशत्वम्, विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव।'*[189]

'अंश' पद का एक अन्य प्रकार से लक्षण करते हुए कहा गया है- *'अपृथक्-सिद्धप्रकारत्वम् अंशत्वम्।'*[190] अर्थात् अपृथक्-सिद्ध प्रकार (विशेषण) 'अंश'[191] कहलाता है। वस्तुत: 'अंश' दो प्रकार के होते हैं-

(i) पृथक्-सिद्ध अंश- धनादि वस्तुएँ मनुष्य की पृथक्-सिद्ध अंश हैं।

(ii) अपृथक्-सिद्ध अंश- प्रभावान् की प्रभा अपृथक्-सिद्ध (स्वाभाविक) अंश है। इस रूप में भेदों से रहित होने के कारण जीवात्मा ब्रह्म का पृथक्-कृत अंश नहीं है, अपितु विशेषण होने के कारण उन्हें ब्रह्म का अपृथक्-सिद्ध (स्वाभाविक) अंश कहा गया है।

'अंश-अंशी भाव' के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र-आनन्दभाष्य (२/३/४६) में कहा गया है- *'यथा सूर्यादि: भारूपप्रकाशवान् सूर्यादिरिति विशेषणत्वेनोपपन्न: प्रकाश: सूर्यादिनामंश इत्यभिधीयते। यथा च देहिनो देवमनुष्यादेर्देहो अंश:। तद्वदेकदेशस्य तद्वस्तुनोंशत्वव्यवहार:। विशिष्टस्य वस्तुन: विशेषणम् अंश एव, एवं जीवस्य परमात्मशरीरत्वेन विशेषणत्वात् परमात्मनो अंश एव जीव:।'*

अर्थात् जिस प्रकार प्रकाशमान् सूर्यादि के विशेषण से उपपन्न प्रकाश सूर्यादि के अंश के रूप में अभिहित होता है और जिस प्रकार देवमनुष्यादि देही का देह (शरीर) अंश होता है, उसी प्रकार वस्तु का एकदेशीय भाग अंश रूप में व्यवहरित होता है। विशिष्ट सत्ता का विशेषण अंश कहलाता है। अत: इस रूप में जीव विशेषण होने के कारण तद्विशिष्ट परमात्मा का अंश है।
रामानुज वेदान्त में सविशेष (चिदचिद् विशिष्ट) स्वरूप ही ब्रह्म पद का वाच्य होने के कारण विशिष्ट सत्ता में ही विशेष्य अंश और विशेषण अंश का व्यवहार किया जाता है। इस चिन्तन में 'तत्' पद का अर्थ है- पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण। इस कारण से अंशाधिकरण के 'अपिस्मर्यते' (ब्र.सू.श्रीभा.२/३/४४) सूत्र में जीव को 'तत्' पद बोध्य पुरुषोत्तम का अंश मानते हुए कहा

---

189 श्रीभाष्य २/३/४५

190 वही, पृ. २०४

191 **अंश-** *'स्वरूपैकदेश:।'* (वेदार्थसंग्रह, पृ. २४९)

गया है- *'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:' इति जीवस्य पुरुषोत्तमांशत्वं स्मर्यते, अतश्चायमंश:।'*[192] अर्थात् मेरा ही सनातन (सदा विद्यमान रहने वाला) अंश जीव रूप में स्थित है, ऐसी जीव की पुरुषोत्तम-अंशता को परम्परा में स्मरण किया गया है। इस प्रकार जीव ईश्वर का अंश रूप ही है।

इसी क्रम में 'ब्रह्मसूत्र श्री-भाष्य' में विशेषण(त्वम्) -विशेष्य(तत्) के मध्य 'अंश-अंशी भाव' का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *'विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं, स्वभावभेदश्चोपपद्यते।'(श्रीभाष्य, २। ३। ४५)* अर्थात् जीव एवं ब्रह्म के मध्य विशेषण-विशेष्य का 'अंशांशिभाव-सम्बन्ध' विद्यमान होते हुए भी उन दोनों में स्वाभाविक भेद रहता है, इसीलिए सूत्रकार ने 'प्रकाशादिवत्तु नैवंपर:' (ब्र.सू.२/३/४५) सूत्र में **'नैवं पर:'** पद द्वारा जैसा जीव है, वैसा ही परमात्मा नहीं है। गुणाधिक्य के तारतम्य से दोनों में 'भेद' का प्रतिपादन किया है। जैसे प्रभा से प्रभावान् की भिन्नता होती है, वैसे ही अपने अंश जीव से परमात्मा भिन्न है।

इसी क्रम में अभेद का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्मेत्यादिषु तच्छब्दब्रह्मशब्दवत् त्वमयमात्मेति शब्दा अपि, जीवशरीरकब्रह्मवाचकत्वेन-एकार्थाभिधायित्वादित्ययमर्थ:।'*[193]

अर्थात् 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' आदि श्रुतिवाक्यों में 'तत्' पद बोध्य ब्रह्म शब्दवत् 'त्वम्' अयम् आत्मा आदि शब्द भी जीवशरीरक ब्रह्म का बोध कराते हुए **अभेद** रूप अर्थ के प्रतिपादक हैं।

इस प्रकार इस चिन्तन में भेद-अभेद दोनों मतों का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें जीव ब्रह्म से अत्यन्त भिन्न नहीं है, अपितु ब्रह्म का अंश होने से भिन्नाभिन्न है- *'जीवोऽपि ब्रह्मणो नात्यन्तभिन्न:। अपितु ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्न:। तत्राभेद एव स्वाभाविक:, भेदस्त्वौपाधिक:।' (श्रीभाष्य १/१/४)*। इस चिन्तन में जीवात्मा परमात्मा से अत्यन्त भिन्न नहीं है, क्योंकि इन दोनों में शरीरात्मभाव-सम्बन्ध माना गया है। जीव की स्वाभाविक नित्यता एवं गुणाधिक्य के तारतम्य के कारण जीव एवं ब्रह्म के स्वरूप में विलक्षणता है। इस कारण से स्वरूपैक्य रूप अखण्डार्थ भी सम्भव नहीं है। अत: रामानुज दर्शन में मुक्ति की अवस्था में जीव ब्रह्म के साथ

---

192 ब्र.सू.श्रीभा. २/३/४४

193 वही, २/३/४५

ऐक्य को प्राप्त न होकर ब्रह्मभाव रूप सादृश्य को प्राप्त होता है- *'ब्रह्मणो भाव: न तु स्वरूपैक्यम्' (श्रीभाष्य १/१/१)।*

5.3.6. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का निराकरण

'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण के क्रम में आचार्य रामानुज लक्षणा के सम्बन्ध में होने वाली लक्षणा-अदोषत्व सम्बन्धी शंका और उसका परिहार इस प्रकार करते हैं- *'ऐक्यतात्पर्यनिश्चयात् न लक्षणादोष: ; 'सोऽयं देवदत्त:' इतिवत्। यथा 'सोऽयम्' इत्यत्र 'स:' इति शब्देन देशान्तरकालान्तरसम्बन्धी पुरुष: प्रतीयते। 'अयम्' इति च सन्निहितदेश-वर्तमानकालसम्बन्धी। तयो: सामानाधिकरण्येन ऐक्यं प्रतीयते। तत्र एकस्य युगपत् विरुद्धदेशकालसम्बन्धितया प्रतीति: न घटते इति द्वयोरपि पदयो: स्वरूपमात्रोपस्थापनपरत्वं स्वरूपस्य च ऐक्यं प्रतिपाद्यते – इति चेत्, नैतदेवम् ;*

'सोऽयं देवदत्त:' इत्यत्रापि लक्षणागन्धो न विद्यते ; विरोधाभावात्। एकस्य भूतवर्तमान-क्रियाद्वयस्य सम्बन्धो न विरुद्ध: ; देशान्तरस्थिति:भूता, सन्निहितदेशस्थिति: वर्तते। अत: भूतवर्तमानक्रियाद्वयसम्बन्धितया ऐक्यप्रतिपादनम् अविरुद्धम्। देशद्वयविरोधश्च कालभेदेन परिहृत:।'[194]

अर्थात् 'तत्' और 'त्वम्' पदों के सम्बन्ध में होने वाले ऐक्यार्थ रूप निश्चय के कारण लक्षणा दोष का 'सोऽयं देवदत्त:' दृष्टान्त द्वारा निराकरण किया गया है। अभिधा-शक्ति द्वारा वाच्यार्थ का अन्वय न होने पर लक्षणा-शक्ति का प्रयोग किया जाता है, किन्तु अर्थ-निर्धारण के क्रम में वाच्यार्थ के अन्वय में कोई बाधा न होने के कारण यहाँ लक्षणा-शक्ति की आवश्यकता नहीं है। जैसे 'स:' 'अयम्' इन पदों में 'स:' पद द्वारा देशान्तर, कालान्तर सम्बन्धी देवदत्त का और 'अयम्' पद द्वारा सन्निहित देश एवं वर्तमान काल सम्बन्धी देवदत्त का बोध होता है। 'स:' 'अयम्' इन दोनों पदों द्वारा 'सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध' से ऐक्य रूप देवदत्त की प्रतीति होती है।

इस दृष्टान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि एक देवदत्त का एक ही समय में दो विरूद्ध देश एवं दो काल सम्बन्धी युगपत् प्रतीति नहीं हो सकती – इस रूप में 'स:' (अतीत काल एवं दूरदेश से सम्बन्ध रखने वाले), 'अयम्' (वर्तमान काल एवं सन्निहित देश से सम्बन्ध रखने वाले)

---

194 वेदार्थसंग्रह

इन दोनों पदों की प्रवृत्ति अन्ततः अभेद रूप देवदत्त में होती है। इस अभेद रूप ऐक्य के प्रतिपादन में 'सः', 'अयम्' पदों में विरोध का अभाव होने के कारण अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। एक ही व्यक्ति का भूतकाल तथा वर्तमान काल सम्बन्धी दो क्रियाओं के साथ सम्बन्ध विरोध वाचक नहीं होता, क्योंकि देशद्वय विरोध का कालभेद से परिहार हो जाता है।

इस प्रकार अतीत काल में दूरदेश में विद्यमान देवदत्त वर्तमान काल में सन्निहित देश में है। यह 'सोऽयम् देवदत्तः' (यह वही देवदत्त है) का मुख्यार्थ है। इसे स्वीकार करने में कोई विरोध नहीं है। अतः यहाँ लक्ष्यार्थ की आवश्यकता नहीं है।

वैसे ही 'तत्त्वमसि' महावाक्य का भी अर्थ-निर्धारण किया गया है, जिसमें 'तत्' पद का प्रवृत्तिनिमित्त जगत्कारणत्व रूप सविशेष ब्रह्म तथा 'त्वम्' पद का प्रवृत्तिनिमित्त जीवान्तर्यामित्व रूप आत्मा है। जगत्कारण रूप सविशेष ब्रह्म जीवरूप शरीर में अन्तर्यामी रूप से विद्यमान रहता है। अतः सिद्धान्त सम्मत अर्थ के अन्वय में कोई विरोध न होने के कारण मुख्यार्थ (अभिधा-शक्ति) से ही अभेदार्थ की सिद्धि हो जाने से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति की आवश्यकता नहीं है।

'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इस श्रुतिवाक्य द्वारा अभिहित जगत् ब्रह्मात्मकत्व का 'तत्त्वमसि' महावाक्य के जीवविशेष में उपसंहार (तात्पर्य का निश्चय) होता है- *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्तस्य तत्त्वमसीति विशेषे उपसंहारः।'*[195] ऐसा ब्रह्मसूत्र-श्रीभाष्य में आचार्य रामानुज द्वारा कहा गया है, इसलिए 'सर्व' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त 'त्वम्' शब्द जीवमात्र का ही बोधक है और 'ऐतदात्म्यम्' शब्द के स्थान पर प्रयुक्त 'तत्' शब्द उसके तदात्मकत्व (ब्रह्मात्मकत्व) का बोधक है- *'इदं सत्यम् प्रमाणप्रतिपन्नं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं जगत् उपादानभूतेन अन्तर्यामिभूतेन च अनेन ब्रह्मणा व्याप्तम्। स परमात्मा सर्वस्य नियन्ता। अतः हे श्वेतकेतो ! त्वं तादृशब्रह्मात्मकोऽसि।'*[196] इस रूप में 'तत्त्वमसि' महावाक्य का 'त्वं तत् असि' यह अर्थ निष्पन्न होता है। 'ऐतदात्म्यम्' इस शब्द द्वारा निर्दिष्ट तदात्मकत्व (ब्रह्मात्मकत्व) का 'तत्' पद से ग्रहण होने के कारण अभिधा से ही 'तत्' पद का ब्रह्मात्मकत्व रूप अर्थ किया गया है। इस प्रकार अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में यहाँ लक्षणा श्रुति के तात्पर्य के अनुकूल नहीं है।

---

195 श्रीभाष्य, १/१/१

196 वेदार्थसंग्रह, पृ. १८६ (प्रमाणार्थकोष से उद्धृत)

5.3.7. तत्त्वमसि श्रुतिवाक्य में लक्षणा रूप अद्वैत-पक्ष एवं उसका निराकरण

अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में आचार्य रामानुज 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य में लक्षणा रूप अद्वैत-मत को पूर्वपक्ष के रूप में रखते हुए उसका निराकरण इस प्रकार से करते हैं-

'ननु 'सोऽयं देवदत्त' इतिवत् तत्त्वमिति पदयोर्विरुद्धभागत्यागलक्षणया निर्विशेषस्वरूपम् आत्मैक्यं सामानाधिकरण्यार्थः किं न स्यात्। यथा सोऽयमित्यत्र देशान्तरकालान्तरसम्बन्धी पुरुषः प्रतीयते। इदं शब्देन च सन्निहितदेशवर्तमानकालसम्बन्धी। तयोः सामानाधिकरण्येनै–क्यमवगम्यते। तत्रैकस्य युगपद्विरुद्धदेशकालप्रतीतिर्न सम्भवतीति द्वयोरपि पदयोः स्वरूपपरत्वे स्वरूपस्य चैक्यं प्रतिपत्तुं शक्यम्। एवमत्रापि किंचिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादि विरुद्धांशप्रहाणेनाखण्डस्वरूपं लक्ष्यत इति चेत् विषमोऽयमुपन्यासः।'[197]

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'सोऽयं देवदत्त' इस दृष्टान्त रूप वाक्य की तरह 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों में भागत्याग लक्षणा द्वारा विद्यमान विरुद्धांश का परित्याग कर निर्विशेष चैतन्य का बोध हो सकता है और इस बोध में 'तत्' एवं 'त्वम्' इन दोनों पदों में समानाधिकरणता (Identity) का अर्थ ग्रहण किया जाता है। यथा- 'सः', 'अयम्' इन पदों द्वारा देशान्तर कालान्तर सम्बन्धी पुरुष का बोध होता है और 'इदम्' शब्द द्वारा सन्निहित देश एवं वर्तमान काल सम्बन्धी पुरुष का बोध होता है। अतः दोनों पदों के मध्य से मतभेद वाले विरुद्ध-अंश को निकाल दें तो दोनों पदों की एकता सामानाधिकरण्य नियम से सिद्ध होती है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य में भी भागत्याग लक्षणा द्वारा अल्पज्ञत्व, सर्वज्ञत्वादि विरुद्धांश का परित्याग कर जीवात्मा और परमात्मा बोधक पदों द्वारा अखण्डार्थ (शुद्ध चैतन्य) का बोध होता है।

विशिष्टाद्वैत-चिन्तन के अनुसार आचार्य रामानुज द्वारा लक्षणा का निराकरण करते हुए कहा गया है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अभेद रूप अर्थ-निर्धारण में लक्षणा का आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक है– ऐसा अद्वैतवादियों का कथन उचित प्रतीत नहीं होता- *'विषमोऽयमुपन्यासः। दृष्टान्तेऽपि विरोधवैधुर्येण लक्षणागन्धासम्भवात्। एकस्य तावद् भूतवर्तमानकालद्वयसम्बन्धो न विरुद्धः। देशान्तरस्थितिर्भूता सन्निहितदेशस्थितिर्वर्तत इति देशभेदसम्बन्धविरोधश्च कालभेदेन परिहरणीयः।'*[198]

अर्थात् 'सोऽयं देवदत्तः' इस दृष्टान्त के अन्वय में विरोध न होने के कारण यहाँ भी लक्षणा-शक्ति की आवश्यकता नहीं है। युगपत् नहीं, अपितु अलग-अलग अवस्थाओं में एक व्यक्ति का सम्बन्ध भूत और वर्तमान दोनों कालों से हो सकता है, इसमें कोई विरोध नहीं है, जिससे लक्षणा

---

197 सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. १७४

198 वही, पृ. १७५

स्वीकार किया जाये। देशान्तर में उसकी स्थिति भूतकाल में थी, अब उसकी स्थिति निकट स्थान में है। अत: स्थान भेद का सम्बन्ध, जिसके कारण विरोध की सम्भावना है, उसका परिहार कालभेद से हो जाता है। अत: महावाक्य सम्बन्धी अभेद रूप अर्थ-निर्धारण में अद्वैतवादियों द्वारा लक्ष्यार्थ ग्रहण श्रुति के तात्पर्य के अनुकूल नहीं है।

5.4. द्वैत-वेदान्त में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

ब्रह्मसूत्र पर आचार्य मध्व द्वारा विरचित भाष्य को 'पूर्णप्रज्ञभाष्य' के नाम से जाना जाता है। श्रुतिवाक्य एवं ब्रह्मसूत्र का द्वैतपरक अर्थ करने के कारण इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'द्वैतवाद' कहलाता है। जीव और ईश्वर की सत्ता नित्य एवं भिन्न-भिन्न होने के कारण इनमें अभेद नहीं हो सकता, इस कारण से मुक्तावस्था में भी द्वैत विद्यमान रहता है। इस चिन्तन में जीव को चेतन रूप, परतन्त्र एवं भगवान् श्रीनारायण का दास माना गया है।

5.4.1. जीवात्मा एवं परमात्मा सम्बन्धी तात्त्विक-भेद का प्रतिपादन

आचार्य मध्व ने 'तत्त्वसंख्यान' नामक ग्रन्थ में स्वतन्त्र और अस्वतन्त्र के रूप में सत्ता के दो भेद किये हैं- *'स्वतन्त्रमस्वतन्त्रं च द्विविधं तत्त्वमिष्यते' (तत्त्वसंख्यान,पृ.१)।* इस कारण से 'तत्त्वमसि' महावाक्य से जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को स्वीकार न करके पूर्णप्रज्ञभाष्य में *'भिन्ना: जीवा: परोभिन्नस्तथापिज्ञानरूपत:'*[199] के द्वारा जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हुए आत्यन्तिक भेद का प्रतिपादन करते हैं- *'जीवेश्वराभेदे आगमस्य न तात्पर्यम् न च जीवेश्वराभेद एव तात्पर्यमागमस्य तत्र प्रमाणाभावात्।'*[200] अर्थात् जीव एवं ईश्वर सम्बन्धी अभेदार्थ प्रतिपादन में आगमप्रमाण की भी प्रवृत्ति नहीं होती, अपितु केवल भेदार्थ में ही आगम का तात्पर्य है, इसलिये कहा गया है- *'सर्वागमविरुद्धमेव जीवेश्वरैक्यम्।'*[201] इसी भेदपरक सिद्धि के सम्बन्ध में आगे कहा गया है- *'भेदस्तु स्वरूपदर्शन एव सिद्ध:। प्राय: सर्वतो विलक्षणं हि पदार्थस्वरूपं दृश्यते। अस्य भेद: इति तु पदार्थस्य स्वरूपमितिवत्। यदि न स्वरूपं भेद: पदार्थे दृष्टे प्राय: सर्वतो वैलक्षण्यं तस्य न ज्ञायेत।'*[202]

---

199 पू.प्र.भा. २/३/२९

200 वि.त.वि. पृ. ७

201 वही, पृ. ३२

202 वही, पृ. १४

अर्थात् पदार्थ-स्वरूप के सम्बन्ध में प्राय: सर्वत्र विलक्षणता देखने को मिलती है, इस आधार स्वरूपत: भेद की सिद्धि हो जाती है। यदि पदार्थों के मध्य स्वरूप भेद न होता तो, उनमें परस्पर गुणाधिक्य का तारतम्य (विलक्षणता, वैविध्य) भी न दिखाई देता। अत: जीवेश्वर सम्बन्धी भेद भी पदार्थ-भेद जैसा ही है। ईश्वर अनन्त गुणों से युक्त होने के कारण पूर्ण है, जबकि जीव अल्प होने के कारण भिन्न है- *'ब्रह्मशब्देन पूर्णगुणत्वेनानुभवसिद्धात्मगुणो जीवो भेद:' (न्यायविवरण, १/१/१)।*

द्वैत-वेदान्त में जीवों का एक-दूसरे से भेद तथा परमात्मा से भेद नित्य रूप से माना गया है- *'सर्वेपि जीवा: परस्परं परमात्मना च भिन्ना:।'*[203] इस चिन्तन में जीवेश्वर सम्बन्धी नित्य भेद मानते हुए उसकी सत्यता भी स्वीकार की गयी है- *'सत्यं भेदवस्तु वस्तूनां नात्रसंशय:।'*[204]
सदसत्-सम्बन्धी विलक्षणता के सम्बन्ध में प्रमाण का अभाव होने के कारण यह भी नहीं कहा जा सकता कि केवल व्यवहार में भेद है और पारमार्थिक रूप से अभेद है- *'न च परमार्थत: भेदाभाव: व्यावहारिक: स: अस्तीति वाच्यम्। सदसद्वैलक्षण्ये प्रमाणाभावात्।'*[205]

5.4.2. तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श

इस विचारधारा के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य अपने दो सर्वनामों द्वारा दो भिन्न तत्त्वों की ओर संकेत करता है। यहाँ 'तत्' का अर्थ वह अज्ञात लक्ष्य, जिसका हमें अनुभव करना है और 'त्वम्' का अर्थ 'जिज्ञासु' है। अत: यहाँ जिज्ञासु और लक्ष्य- ये दोनों पक्ष स्पष्टतया पृथक् स्वरूप में विद्यमान हैं। दो भिन्न पदार्थ एक नहीं हो सकते, इस कारण से जिज्ञासु लक्ष्य के साथ अधिक से अधिक सापेक्ष सम्बन्ध ही रख सकता है। वह कभी उसके साथ न तो एकता की आशा कर सकता है और न ही अद्वय-तत्त्व की तरह कभी पूर्ण हो सकता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है- *'आत्मा हि परमस्वतन्त्र: सर्ववित् सर्वशक्ति: परमसुख: परम: जीवस्तु तद्वश: अल्पज्ञ: अल्पशक्ति: आर्त: अल्पक: इत्यादिश्रुतिभ्य:।'*[206]

---

203 पद्मनाभसूरिकृत् पदार्थसंग्रह, ९

204 न्यायामृत, पृ. ५५८

205 वि.त.वि. पृ. १५

206 वही, पृ. २९

जीवात्मा और परमात्मा में भेद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि परमात्मा परम स्वतन्त्र सर्ववित् सर्वशक्तिमान् एवं परमसुख सम्पन्न है, जबकि जीव ईश्वराधीन, अल्पज्ञ अल्पशक्ति एवं आर्तभावों से युक्त होने के कारण दोनों में पूर्णत: भेद है।

मध्व-परम्परा में विरचित 'तत्त्ववादरहस्य' नामक ग्रन्थ को उद्धृत करते हुए 'तत्त्वमसि' महावाक्य सम्बन्धी अर्थ-निर्धारण के प्रसंग में 'सर्वदर्शनसंग्रह' में कहा गया है- *'तत्त्वमसीत्यत्र स एवात्मा स्वातन्त्र्यादिगुणोपेतत्त्वात्। अतत्त्वमसि त्वं तत्र भवसि तद्रहितत्वादित्येकत्व-मतिशयेन निराकृतम्। तदाह- 'अतत्त्वमिति वा छेदस्तेनैक्यं सुनिराकृतम्। इति। तस्मात् दृष्टान्तनवकेऽपि 'स यथा शकुनि: सूत्रेण प्रबद्ध:'(छा.उ.६/८/३) इत्यादिना भेद एव दृष्टान्ताभिधानान्नायमभेदोपदेश इति तत्त्ववादरहस्यम्।'*[207]

द्वैत-मतानुसार व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस चिन्तन से पूर्व 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में 'त्वं' पद द्वारा उसी चेतन तत्त्व (परमात्मा) का अर्थ ग्रहण किया जाता था, जो स्वातन्त्र्यादि गुणों से युक्त है, किन्तु इस चिन्तन में 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस श्रुतिवाक्य का पदच्छेद 'आत्मा अतत् त्वम् असि' के रूप में करते हुए कहा गया है कि स्वातन्त्र्यादि गुण न होने के कारण तुम वही (परमात्मा) नहीं हो। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' के सम्बन्ध में *'अतत्त्वमिति वा छेदस्तेनैक्यं सुनिराकृतम्।'* इस वाक्य को उद्धृत करते हुए पदच्छेद के माध्यम से 'अतत् त्वम्' पद द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का सम्यक्-रूप से निराकरण किया गया है। इसी सम्बन्ध में कहा गया है-

आह नित्यपरोक्षं तु त्वच्छब्दो ह्यविशेषत: ।

त्वंशब्दश्चापरोक्षार्थं तयोरैक्यं कथं भवेत् ॥ [208]

अर्थात् 'तत्' शब्द सामान्य रूप से नित्य-परोक्ष तत्त्व का बोध कराता है, जबकि 'त्वम्' पद प्रत्यक्ष वस्तु का बोधक है, अत: दोनों में ऐक्य कैसे सम्भव हो सकता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कहा गया है- *'आदित्यो यूप इतिवत्सादृश्यार्था तु सा श्रुति:।'*[209]

अर्थात् आदित्य ही यूप है। जिस प्रकार आदित्य और यूप में एकता असम्भव देखकर सादृश्य रूप अर्थ को ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के अर्थ में एकता सम्भव न होने पर इस श्रुति में जीव को ब्रह्म के सदृश रूप अर्थ ग्रहण में तात्पर्य का निश्चय किया जाता है। इस सम्बन्ध में परम श्रुति में कहा गया है-

जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु ।

---

207 सर्वदर्शनसंग्रह, पृ. २३४

208 स.द.सं. पृ. २३३

209 वही.

न स्वरूपैकता तस्य युक्तस्यापि विरूपतः ।
स्वातन्त्र्यपूर्णतेऽल्पत्वपारतन्त्र्ये विरूपते ॥ [210]

अर्थात् जीव की परम एकता का तात्पर्य है- बुद्धि में समरूप हो जाना। 'तत्' एवं 'त्वम्' के सम्बन्ध में परम श्रुति में कहा गया है कि जीवात्मा बद्ध तो क्या, यदि मुक्त हो जाय तब भी विरूद्ध धर्म होने के कारण ईश्वर के साथ स्वरूपैक्य नहीं हो सकता, क्योंकि ईश्वर स्वातन्त्र्य शक्ति एवं पूर्णता से युक्त है, जबकि जीव अल्पज्ञ एवं परतन्त्र है।

5.4.3. जीवपरमात्मैक्य रूप अर्थ में श्रुतितात्पर्य-सम्बन्धी विरोध

आचार्य मध्व द्वारा भेद का प्रतिपादन करते हुए 'विष्णुतत्त्वविनिर्णय' नामक ग्रन्थ में कहा गया है- *'जीवपरमात्मैक्ये श्रुतीनां तात्पर्यं न युज्यते ... विष्णोः सर्वोत्तमत्व एव महातात्पर्यं सर्वागमानाम्। कथञ्च जीवपरमात्मैक्ये सर्वश्रुतीनां तात्पर्यं युज्यते। सर्वप्रमाणविरुद्धत्वात्। तथाहि अनुभवविरोधः। न हि अहं सर्वज्ञः सर्वेश्वरः निर्दुःखः निर्दोषः इति कस्यचित् अनुभवः। अस्ति च तद्विपर्ययेण अनुभवः ... न च अभेदे कश्चिदागमः। सन्ति च भेदे सर्वागमाः।'*[211]
अर्थात् 'तत्' एवं 'त्वम्' सम्बन्धी जीवपरमात्मैक्य रूप अर्थबोध में श्रुतिवाक्य का तात्पर्यार्थ निहित न होने के कारण ऐक्य रूप अभेदार्थ की सिद्धि सम्भव नहीं हो सकती। आगम-प्रमाण में दृढ़ विश्वास होने के कारण आचार्य मध्व का कथन है कि 'तत्' पद बोध्य 'विष्णु' सर्वोत्तमत्व गुणों से युक्त हैं, इसमें सभी आगमों का तात्पर्यार्थ निहित है। जीवपरमात्मैक्य रूप अर्थ-बोध में अनुभव-विरोध भी परिलक्षित होता है। मैं सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सांसारिक दुःखों से रहित एवं निर्दोष हूँ– ऐसा किसी व्यक्ति का अनुभव नहीं होता, अपितु इसके विपरीत अल्पज्ञ (किञ्चित्ज्ञत्व), दुःख एवं दोष युक्त रूप में सबका अनुभव होता है। अभेद रूप अर्थ में प्रायः आगम-प्रमाण का अभाव देखा जाता है, किन्तु भेद रूप अर्थ में प्रायः सभी आगमों की प्रवृत्ति देखी जाती है। इस प्रकार 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के ऐक्य रूप अर्थबोध में सर्वज्ञ, अल्पज्ञत्वादि गुणों के न्यूनाधिक्य में तारतम्य होने के कारण तथा सर्व प्रमाण एवं अनुभवगत विरोध होने के कारण अन्ततः भेद रूप अर्थ में श्रुति के तात्पर्य का निश्चय होता है।

---

210 वही.

211 वि.त.वि. पृ. १६-१७

5.4.4. तत्त्वमसि महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण में प्रयुक्त नव-दृष्टान्तों द्वारा भेद का प्रतिपादन

छान्दोग्योपनिषद् के छठें अध्याय के आठवें खण्ड से प्रारम्भ कर सोलहवें खण्ड तक (कुल नव खण्डों में) एक-एक दृष्टान्त देकर अन्त में 'आत्मा तत् त्वम् असि' के रूप में अभेदपरक अर्थ में उपसंहार किया गया है, किन्तु आचार्य मध्व का भेदपरक दृष्टिकोण होने के कारण छान्दोग्योपनिषद् (६/८/७-६/८/१६) में उद्धृत दृष्टान्तों की भेदपरक व्याख्या करते हैं, जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन आचार्य मध्व विरचित 'विष्णुतत्त्वविनिर्णय' नामक ग्रन्थ के आधार पर द्रष्टव्य है-

'तथाहि 'अतत् त्वम् असि' इति नवकृत्वोपदेश: सदृष्टान्तक:। न चायं अभेदोपदेश:।'[212]

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में नव दृष्टान्तों को उद्धृत करते हुए तात्पर्य का जो निश्चय किया गया है, उसमें 'आत्मा अतत् त्वम् असि' इस रूप में पदच्छेद द्वारा सारे दृष्टान्तों की प्रवृत्ति भेदपरक अर्थ में होती है। उनके द्वारा अभेद का उपदेश नहीं किया गया है। इस क्रम में पक्षी-सूत्र का दृष्टान्त अवलोकनीय है-

5.4.4.1. शकुनिसूत्रदृष्टान्त

'स यथा शकुनि: सूत्रेण प्रबद्ध: दिशं दिशं पतित्वा अन्यत्र आयतनं अलब्ध्वा बन्धनमेव उपाश्रयते। सन्मूला: सोम्येमा: सर्वा: प्रजा: सदायतना: सत्प्रतिष्ठा:।'[213]

सुषुप्ति की अवस्था में जीव सद्रूप ब्रह्म से सम्पन्न रहता है, इस तथ्य की पुष्टि हेतु आचार्य मध्व दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं। जैसे- व्याध के हाथ में स्थित सूत्र में बँधा हुआ पक्षी बन्धन से निकलने हेतु दिशाओं में इतस्तत: भागता है और कहीं स्थान न मिलने पर थककर पुन: बन्धन में ही लौट आता है, इसी प्रकार जीव भी स्वप्न व जागृति की अवस्था में इधर-उधर भटकता हुआ कहीं विश्रान्ति न मिलने पर अन्तत: सुषुप्ति की अवस्था में सद्रूप ब्रह्म का आश्रय प्राप्त करता है। अत: इस उदाहरण में **'आश्रय-आश्रयि भाव'** द्वारा भेद है, जिसको पक्षी और सूत्र के दृष्टान्त द्वारा बताया गया है, इसी प्रकार जीव एवं ब्रह्म में भी **भेद** है, जिसको 'स आत्मा अतत् त्वम् असि' के रूप में बताया गया है।

---

212 वही, पृ. १७

213 वही.

5.4.4.2. मधुमक्षिकादृष्टान्त

'विष्णुतत्त्वविनिर्णय' नामक ग्रन्थ में मधुमक्षिका दृष्टान्त द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का भेदपरक अर्थ करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणां रसानां समवहारमेकतां गमयन्ति ते यथा तत्र न विवेकं लभन्ते अमुष्याहं वृक्षस्य रस: अस्मि अमुष्याहं वृक्षस्य रस: अस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमा: सर्वा: प्रजा: सति सम्पद्य न विदु: सति सम्पत्स्यामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तत्तदा भवन्ति।'*[214]

अर्थात् जिस प्रकार भ्रमर (मधुमक्षिका) नाना प्रकार के वृक्षों से फूलों का रस लाकर उसे मधु रूप में परिणत करते हैं। मधु की अवस्था में नाना प्रकार के फूलों के रसों में परस्पर भेद विद्यमान होने पर भी मैं इस फूल का रस हूँ, वह उस फूल का – इस प्रकार पारस्परिक भेद का बोध नहीं कर पाते। वैसे ही सम्पूर्ण प्रजा सत् से निकलकर सत् में ही विद्यमान होते हुए भी अपने आश्रय (परमात्मा) का बोध नहीं कर पाती। आश्रय का बोध न होने पर भी वस्तुत: दोनों में भेद तो रहता ही है।

5.4.4.3. नदीसमुद्रदृष्टान्त

'विष्णुतत्त्वविनिर्णय' नामक ग्रन्थ में नदी-समुद्र दृष्टान्त द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य का भेदपरक अर्थ करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'इमा: सोम्य नद्य: पुरस्तात् प्राच्य: स्यन्दन्ते पश्चात् प्रतीच्य: ता: समुद्रात् समुद्रमेव अपियन्ति । स: समुद्र एव भवति। ता यथा तत्र न विदु: इयमहमस्मि इयमहमस्मीति। एवमेव खलु सोम्येमा: सर्वा: प्रजा: सत: आगम्य न विदु: सत आगच्छामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तत्तदा भवन्ति।'*[215]

अर्थात् गङ्गा, यमुना सिन्धु आदि नदियाँ पूर्ववाहिनी होकर पूर्व दिशा की ओर एवं पश्चिम-वाहिनी होकर पश्चिम दिशा की ओर प्रवाहित होती हैं। वे समुद्र से निकलकर प्रवाहित होती हुई नाम-रूप का त्याग करते हुए पुन: समुद्र में मिल जाती हैं, उस समय गङ्गा, यमुना आदि चेतन देवियों में पारस्परिक भेद विद्यमान होने पर भी यह नहीं जानती कि मैं गङ्गा हूँ, मैं यमुना हूँ। वैसे ही सुषुप्तावस्था में सभी प्राणी आश्रय रूप सत् को प्राप्त होते हैं, किन्तु यह सद्रूपता सदा नहीं बनी रहती। सुषुप्तावस्था में जाने से पूर्व व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्गादि

---

214 वही.

215 वही.

जिस-जिस रूप में होते हैं, जगकर पुन: उसी रूप में आ जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रजा सत् से निकलकर सत् में ही विद्यमान होते हुए भी अपने आश्रय (परमात्मा) का बोध नहीं कर पाती। आश्रय का बोध न होने पर भी वस्तुत: दोनों में भेद तो रहता ही है।

5.4.4.4. वृक्षदृष्टान्त

वृक्ष के दृष्टान्त द्वारा भेदपरक अर्थ का प्रतिपादन करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'स एष जीवेन आत्मना अनुप्रभूत: पेपीयमान: मोदमान: तिष्ठति। यस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति अथ सा शुष्यति।'*[216]

अर्थात् यह वृक्ष जीवात्मा से ओतप्रोत होते हुए भूमि से अन्न-जलादि ग्रहण करता हुआ आनन्दपूर्वक स्थित है। इस वृक्ष की एक शाखा पर आधात करने पर उस शाखा को जीव छोड़ देता है, तो वह सूख जाती है। कभी-कभी बाहरी कारण के अभाव में भी वृक्ष सूख जाता है। वृक्ष का पल्लवित-पुष्पित होना एवं सूखना पूर्णतया जीव के अधीन नहीं है। अत: जिस प्रकार वृक्ष के शरीर में रहने वाला जीव परमात्मा के अधीन है, उसी प्रकार मनुष्यादि के शरीर में विद्यमान जीव भी ईश्वराधीन है, इस रूप में भेदपरक व्याख्या द्वारा जीव से भिन्न जीवाश्रय के रूप में परमात्मा की सिद्धि होती है।

5.4.4.5. न्यग्रोधफलदृष्टान्त

'विष्णुतत्त्वविनिर्णय' नामक ग्रन्थ में न्यग्रोध-फल के दृष्टान्त द्वारा भेदपरक अर्थ करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'न्यग्रोधफलमत आहरेति इदं भगव इति भिन्दीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीति अण्व इव इमा धाना भगव इति आसां अङ्ग एकां भिन्दीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति। तं होवाच यं वै सोम्य एतमणिमानं न निभालयसे अस्य सोम्य एष: अणिम्न: एवं महान् न्यग्रोध: दिष्ठति।'*[217]

अर्थात् वट वृक्ष के फल को तोड़ने पर सूक्ष्म बीज दिखाई देते हैं और इन बीजों को तोड़ने पर अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण कुछ भी दिखाई नहीं देता, किन्तु कुछ भी दिखाई न देने वाले इस सूक्ष्मतम बीजावयव से ही इतना बड़ा विशाल वृक्ष उत्पन्न हुआ है। ईश्वर भी जीव की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दिखाई नहीं देता। जैसे वट वृक्ष रूप कार्य को देखते हुए भी इसके सूक्ष्म अवयव (कारण) को हम नहीं देख पाते हैं, वैसे ही कार्य रूप जगत् को देखते हुए भी इसके

---

216 वही, पृ. १८

217 वही.

सूक्ष्मतम कारणरूप (विष्णु, परमात्मा) को हम नहीं देख पाते। इस आधार पर भी 'कारण-कार्य भाव' द्वारा वस्तुत: भेद की ही सिद्धि होती है।

5.4.4.6. लवणोदकदृष्टान्त

नमक और जल के दृष्टान्त द्वारा भेदपरक व्याख्या करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'लवणमेतदुदके अवधाय मा प्रातारुपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तं होवाच यद्दोषा लवणमेतदुदकेऽवधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद यथा विलीनमेव अङ्ग अस्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमिति अन्त्यादाचामेति कथमिति लवणमिति अभिप्रास्यैतदथ मा उपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तत् शश्वत् वर्तते। तं होवाच अत्र वाव सत् सोम्य न निभालयसे अत्रैव किलेति।'*[218]

अर्थात् जल में नमक का टुकड़ा डालने पर जब वह विलीन हो जाता है, तब विलीनावस्था में घुला हुआ नमक न दिखाई देता है और न हाथ से पकड़ में आता है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि पानी में नमक नहीं है। प्रकारान्तर से उस अदृश्य नमक का ज्ञान होता है। आचमन करने से ज्ञात होता है, कि वह सम्पूर्ण जल में अनुस्यूत होकर विद्यमान है। अत: जिस प्रकार नमक का टुकड़ा जल में सर्वत्र विलीन हो जाता है, उसी प्रकार 'सत्' भी जगत् में आधार (आश्रय) रूप में सर्वत्र व्याप्त है। जैसे नमक के गुण का अनुभव करने पर भी नमक दिखाई नहीं देता, वैसे ही कार्य रूप जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होने पर भी उसमें कारण (आधार, आश्रय) रूप में अनुस्यूत परमात्मा दिखाई नहीं देता। अत: 'कारण-कार्य भाव' द्वारा भेद का कथन किया गया है।

5.4.4.7. गान्धारपुरुषदृष्टान्त

गान्धार देश से लाये हुए पुरुष के दृष्टान्त द्वारा भेदपरक व्याख्या करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्य: अभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्।'*[219] जैसे गान्धार देश के किसी धनसम्पन्न व्यक्ति को चोर अपहृत कर उसका सारा सामान छीनकर, हाथ-पैर और आँखों पर पट्टी बाँधकर उसे जनशून्य (जंगल) स्थान में छोड़ दें। ऐसी स्थिति में उसे रोते-कलपते देखकर कोई दयालु पुरुष उसे बन्धन मुक्त कर गान्धार देश का मार्ग बता दे, तो वह व्यक्ति तदनुसार बताये मार्ग का अनुसरण करते हुए गान्धार देश को प्राप्त करता है,

218 वही.

219 वही.

वैसे ही कर्मरूपी चोरों के द्वारा जीव का सारा ज्ञान छीनकर शरीर रूपी जंगल में छोड़ दिया जाता है। ऐसी स्थिति में किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के उपदेश द्वारा मार्ग दिखाया जाता है, जिसका अनुसरण करते हुए व्यक्ति अपने आधार स्वरूप परमात्मा का सादृश्य प्राप्त करता है। यहाँ जीवात्मा, परमात्मा पर पूर्णत: आश्रित होने के कारण परतन्त्र है, अत: 'आश्रय-आश्रयि भाव' रूप में दोनों में भेद है।

5.4.4.8. आसन्नमरणपुरुषदृष्टान्त

आसन्नमरणपुरुष-दृष्टान्त द्वारा आचार्य मध्व का कथन है- *'अथ यदास्य वाङ् मनसि सम्पद्यते मन: प्राणे प्राणस्तेजसि तेज: परस्यां देवतायां तावन्न विजानाति।'* [220] अर्थात् मनुष्य की मृत्यु जब समीप आती है, उस समय उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता में विलीन हो जाता है, उस समय वह समीप आये हुए बन्धु-बान्धवों को भी नहीं पहचान पाता। वस्तुत: ईश्वराधीन होने के कारण जीव उसी दशा का अनुभव करता है।

5.4.4.9. चोरापहरणीयवस्तुदृष्टान्त

चोर के तप्त परशुग्रहण-दृष्टान्त द्वारा मिथ्याभिसन्धि एवं सत्याभिसन्धि परक तथ्यों के आधार पर 'सत्' का परीक्षण करते हुए आचार्य मध्व का कथन है- *'पुरुषं सोम्योत हस्तगृहीत-मानयन्ति अपहार्षोत् स्तेयमाकर्षीत् परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्त्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमभिसन्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यते अथ हन्यते। अथ यदि तस्याकर्त्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्ध: सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यते अथ मुच्यते।'* [221]
अर्थात् इस कथन के अनुसार सत्य-परीक्षण के सम्बन्ध में जिस चोर पर राजा को सन्देह होता था, उसके कहने पर कि मैंने चोरी नहीं की है, राजाधिकारी परीक्षा हेतु गर्म लौहपिण्ड उसके हाथ पर रखाते थे। झूठ बोलने वाला चोर जल जाता था तथा सत्य बोलने वाला सत्य की शक्ति के व्यवधान से नहीं जलता, अपितु वह मुक्त हो जाता था। इसी प्रकार जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद रूप तत्त्व को जानने वाला तत्त्वज्ञानी मुक्त होकर परमात्मा का सादृश्य लाभ करता है और तत्त्व को न जानने वाले बन्धन में रहते हैं।

---

220 वही.

221 वही, पृ. १९

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में नव-खण्ड में नव दृष्टान्तों को प्रस्तुत करते हुए जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद का कथन किया गया है- *'स्थाननवकेऽपि भेदे एव दृष्टान्ता: -एवमेव खलु सोम्य आचार्यवान् पुरुषो वेदेति स्थाननवकेऽपि भेद एव दृष्टान्ताभिधानात्। नहि शकुनिसूत्रयो: नानावृक्षरसानां नदीसमुद्रयो: जीववृक्षयो: अणिमाधानयो: लवणोदकयो: गन्धारपुरुषयो: अज्ञप्राणादिनियामकयो: स्तेनापहार्ययो: ऐक्यम्।'*[222]

इस प्रकार पक्षी और सूत्र में, नाना प्रकार के फूलों से एकत्रित रसों में, नदियाँ और समुद्र में, जीव और वृक्ष में, वटवृक्ष और सूक्ष्म बीजावयव में, शुद्ध जल और नमक में, गान्धार देश और पुरुष में, मरणासन्न व्यक्ति और उसके बन्धु-बान्धओं में तथा चोर और अपहरणीय वस्तु में ऐक्य नहीं हो सकता, क्योंकि ये सारे तत्त्व परस्पर भिन्न हैं। इसी प्रकार जीव और ईश्वर भी भिन्न-भिन्न लक्षणों एवं गुणों से युक्त होने के कारण आत्यन्तिक रूप से सर्वदा भिन्न हैं। इसी सम्बन्ध में कहा गया है- *'सति सम्पद्य न विदु: सति सम्पत्स्यामह इति, त इह व्याघ्रो वा सिंहो वेति, सत: आगतस्य न विदु: सत: आगच्छामह इति, त इह व्याघ्रो वा सिंहो वेति भेदापरिज्ञानेन अनर्थवचनाच्च।'*[223]

अर्थात् सत् से उत्पन्न होकर प्रजाजन आश्रय रूप सत् में स्थित होते हुए भी यह बोध नहीं कर पाते कि मैं सत् से आया हूँ। शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि सुषुप्ति की अवस्था में व्यक्ति 'सत्' से सम्पन्न हो जाता है, किन्तु लोकव्यवहार में ऐसा देखा जाता है कि सुषुप्ति से पूर्व सिंह, व्याघ्रादि जिस-जिस रूप में रहते हैं, जगने पर पुन: उसी भेद रूप में आ जाते हैं, अत: इस सम्बन्ध में भेदपरक अर्थ न किया जाये तो श्रुतिवाक्य अनर्थक सिद्ध हो जायेगा। इसी क्रम में कहा गया है- *'नहि गृहादागतस्य गृहे प्रविष्टस्य तदैक्यम्। ता: समुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति इत्यत्रापि भेद एवोच्यते। अत: नद्य: समुद्रादागच्छन्ति तं प्रविशन्ति च समुद्रस्तु स एव नैतासां समुद्रत्वं भवतीत्यर्थ:। न हि भिन्नानां नदीजलपरमाणूनां समुद्रणुभि: ऐक्यं युज्यते। तथा सति महाजनसमितौ प्रविष्टानां द्वित्राणां तदैक्यं स्यात्। न च तद्युज्यते भेदेन अनुभवात्।'*[224]

अर्थात् गृह से आये हुए एवं गृह में प्रविष्ट हुए व्यक्तियों का ऐक्य नहीं देखा जाता, इस आधार पर समुद्र से निकल कर पुन: समुद्र में प्रवेश करती हुई नदियाँ समुद्र ही हो जाती हैं- इस वाक्य द्वारा भी भेद का ही कथन किया गया है, क्योंकि भिन्न-भिन्न नदी जल परमाणुओं का समुद्र-अणुओं के साथ ऐक्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो तो महाजनसमिति में प्रविष्ट हुए दो-तीन

222 वि.त.वि. पृ. १९

223 वही.

224 वही.

व्यक्तियों का समिति के साथ ऐक्य हो, किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। इस सम्बन्ध में भेदपरक अनुभव ही होता है।

5.4.5. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में स्वामी गिरिधर जी ने मध्वाचार्य के मत को उद्धृत करते हुए 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के सम्बन्ध में 'अंश-अंशी भाव' द्वारा भेदपरक व्याख्या करते हैं। इस सम्बन्ध में द्वैत-मत द्रष्टव्य है-

5.4.5.1. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

ब्रह्मसूत्र के 'अंशत्वाधिकरण' पर भाष्य करते हुए आचार्य मध्व ने जीव एवं परमात्मा के सम्बन्ध को अंशांशिभाव द्वारा बताया है, जिसमें जीव को 'अंश' रूप में एवं विष्णु को 'अंशी' रूप में अभिहित किया गया है।

इसी क्रम में जीव को ईश्वर से भिन्न, किन्तु ईश्वर का अंश मानते हुए कहा गया है- *'जीवस्य परमैक्यं तु बुद्धिसारूप्यमेव तु।'*[225] अर्थात् 'तत्' और 'त्वम्' की एकता असंभव होने पर भी जीव को ब्रह्म का समरूप (सादृश्य) मानने का तात्पर्य लिया जाता है। इसी क्रम में 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' में 'अंश-अंशी भाव' द्वारा पूर्णत: भेद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है-

'विभिन्नांशा: सदा जीवा न स्वांशा इति निश्चय:।'[226]

इस चिन्तन में 'अंश-अंशी भाव' के सम्बन्ध में **'अंश'** को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है- *'अंशत्वं नाम राश्येकदेशत्वम्।'*[227] अर्थात् राशि का एकदेशीय भाग 'अंश' कहलाता है। इसी क्रम में मध्व मतानुयायी अलिदास के अनुसार **'अंश'** का लक्षण है- *'तद्भिन्नत्वे सति तत्सदृशत्वमंशत्वम्।'*[228] अर्थात् इस लक्षण में दो शर्त है- अंशी से निश्चित रूप से भिन्न होना एवं उसके सदृश होना, ऐसे तत्त्व को 'अंश' रूप में अभिहित किया गया है।

इस चिन्तन में अंश के दो भेद किये गये हैं- 1. स्वांश और 2. विभिन्नांश।

---

225 स.द.सं, पृ. २३३

226 शु.द्वै.मा. पृ. २७

227 वही, प्र. व्या.

228 वही.

1. **स्वांश** – *'करचरणादिवत् स्वांशा:। तत्र स्वांशा मत्स्यादय:।'*[229]

2. **विभिन्नांश** – *'पुत्रादिवत् विभिन्नांशा:। विभिन्नांशा: जीवा:।'*[230]

अर्थात् स्वांश को 'करचरणादिवत्' माना गया है। जैसे- शरीर के सम्बन्ध में पुरुष का हाथ, पैर उसका 'स्वांश' कहलाता है, उसी प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध में कुर्म, वाराह एवं मत्स्यादि रूप अवतार को उसका 'स्वांश' कहा गया है, क्योंकि इनमें परमात्मा के सभी गुण सर्वदा विद्यमान रहते हैं। इसी क्रम में 'विभिन्नांश' को 'पुत्रादिवत्' रूप में माना गया है। जैसे- पुत्र, पिता का 'अंश' होते हुए भी उसकी सत्ता पिता से पूर्णत: भिन्न होती है, उसी प्रकार परमात्मा के सम्बन्ध में जीव को 'विभिन्नांश' कहा गया है, क्योंकि जीव, ईश्वर का 'अंश' होते हुए भी सत्ता एवं गुणों के सम्बन्ध में उससे पूर्णत: भिन्न है, इस कारण से जीव किसी भी अवस्था में ब्रह्म नहीं हो सकता- *'जीवेषु न कदापि ब्रह्मत्वम्।'*[231] इस चिन्तन में जीव को ईश्वर का 'अंश' स्वीकार करने का एकमात्र हेतु यही है कि ईश्वर, जीव के स्वरूप एवं अस्तित्त्व का कारण है, जिस प्रकार पिता पुत्र के अस्तित्त्व का कारण होता है। यहाँ पिता-पुत्र के दृष्टान्त द्वारा आचार्य मध्व ने जीव और ईश्वर (विष्णु) के स्वरूपगत-ऐक्य का खण्डन कर दोनों के मध्य आत्यन्तिक-भेद की सिद्धि की है। इस प्रकार मध्व-परम्परा में 'अंश-अंशी भाव' द्वारा जीवेश्वर के मध्य भेद का प्रतिपादन किया गया है।

5.4.5.2. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

'कारण-कार्य भाव' के सम्बन्ध में मध्व-मतानुयायी शलारिशेषाचार्य ने 'प्रमाणचन्द्रिका' में उपादान एवं निमित्त के रूप में कारण के दो भेद किये हैं- *'तत्कारणं द्विविधम्। उपादानकारणं निमित्तकारणं चेति।'*[232]

1. **उपादान-कारण-** *'परिणामित्वे सति यत्कारणं उपादानकारणम्।'*[233]
2. **निमित्त-कारण-** *'अपरिणामित्वे सति यत्कारणं निमित्तकारणम्।'*[234]

अर्थात् वह कारण जिसका परिणाम होता है, 'उपादान-कारण' कहलाता है। इस चिन्तन में कार्य की उत्पत्ति कारण के परिणाम से होती है। प्रकृति रूपी कारण के परिणाम से जगत् की

---

229 वही.

230 वही.

231 वही, पृ. २८

232 प्र.च. पृ. १३८

233 वही.

234 वही.

उत्पत्ति होती है। अत: ब्रह्म की शक्तिरूपा प्रकृति जगत् का 'उपादान-कारण' है। 'निमित्त-कारण' के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह कारण जिसका परिणाम नहीं होता,उसमें नियतत्त्व एवं पूर्ववर्तित्त्व तो रहता है, किन्तु परिणामित्व धर्म नहीं रहता। अत: इस रूप में ब्रह्म जगत् का 'निमित्त-कारण' कहलाता है।

इसी क्रम में आचार्य पद्मनाभसूरि कृत 'पदार्थसंग्रह' नामक ग्रन्थ में जगत् के सम्बन्ध में 'तत्' पद बोध्य कारण का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- *'तत्र परमात्माऽनन्तगुणपरिपूर्ण: सृष्ट्याद्यकर्ता सर्वज्ञ: परममुख्यया वृत्त्या सकलशब्दवाच्य: जडजीवप्रकृतिभ्योऽत्यन्त-विलक्षण: सर्वस्वतन्त्र: एक एव नानारूप:।'*[235] अर्थात् जगत्कारणरूप परमात्मा को अनन्त गुणों से परिपूर्ण, सृष्टि का आदि कर्त्ता, सर्वज्ञ, जीवात्मा एवं प्रकृति से अत्यन्त विलक्षण है। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वही एक तत्त्व विभिन्नांश के रूप में अपनी प्रकृति रूपी शक्ति द्वारा नानात्व रूप जगत् में परिणत होता है। भगवान् विष्णु ही एकमात्र स्वतन्त्र हैं, सम्पूर्ण प्रजा परतन्त्र एवं उन पर आश्रित है। इस आधार पर ईश्वर-जीव के मध्य 'आश्रय-आश्रयी भाव' भी है।

इसी सम्बन्ध में 'त्वम्' पद बोध्य कार्य रूप जीव का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- *'अज्ञानादिदोषयुक्ता: संसारिणो जीवा: असंख्यका:।'*[236] अर्थात् अज्ञानादि दोष युक्त, संसारी एवं कार्य रूप नित्य तत्त्व को 'जीव' शब्द से अभिहित किया गया है। वह जीव संख्या में अनेक हैं। वस्तुत: जगत्कारणरूप ईश्वर ही नाना रूपों में उत्पन्न हुआ है, इसको 'पितापुत्रादि-दृष्टान्त'[237] द्वारा समझा जा सकता है। जैसे- कारण रूप पिता से उत्पन्न पुत्र की अपनी पृथक् सत्ता होती है, वैसे ही ईश्वर से उत्पन्न जीव की अपनी पृथक् सत्ता है तथा वह असंख्य है- *'सर्वेपि जीवा: परस्परं परमात्मना च भिन्ना:।'*[238] इस प्रकार मध्व-चिन्तन में 'कारण-कार्य भाव' द्वारा जीव और ईश्वर के मध्य भेद का प्रतिपादन किया गया है।

5.4.5.3. बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव

द्वैत-वेदान्त में जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' द्वारा व्याख्या करते हुए कहा गया है- *'प्रतिबिम्बस्तु बिम्बाविनाभूतस्तत्सदृश:। स च द्विविध: नित्योऽनित्यश्च।*

---

235 प.सं. पृ. ८

236 वही.

237 *'जगत्कारणत्वं च ब्रह्मणो न विकारित्वेन किन्तु पितृवदेवेति श्रुत्या दर्शयति।'* (तत्त्वप्रकाशिका,पृ.८) अर्थात् ब्रह्म का जगत्कारणत्व विकार रूप में नहीं, अपितु पितृ रूप में श्रुतिवाक्यों द्वारा बताया गया है।

238 पद्मनाभसूरिकृत् पदार्थसंग्रह, ९

परमात्मव्यतिरिक्ता: सर्वेऽपि चेतना: परमात्मप्रतिबिम्बा नित्या:। दर्पणादौ मुखादिप्रतिबिम्बा अनित्या:।'[239]

मध्व-चिन्तन में जगत्कारणरूप बिम्ब से उद्भूत प्रतिबिम्ब को बिम्ब-सदृश एवं बिम्ब से अविनाभूत बताया गया है। अर्थात् प्रतिबिम्ब की सत्ता और क्रिया बिम्ब पर ही आश्रित होती है। नित्य और अनित्य रूप से प्रतिबिम्ब[240] दो प्रकार का होता है। परमात्मा से नि:सृत सभी जीव (चैतन्य) परमात्मा के प्रतिबिम्ब रूप में 'नित्य' हैं तथा दर्पणादि में मुखादिगत प्रतिबिम्ब 'अनित्य' कहलाता है। प्रतिबिम्ब की नित्यता और अनित्यता बिम्ब की उपाधि पर आश्रित होती है, अर्थात् मुखादि के अनित्य होने के कारण मुखादिगत प्रतिबिम्ब 'अनित्य' एवं ईश्वर के नित्य होने के कारण ईश्वरगत प्रतिबिम्ब (जीव) 'नित्य' कहलाता है। नित्य होने के कारण मुक्ति की दशा में भी जीव का यह प्रतिबिम्बत्व बना रहता है, उसका कभी नाश नहीं होता। इसके आधार पर 'आभास एव च' में यह सिद्ध किया गया है कि जीव का स्वरूप एवं अस्तित्त्व परमात्मा के स्वरूप एवं अस्तित्त्व से पूर्णत: भिन्न है। इस प्रकार द्वैत-वेदान्त में 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' द्वारा आश्रय एवं आश्रित रूप (भेदपरक अर्थ) में जीवेश्वर-सम्बन्ध की व्याख्या की गयी है।

5.4.6. जीवेश्वरगत-भेदसिद्धि में श्रुतिप्रमाण

जीवात्मा एवं परमात्मा की भेदपरक सिद्धि के सम्बन्ध में आचार्य मध्व श्रुति को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुए 'विष्णुतत्त्वविनिर्णय' नामक ग्रन्थ में कहते हैं-

यथा पक्षी च सूत्रं च नानावृक्षरसा यथा ।
यथा नद्य: समुद्रश्च शुद्धोदलवणे यथा ॥
यथा चौरापहार्यौ च यथा पुंविषयावपि ।
तथा जीवेश्वरौ भिन्नौ सर्वदेव विलक्षणौ ॥
तथापि सूक्ष्मरूपत्वात् न जीवात् परमो हरि:।
भेदेन मन्ददृष्टीनां दृश्यते प्रेरकोऽपि सन् ।
वैलक्षण्यं तयो: ज्ञात्वा मुच्यते बद्ध्यतेऽन्यथा ॥

- इति च परमोपनिषदि ।[241]

अर्थात् परमोपनिषद् में दृष्टान्त-पद्धति का उपयोग करते हुए कहा गया है कि जैसे पक्षी और सूत्र, नाना प्रकार के फूलों से एकत्रित रस, नदियाँ और समुद्र, जीव और वृक्ष, अणुता और

---

239 वही, पृ. १५

240 *'सोपाधिरनुपाधिश्च प्रतिबिम्बो द्विधेयेते। जीव ईशस्यानुपाधि:।'* (ब्र.सू.पू.प्र.भा. पृ.९३)

241 वही, पृ. २३

धारण शक्ति, शुद्ध जल और नमक, चोर और अपहरणीय वस्तु, पुरुष और उसके विषय, अज्ञ जीवों का समूह और प्राणादि का नियामक- ये सारे तत्त्व परस्पर भिन्न हैं। उसी प्रकार जीव और ईश्वर भी भिन्न लक्षणों एवं गुणों से युक्त होने के कारण सदा भिन्न रूप में रहते हैं। इस प्रकार मध्व-परम्परा में उपर्युक्त दृष्टान्तों के माध्यम से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्य का निश्चय भेदपरक अर्थ में किया गया है। इस क्रम में जीव को ईश्वर का दास मानते हुए 'स्वामी-सेवक भाव' से 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ- *'त्वं तदीय: असि'* एवं *'त्वं तस्य असि'* के रूप में करते हुए *'स आत्मातत्त्वमसि'* श्रुतिवाक्य की व्याख्या *'स आत्मा अतत् त्वम् असि'* के रूप में किया गया है, जिसका अर्थ है- स्वतन्त्रता, सर्वज्ञत्वादि गुण तुममें न होने के कारण तुम वही (परमात्मा) नहीं हो।

5.5. द्वैताद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

वैष्णव-परम्परा के चार (श्री, सनक, ब्रह्म और रुद्र) सम्प्रदायों में 'सनक-सम्प्रदाय' के प्रवर्तक आचार्य निम्बार्क हैं। इस सम्प्रदाय को 'निम्बार्क' अथवा 'निम्बादित्य' के नाम से भी जाना जाता है। इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में परम्परा से प्राप्त विवरण के अनुसार हंसावतार से सनकादि (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार) ऋषियों ने सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या प्राप्त की। अत: इनके नाम के अनुसार इस सम्प्रदाय को 'चतु:सन' एवं शास्त्रों में कहीं-कहीं इसका 'ऋषि' सम्प्रदाय के रूप में भी उल्लेख प्राप्त होता है। देवर्षि नारद सनकादि ऋषियों के प्रथम शिष्य बने। नारद जी ने नियमानन्दाचार्य को ब्रह्मविद्या का उपदेश किया, अत: नारद-शिष्य नियमानन्दाचार्य ही 'निम्बार्क' अथवा 'निम्बादित्य'[242] के रूप में प्रसिद्ध हुए। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' नाम से भाष्य का प्रणयन कर द्वैताद्वैत-चिन्तन की शास्त्रीय-व्याख्या प्रस्तुत की है।

5.5.1. जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध में द्वैताद्वैत का प्रतिपादन

जीव और ब्रह्म के मध्य प्रवर्त्य-प्रवर्तक भाव द्वारा जीव 'अज्ञ' एवं ब्रह्म के 'ज्ञ' होने के कारण ब्रह्म से जीव भिन्न है- *'जीवेश्वरयो: प्रवर्त्यप्रवर्तकभावेराजभृत्ययोरिवात्यन्तभिन्न एवांश:।'*[243] अर्थात् प्रवर्त्य-प्रवर्तक एवं स्वामी-भृत्य भाव द्वारा जीव और ब्रह्म के मध्य 'भेद' तथा 'अंश-

242 निम्बवृक्ष के ऊपर आरूढ़ होकर आदित्य को धारण करने के कारण इनको 'निम्बार्क' अथवा 'निम्बादित्य' के नाम से जाना जाता है।

243 ब्र.सू.नि.भा.भा.दी.टी. २/३/४२

अंशी भाव' एवं 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव' द्वारा जीवेश्वर में 'अभेद' का प्रतिपादन किया गया है- *'प्रतिबिम्बो जीव: बिम्बस्थानीयो हीश्वर:, उभयानुस्यूतं शुद्धं चैतन्यम्।'*[244] अर्थात् जीव 'प्रतिबिम्ब', ईश्वर 'बिम्ब' तथा इन दोनों में एक ही शुद्ध-चैतन्य के अनुस्यूत होने के कारण इनका ब्रह्म से 'अभेद' सिद्ध होता है।

'द्वैताद्वैत-सिद्धान्त' प्रतिपादन के सम्बन्ध में **'भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत्'**[245] सूत्र पर भाष्य करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'ब्रह्मणो जगदुपादानत्वे जीवरूपेण ब्रह्मण एव सुखदु:खभोक्तृत्वापत्ते वेदप्रसिद्धो भोक्तृनियन्तृविभागो न स्यात् इति चेत् अविभागेऽपि (विभागव्यवस्थोपपद्यते, दृष्टान्तसद्भावात्) समुद्रतरङ्गयोरिव, सूर्यतत्प्रभयोरिव तयोर्विभाग: स्यात्।'*[246]

अर्थात् यदि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण हो तो जीव रूप में ब्रह्म का ही भोक्तृत्व सिद्ध होता है, इस आधार पर जीवेश्वर में भोक्ता और नियन्ता का भेद समाप्त हो जाता है- इस आपत्ति का निराकरण करते हुए भाष्यकार का कथन है कि जीवेश्वर में भोक्तृत्व, नियन्तृत्व का भेद विद्यमान रहता है। जैसे तरङ्ग, समुद्र से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, जैसे किरणें, सूर्य से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं, वैसे ही भोक्ता जीव और नियन्ता ब्रह्म अभिन्न होकर भी भिन्न हैं। इसी सन्दर्भ में भाष्यकार का कथन है- *'कार्यस्य कारणानन्यत्वमस्ति, नत्वत्यन्तभिन्नत्वम्, कुत:? "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" "तत् सत्यं तत्त्वमसि" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्यादिभ्य:।'*[247]

अर्थात् कारण से कार्य का अत्यन्त भिन्न नहीं है, इस तथ्य की पुष्टि श्रुतिवाक्यों के आधार पर होती है। 'विकार केवल वाणी से आरम्भ होने वाला और नाममात्र है, वस्तुत: मृत्तिका ही सत्य है।' 'सम्पूर्ण चराचर जगत् ब्रह्मात्मक है।' 'वह ब्रह्म सत्य है और तुम वही ब्रह्म हो' 'यह सभी ब्रह्म है।' इत्यादि श्रुतिप्रमाण से कारण वस्तु से कार्य का अभिन्नत्व सिद्ध होता है।

इस प्रकार जीव और जगत् की पृथक् सत्ता होने पर भी वह ब्रह्म से आत्यन्तिक रूप से न तो भिन्न है, न अभिन्न। अत: इस रूप में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म का दृश्यमान जगत् और जीव के साथ 'द्वैताद्वैत-सम्बन्ध' है।

---

244 ब्र.सू.नि.भा. पर वे.कौ.टी. ४/४/७

245 ब्र.सू. २/१/१३

246 वही, नि.भा.

247 वही, २/१/१४

5.5.2. तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में द्वैताद्वैत-चिन्तन में यह बताया गया है कि जीव ब्रह्म का 'अंश' है। अत: जीव का तात्त्विक-स्वरूप बोधगम्य कराने के निमित्त 'तत्त्वमसि' (तुम वही चैतन्य हो) श्रुतिवाक्य का उपदेश किया गया है। इस उपदेश में जीव का ब्रह्म प्रकृतिकत्व मात्र का संकेत किया गया है। इस सम्बन्ध में श्रुति में दृष्टान्त द्वारा यह बताया गया है कि जैसे घट की प्रकृति मृत्तिका से भिन्न नहीं है, अपितु मृत्तिका ही घट है, वैसे ही 'हे श्वेतकेतु ! तुम भी ब्रह्म से अभिन्न हो'। इस सम्बन्ध में यह तथ्य विचारणीय है कि जिस प्रकार केवल घट मात्र में ही मृत्तिका की सत्ता सीमित नहीं है, अपितु उससे परे भी उसकी सत्ता है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा जीव को ब्रह्म कहने का यह तात्पर्य नहीं लेना चाहिए कि ब्रह्म की सत्ता केवल जीवमात्र तक ही सीमित है और दोनों आत्यन्तिक रूप से अभिन्न हैं। इस सम्बन्ध में जीव को ब्रह्म के 'अंश' रूप में वर्णन करते हुए भगवद्गीता में कहा गया है- *'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।'*[248] इसी क्रम में *'अक्षरादपि चोत्तम:'*[249] स्मृति वाक्य द्वारा ब्रह्म को जीव से श्रेष्ठ बताया गया है। अत: इस आधार पर 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा जीव और ब्रह्म में पूर्णत: अभेद प्रतीत नहीं होता, अपितु अंशांशिभाव द्वारा भेद-अभेद के रूप में 'द्वैताद्वैत' सिद्ध होता है और इसी 'द्वैताद्वैत' रूप अर्थ में ऋषि का तात्पर्यार्थ निहित है।

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में छान्दोग्योपनिषद् पर आचार्य सनन्दन कृत 'उपनिषत्प्रकाशिकाटीका' द्रष्टव्य है- *'तत्त्वमसीत्यत्र तच्छब्द: सर्वज्ञसर्वशक्तिविश्वात्म – परब्रह्मभूतस्वतन्त्रसत्ताश्रयप्रतिपादनपर:। त्वंपदश्च तदात्मीयतदात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रय-जीववाचक:, असिशब्दश्चोभयसम्बन्धाभिधानपर:,स च सम्बन्धस्तदात्मकस्य त्वम्पदवाच्यस्य तत्पदार्थेन सह स्वातन्त्र्यसत्वाभेदसहिष्णुपरतन्त्रसत्त्वभेदरूप:। तत्पदार्थवृत्तिस्वातन्त्र्यसत्ता-श्रयाभिन्नब्रह्मात्मकपरतन्त्रसत्ताश्रयाभिन्नस्त्वं पदार्थ इति वाक्यार्थ:। तत्पदार्थो विश्वात्मा, त्वम्पदार्थ: क्षेत्रज्ञान्तरात्मा, तयोरभेदो घटो द्रव्यं पृथिवीद्रव्यमित्यादिवद् मुख्य एव।'*[250]

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, विश्वात्म, स्वतन्त्रसत्ताश्रय और परब्रह्म 'तत्' का बोधक है और 'त्वं' पद तदात्मीय परतन्त्रसत्ताश्रय जीव का वाचक है। 'असि' पद 'तत्' और 'त्वं' पदों के मध्य सम्बन्ध का अभिधायक है। वह सम्बन्ध तदात्मक 'त्वं' पद का 'तत्' पदार्थ के साथ स्वातन्त्र्यसत्व अभेदरूप एवं परतन्त्रसत्त्व भेदरूप अर्थ में होकर तात्पर्यार्थ

---

248 गीता, १५/७

249 वही, ४/१८

250 छा.उ.प्र.टी. ६/९/१६

का निर्धारक होता है। अर्थ-निर्धारण के क्रम में स्वातन्त्र्य सत्ताश्रय अभिन्न ब्रह्मात्मक 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वं' पदार्थ को परतन्त्र सत्ताश्रय अभिन्नब्रह्मात्मक मानते हुए अभेद रूप अर्थ का प्रतिपादन किया गया है। 'तत्' पदार्थ विश्वात्मा (व्यापक) एवं 'त्वं' पदार्थ क्षेत्रज्ञ अन्तरात्मा (व्याप्य) होने के कारण इनका अभेद घट द्रव्य एवं पृथिवी द्रव्य की तरह है। जैसे- घट द्रव्य, पृथिवी द्रव्य का ही अंश होने के कारण उससे अभिन्न है, किन्तु पृथिवी द्रव्य (अंशी) की सत्ता केवल घट द्रव्य (अंश) तक ही सीमित न होने के कारण उससे भिन्न भी है, वैसे ही जीव, ईश्वर का अंश होने के कारण 'अभेद' एवं अल्पज्ञता, परतन्त्रता, आश्रयता तथा स्वतन्त्रता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता के सम्बन्ध में 'भेद' है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण में 'उपनिषत्प्रकाशिकाटीका' में घट द्रव्य, पृथिवी द्रव्य दृष्टान्त के आधार पर आचार्य सनन्दन जी द्वारा जीवेश्वर के मध्य 'स्वाभाविक-द्वैताद्वैत' का प्रतिपादन किया गया है।

इसी क्रम में केशव काश्मीरिभट्ट ने 'वेदान्तकौस्तुभप्रभा' में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या करते हुए 'तत्' एवं 'त्वम्' पद का निर्धारण इस प्रकार से किया है- *'सर्वज्ञ: सर्वशक्ति: स्वतन्त्रसत्ताश्रय: श्रीपुरुषोत्तमस्तत्पदार्थ:। तदात्मक: परतन्त्रसत्ताश्रयश्चेतनस्त्वंपदार्थ:। असिशब्दश्च तयोस्तादात्म्यसम्बन्धाभिधायक:।'*[251] अर्थात् सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् , स्वतन्त्र सत्ताश्रय श्री पुरुषोत्तम 'तत्' पद का अर्थ है एवं तदात्मक परतन्त्र सत्ताश्रय चेतन 'त्वम्' पद का अर्थ है। 'असि' शब्द दोनों के मध्य तादात्म्य-सम्बन्ध का अभिधायक है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा उक्त प्रकार से अभेद प्रतिपादित होने पर भी इस चिन्तन में जीव और ब्रह्म के मध्य स्वाभाविक-भेदाभेद होने से सर्वथा एकान्त अभेद नहीं है- *'जीवपरमात्मनो: स्वाभाविकौ भेदाभेदौ भवत इत्यर्थ:।'*[252]

5.5.3. तत्त्वमसि महावाक्य के सम्बन्ध में अखण्डार्थत्व का खण्डन

निम्बार्क-चिन्तन में अखण्डार्थक-वाक्य का खण्डन किया गया है। उनके अनुसार कोई भी वाक्य अखण्डार्थक नहीं हो सकता। समस्त वाक्य सखण्डार्थक एवं समस्त ज्ञान सविकल्पक हैं। 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद भी संसृष्टार्थ का बोधक है। अत: 'तत्त्वमसि' महावाक्य को अखण्डार्थ-बोधक वाक्य नहीं कहा जा सकता। 'सोऽयं देवदत्त:' इस दृष्टान्त में भी विशेषणविशिष्ट विषयक प्रतीति होती है तथा वह प्रतीति निष्प्रकारक न होने के कारण

251 वे.कौ.प्र. २/३/४२

252 वे.कौ. २/३/४२

अखण्डार्थ विषयक नहीं हो सकती, इसलिए अखण्डार्थ-बोध में 'सोऽयं देवदत्त:' दृष्टान्त नहीं बन सकता।

इस सम्प्रदाय में जीवेश्वर में स्वाभाविक-भेदाभेद सम्बन्ध को मानते हुए 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या के प्रसंग में मात्र अभेदपरक-व्याख्या (अखण्डत्व) का खण्डन किया गया है। शाङ्कर वेदान्त के विपरीत निम्बार्क वेदान्त में 'सोऽयं देवदत्त:' इस दृष्टान्त में देवदत्त धर्म एक ही है, इसलिए कालभेद और देशभेद से भासमान उक्त धर्मद्वय देवदत्त धर्मी के विरुद्ध नहीं है, किन्तु 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पदार्थ द्वारा बोधित परोक्षत्वादि विशिष्ट सर्वज्ञत्व एवं 'त्वम्' पदार्थ द्वारा बोधित अपरोक्षत्वादि विशिष्ट अल्पज्ञत्व दोनों एक ही काल में भासित होने के कारण परस्पर विरूद्ध धर्म वाले हैं, इस कारण से निम्बार्क-मत में जीव और ब्रह्म में पूर्णतया ऐक्य प्रतिपादन करना 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा अभिप्रेत नहीं है।

5.5.4. तत्त्वमसि महावाक्य में लक्षणा-शक्ति द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के साक्षीरूप अकर्तृत्व का खण्डन

अद्वैत-वेदान्त में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में लक्षणा-शक्ति का प्रयोग करते हुए अकर्तृत्वादि से रहित साक्षीरूप (शुद्ध चैतन्य) ब्रह्म का प्रतिपादन करते हुए जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया गया है। अत: महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति के परिहार से पूर्व आचार्य केशव काश्मीरिभट्ट द्वारा श्रुतिवाक्यों को उद्धृत कर जगत् के मिथ्यात्व का निराकर करते हुए ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व की सिद्धि की गयी है। इस क्रम में पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के अकर्तृत्व का खण्डन करते हुए वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार का कथन है-

'तत्त्वमस्यादिवाक्येन अकर्तृब्रह्मबोधनादुक्तप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वमेवेति चेन्न, तत्त्वमस्यादिवाक्येन प्रतिपाद्यमानस्य "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" इतीक्षणबहुभवनसङ्कल्पवतोब्रह्मण: 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदि'ति सच्छब्दवाच्यस्य, "एकमेवाद्वितीयम्" इति अतिशयसाम्यशून्यस्य, 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वमिति' तादात्म्योपदेशोऽस्मदिष्टतम एव, न तत्राकर्तृब्रह्मोपदेश: केनापि पदेन लभ्यते, प्रत्युतेक्षणकर्तृबहुभवनसङ्कल्पपूर्वकं 'तत्तेजोऽसृजते'ति तेज:प्रभृतिजगत्कर्तृत्वं श्रूयते, अतो नोक्तप्रत्यक्षस्य भ्रमत्वम्।'[253]

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य द्वारा ब्रह्म के अकर्तृत्व का कथन करते हुए प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् का जो भ्रमत्व सिद्ध किया गया है, वह उचित नहीं है। तत्त्वमस्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य

---

253 ब्र.सू.नि.भा.(१/१/१) पर वे.कौ.प्र.टीका, पृ. ४०

'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' अर्थात् उस जगत्कारणरूप ब्रह्म ने प्रजा के निमित्त एक से बहुत हो जाऊँ, ऐसा संकल्प किया। ईक्षण शक्ति द्वारा एक से बहुत्व होने का यह संकल्प ब्रह्म के जगत्कर्तृत्व को सिद्ध करता है। इसी क्रम में अन्य श्रुतिवाक्य *'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'* अर्थात् हे सोम्य ! इस सृष्टि से पूर्व एकमात्र 'सत्' ही विद्यमान था। इस श्रुतिवाक्य से ब्रह्म का 'सत्' शब्द वाच्यत्व सिद्ध होता है। *'एकमेवाद्वितीयम्'* एकमात्र चैतन्य की ही सत्ता होने के कारण वह अद्वितीय था। इस श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्मातिरिक्त अन्य सत्ता का अभाव होने के कारण अतिशयसाम्यशून्यता की सिद्धि होती है। *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'* श्रुतिवाक्य द्वारा बताया गया है कि जगत् में विद्यमान सम्पूर्ण वस्तु चैतन्य से अनुस्यूत है। इससे ब्रह्म का जगत् के साथ तादात्म्योपदेश इष्ट है।

इस प्रकार ऊपर कहे गये श्रुतिवाक्यों में किसी भी पद द्वारा ब्रह्म के अकर्तृत्व का कथन नहीं किया गया है, अपितु इन श्रुतिवाक्यों द्वारा ईक्षण-कर्तृ-बहुभवन-सङ्कल्प पूर्वक ब्रह्म ने तेज का सृजन किया। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल का सृजनकर्त्ता होने के कारण भ्रमरूप जगन्मिथ्यात्व का निराकरण एवं ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व सिद्ध होता है।

5.5.5. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में लक्षणा-शक्ति का निराकरण

निम्बार्क-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में लक्षणा का पूर्णत: निराकरण करते हुए कहा गया है कि अद्वैत-वेदान्ती 'तत्त्वमसि' के तात्पर्यार्थ-निश्चय में जो लक्षणा-शक्ति का प्रयोग करते हैं, वह उचित नहीं है, क्योंकि गुणक्रियादि धर्मयुक्त वस्तु ही शब्द का वाच्य और लक्ष्य हो सकती है। अद्वैतिन् ब्रह्म को निर्गुण, निर्विशेष मानते है, इस कारण से ब्रह्म लक्षणा-शक्ति द्वारा लक्ष्य नहीं बन सकता। लक्षणा में (प्रत्यक्ष प्रमाण से अन्वय में विरोध होने पर) मुख्यार्थ से सम्बन्धित अन्य अर्थ का ग्रहण किया जाता है। जैसे- *'गङ्गायां घोष:'* इस दृष्टान्त में प्रत्यक्ष प्रमाण से अन्वय में विरोध होने के कारण गङ्गा से सम्बन्धित 'तट' अर्थ का ग्रहण होता है, वैसे ही क्या शाङ्कर वेदान्त में 'तत्' पद द्वारा सगुण ब्रह्म से सम्बन्धित निर्गुण ब्रह्म का ग्रहण किया जा सकता है? अद्वैत-चिन्तन में ऐसा अर्थ नहीं स्वीकार किया जा सकता, क्योंकि ऐसा सम्बन्ध मानने पर ब्रह्म का निर्गुणत्व, अखण्डत्व और साक्षीत्व धर्म समाप्त हो जायेगा। इस आधार पर ब्रह्म के निर्गुण होने के कारण उसमें लक्षणा सम्भव ही नहीं हो सकती, ऐसा मानते हुए निम्बार्क मतानुयायी निर्गुण ब्रह्म, उसका 'तत्त्वमसि' वाक्य द्वारा अखण्डत्व तथा इस सम्बन्ध में लक्षणा-शक्ति का प्रयोग– इन सभी का खण्डन करते हैं।

इसी क्रम में लक्षणा-शक्ति का परिहार करते हुए वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार आचार्य केशव काश्मीरिभट्ट का कथन है- *'ननु सच्छब्दवाच्यस्य सर्वज्ञयादियोगात्कर्तृत्वादिसत्वेऽपि लक्षणया निर्विशेषाऽकर्तृब्रह्मबोधनपरत्वस्वीकारान्नोक्तार्थ सिद्धिरिति चेन्न, लक्षणासम्भवात्। यथा गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गापदशक्य: प्रवाहस्तल्लक्ष्यश्च तीरादिस्तीरपदवाच्यस्तथा सच्छब्दवाच्य: सर्वज्ञ: पुरुषोत्तम ईक्षणादिकर्तृत्वाश्रयस्तेज:प्रभृतिजगदभिन्ननिमित्तोपादान - कारणस्वरूपस्तस्य यो लक्ष्य: स पदान्तरवाच्यो नवेति विवेचनीयम्। नाद्य: , वाच्यत्वस्यापरिहार्यत्वात्। वाच्यत्वे च तव मते मिथ्यात्वापत्तिरप्यवश्यम्भाविनी, वाच्यमात्रस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्। सच्छब्दलक्ष्यो मिथ्या, पदान्तरवाच्यत्वात्, तव मते तीरादिवदिति प्रयोगात्।'*[254]

लक्षणा के निराकरण के सन्दर्भ में वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार द्वारा पूर्वपक्ष के मत को प्रस्तुत कर उसका खण्डन करते हुए कहा गया है कि 'सत्' शब्द वाच्य ब्रह्म का सर्वज्ञत्वादि योग से कर्तृत्वादि की सिद्धि होने पर भी लक्षणा-शक्ति द्वारा निर्विशेष-अकर्तृब्रह्मपरक अर्थ स्वीकार करने से ब्रह्म के कर्तृत्व की सिद्धि नहीं होती– यदि ऐसा कहा जाये तो इस सन्दर्भ में लक्षणा के असम्भव होने के कारण पूर्वपक्ष का यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता। जैसे- *'गङ्गायां घोष:'* इस दृष्टान्त में गङ्गा पद का शक्यार्थ 'प्रवाह' है तथा लक्ष्यार्थ 'तीर' है, जो तीर पद द्वारा वाच्य है, उसी प्रकार 'सत्' शब्द द्वारा वाच्य सर्वज्ञ, पुरुषोत्तम ईक्षणादि संकल्प द्वारा कर्तृत्वाश्रय रूप तेज आदि सूक्ष्म से स्थूलभूत सम्पूर्ण जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान उभय कारण रूप जो ब्रह्म है, उसका जो लक्ष्य है, वह पदान्तर वाच्य है अथवा नहीं, यह चिन्तनीय विषय है। वाच्यत्व सम्बन्धी अपरिहार्यता के कारण इसमें प्रथम मत (पदान्तर वाच्य) नहीं हो सकता। आपके (पूर्वपक्ष) मत में वाच्यरूप अर्थ में मिथ्यात्व की आपत्ति अवश्यम्भाविनी है। इसमें हेतु दिया है- *'वाच्यमात्रस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात्'* अर्थात् वाच्यमात्र के मिथ्यात्व के अभ्युपगम से जो-जो वाच्यार्थ होगा, वह सब मिथ्या हो जायेगा।[255]

इसी क्रम में पदान्तर वाच्य होने से 'सत्' शब्द का लक्ष्यार्थ भी मिथ्या सिद्ध होगा, क्योंकि आपके (पूर्वपक्ष) मत में *'तीरादिस्तीरपदवाच्य:'* इस वाक्य के आधार पर पदान्तर वाच्य (लक्ष्यार्थ) होने पर 'तीर' का भी कोई वाचक शब्द 'तीर पद' है। अत: *'गङ्गायां घोष:'* इस दृष्टान्त में लक्ष्यार्थ 'तीर' के 'तीर पद' द्वारा वाच्यार्थक सिद्ध होने के कारण जैसे उसमें मिथ्यात्व की आपत्ति होती है। उसी तर्क के आधार पर लक्ष्यार्थ बोध्य 'सत्' शब्द का कोई वाच्यार्थ होने

---

254 वही, पृ. ४०-४१

255 अद्वैत-चिन्तन में नामरूप युक्त जो जो भी वाच्यार्थ है, वह सब (सम्पूर्ण जगत्) मिथ्या है। नामरूपयुक्त वाच्यार्थ न होने के कारण लक्ष्यार्थ द्वारा बोध्य एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है।

पर उसमें भी मिथ्यात्व की आपत्ति सिद्ध हो जायेगी, इस कारण से वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार द्वारा *'सच्छब्दलक्ष्यो मिथ्या'* कहा गया है।

इसी क्रम में द्वितीय मत (पदान्तर अवाच्यत्व) का खण्डन करते हुए कहा गया है- *'न द्वितीय: पदमात्रावाच्यत्वस्यावस्तुत्वापत्ते:। सच्छब्दलक्ष्यं तुच्छं, पदमात्रावाच्यत्वात्, खपुष्पवदि -त्यनुमानात्।'*[256]

अर्थात् पद मात्र से वाच्य न होने के कारण अवस्तुत्व की आपत्ति होने से द्वितीय मत (पदान्तर अवाच्यत्व) भी नहीं हो सकता, क्योंकि जिसकी सत्ता ही न हो, उस अवस्तु का पदों के द्वारा कथन भी नहीं किया जा सकता। अत: पद मात्र से अवाच्य (बोध्य न) होने के कारण 'सत्' शब्द का जो लक्ष्य है, वह खपुष्प के समान तुच्छ सिद्ध होता है, इसी कारण से आचार्य ने *'सच्छब्दलक्ष्यं तुच्छं'* कहा है।

इसी क्रम में पुन: अद्वैत-वेदान्त के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्‌धृत कर 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में लक्षणा का निराकरण करते हुए आचार्य केशव काश्मीरिभट्ट का कथन है- *'ननु विषमोऽयं दृष्टान्तो, जहल्लक्षणात्वात्। प्रकृते जहदजहल्लक्षणास्वीकार:। तत्र शक्यैकदेशस्य विशेषणमात्रस्यैव त्यागेन विशेष्यभागस्यात्यागान्नोक्तदोषावकाश इति चेन्न, शब्दैकदेशवाच्यत्वस्याकामेनापि त्वयाङ्गीकरणीयतया मिथ्यात्वयोगस्य दुष्परिहरत्वात्। तथाचात्र प्रयोग:। भागत्यागलक्षणालक्ष्यं मिथ्या, शक्यैकदेशत्वात्।'*[257]

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष द्वारा जहल्लक्षणा स्वीकार न करने के कारण *'गङ्गायां घोष:'* यह दृष्टान्त विषम प्रतीत होता है। तात्पर्यार्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में हमें जहदजहल्लक्षणा स्वीकार है- इस पूर्वपक्ष का खण्डन करते हुए वेदान्तकौस्तुभप्रभाकार का कथन है कि जहदजहल्लक्षणा के सम्बन्ध में शक्य (वाच्य) के एक देश विशेषण मात्र का परित्याग कर विशेष्यभाग का ग्रहण होने से उक्त दोष का अवकाश नहीं है– यदि ऐसा पूर्वपक्ष द्वारा कहा जाये तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि शब्दैकदेश-वाच्य (शुद्ध चैतन्य) में आवश्यक प्रतीत न होने वाली लक्षणा-शक्ति को स्वीकार कर जो अर्थ किया गया है, उस लक्ष्यार्थ में भी मिथ्यात्व की आपत्ति का परिहार नहीं किया जा सकता। अत: इस आधार पर कौस्तुभप्रभाकार के *'भागत्यागलक्षणालक्ष्यं मिथ्या'* इस वाक्य की सिद्धि होती है।

---

256 ब्र.सू.नि.भा.(१/१/१) पर वे.कौ.प्र.टी. पृ. ४१

257 वही.

इस प्रकार निम्बार्क-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में लक्षणा का पूर्णत: निराकरण करते हुए अभिधा द्वारा बोध्य सगुण सकर्तृक जगत्कारणरूप ब्रह्म की सिद्धि की गयी है।

5.5.6. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

5.5.6.1. आश्रय-आश्रयि भाव सम्बन्ध

आचार्य निम्बार्क के अनुसार ब्रह्म तथा जीव, जगत् में आश्रयाश्रित-सम्बन्ध है। जीव और जगत् परतन्त्र एवं पूर्णतया ब्रह्म के आश्रित हैं तथा ब्रह्म इनका आश्रय है। इस सम्बन्ध में 'वेदान्त-पारिजात' के टीकाकार श्रीनिवासाचार्य का कथन है- *'चिदचित्स्वाभाविक भेदाभेदाश्रयो भगवान्वासुदेव: श्रीपुरुषोत्तम:।'*[258] अर्थात् सगुण ब्रह्मरूप भगवान् वासुदेव पुरुषोत्तम चिदचिद् स्वाभाविक-भेदाभेद के आश्रय हैं। जीवेश्वराधीनत्व भाव का प्रतिपादन करते हुए **'परात्तु तच्छ्रुते'**(ब्र.सू.२/३/४०) में भाष्यकार का कथन है- *'तज्जीवस्य कर्त्तृत्वं पराद्धेतोऽस्ति।'* अर्थात् अल्प शक्तिमान् होने के कारण जीव की कर्त्तृत्वादि समस्त क्रियाएँ परमात्मा के अधीन हैं। वह चराचर जगत् का अधिष्ठाता है। अत: अधिष्ठाता-अधिष्ठेय रूप में 'त्वम्' (जीव) 'तत्' (ब्रह्म) पर आश्रित तथा सृष्टि, स्थिति, प्रलय एवं मोक्ष, इन सभी अवस्थाओं में उससे नित्य सम्बद्ध है।

5.5.6.2. नियम्य-नियामक भाव

निम्बार्क-चिन्तन में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के मध्य सम्बन्ध-निर्धारण के क्रम में 'नियम्य-नियामक भाव' द्वारा व्याख्या करते हुए निम्बार्कभाष्य में कहा गया है- *'जीवात्मनि स्वनियम्ये "अन्त: प्रविष्ट: शास्ता जनानाम्" इत्यादौ प्रसिद्धस्य परमात्मनो नियन्तृत्वेनावस्थितेर्हेतु।'*[259] अर्थात् जगत्कारण परब्रह्म अन्तर्यामी रूप में जीवात्मा में प्रविष्ट होकर नियन्तृत्व शक्ति द्वारा जीव, जगत् का नियमन करता है। इस कथन को श्रुतिप्रमाण से पुष्ट करते हुए भाष्यकार ने परमात्मा को जगत्-नियन्ता एवं जीव को उससे नियम्य (नियन्तृत) माना है। इस प्रकार 'नियम्य-नियामक भाव' द्वारा 'त्वम्' (जीव) 'तत्' (ब्रह्म) से सम्बद्ध है।

---

258 नि.भा.वे.कौ.प्र.टी. १/१/१

259 ब्र.सू.नि.भा. १/४/२२

5.5.6.3. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

निम्बार्क-चिन्तन के अनुसार 'द्वैताद्वैत-सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि दृश्यमान जगत् और जीव दोनों ही मूलत: 'ब्रह्म' हैं, किन्तु जगत् और जीव तक ही उसकी सत्ता सीमित नहीं है, अपितु इन दोनों का अतिक्रमण करके भी वह विद्यमान है, इसलिए उसे विश्वातीत कहा गया है। जीव और जगत् ब्रह्म के अंश मात्र हैं, वे अंशी का अतिक्रमण नहीं कर सकते, इसलिए उसके अधीन हैं। अंश के साथ अंशी का जैसा 'द्वैताद्वैत-सम्बन्ध' है, वैसा ही सम्बन्ध ब्रह्म का जीव और जगत् के साथ है। अंश सम्पूर्ण अवयवों से अंशी का अङ्ग है, इसलिए अभिन्न है, किन्तु अंशी, अंश का अतिक्रमण करके भी विद्यमान रहता है। केवल अंश-मात्र में अंशी की सत्ता सीमित न होने के कारण अंशी, अंश से भिन्न भी है। इसी आधार पर 'त्वम्' पद बोध्य 'जीव' और 'तत्' पद बोध्य 'ब्रह्म' का सम्बन्ध 'द्वैताद्वैत' बताया गया है।

इसी क्रम में आचार्य निम्बार्क ब्रह्मसूत्र के 'अंशाधिकरण' में अंशांशिभाव द्वारा जीव और ब्रह्म के मध्य 'द्वैताद्वैत' का प्रतिपादन करते हैं। इस सम्बन्ध में "अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापिदाशकितवादित्वमधीयत एके"[260] सूत्र का वेदान्तपारिजातसौरभ-भाष्य द्रष्टव्य है-

'अंशांशिभावाज्जीवपरमात्मनोर्भेदाभेदौ दर्शयति, परमात्मनो जीवोंऽश: "ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावि"-त्यादिभेदव्यपदेशात् ; "तत्त्वमसी"-त्याद्यभेदव्यपदेशाच्च।'[261]

अंशांशिभाव के सम्बन्ध में श्रुतिवाक्यों को उद्धृत कर जीव और परमात्मा के मध्य 'द्वैताद्वैत' की सिद्धि करते हुए भाष्यकार का मत है कि जीव परमात्मा का अंश है। इसी भाव की पुष्टि 'भावदीपिका टीका' में भी की गयी है- जीव अंश तथा ब्रह्म अंशी है- *'अंशवाची हि पादशब्दस्तेन ब्रह्मांशो जीव:।'*[262] यहाँ अंश शब्द का अर्थ अवयव नहीं है, अपितु- *'अंशोहि शक्तिरूपोग्राह्य:।'*[263] अंश शब्द का अर्थ 'अर्थशक्ति' किया गया है। *"ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ"* इस श्रुतिवाक्य के आधार पर परमात्मा 'ज्ञ' और जीव के 'अज्ञ' होने के कारण दोनों में 'भेद' है और *"तत्त्वमसि"* श्रुतिवाक्य के आधार पर परमात्मा और जीवात्मा में 'अभेद' है। अत: भेद, अभेद दोनों की वास्तविक सत्ता (श्रुतिवाक्य से प्रमाणित) होने के कारण 'द्वैताद्वैत' की सिद्धि होती है।

---

260 वही, २/३/४२

261 ब्र.सू.नि.भा. २/३/४२

262 वही, भा.दी.टी. २/३/४२

263 वही, वे.कौ. २/३/४२

इसी क्रम में "मन्त्रवर्णात्"[264] सूत्र पर भाष्य करते हुए भाष्यकार श्रुतिवाक्य को उद्धृत करते हैं- *"पादोऽस्य विश्वाभूतानी"-ति मन्त्रवर्णाज्जीवो ब्रह्मांश:।'*[265] अर्थात् यह जगत् सहस्र शीर्ष वाले पुरुष का एक पाद (अंश-मात्र) है। इस मन्त्र द्वारा भी जीव, ब्रह्म का अंश सिद्ध होता है। अंश और अंशी में किञ्चित् भेद सभी अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। यदि इन दोनों में भेद न हो तो 'अंश' रूप कथन की कोई सार्थकता ही नहीं होगी, फिर जीव को ब्रह्म कहना ही उचित होगा। अत: ब्रह्म के साथ जीव का जो 'द्वैताद्वैत-सम्बन्ध' पूर्व में प्रतिपादित किया गया है, वह सभी अवस्थाओं में जीव का स्वरूपगत है।

इसी सम्बन्ध में "अपि च स्मर्यते"[266] सूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य निम्बार्क भगवद्गीता को उद्धृत करते है- *"ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:" इति जीवस्य ब्रह्मांशत्वं स्मर्यते।'*[267] इस स्मृतिवाक्य के आधार पर भी जीव का ब्रह्मांशत्व सिद्ध होता है। 'अंश' होने के कारण *'ब्रह्माभिन्नोऽपि क्षेत्रज्ञ: स्वस्वरूपतो भिन्न एव।'*[268] इस वाक्य के द्वारा तथा ऊपर उद्धृत श्रुति एवं स्मृति वाक्य के आधार पर ब्रह्म से जीव की भिन्नता और अभिन्नता दोनों प्रमाणित हो जाती है। इस प्रकार अंशांशिभाव द्वारा भाष्यकार के अभिमत (स्वाभाविक-भेदाभेद) की सिद्धि होती है।

5.5.6.4. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों की व्याख्या के क्रम में 'उपनिषत्प्रकाशिका' टीका में "पटवच्च"(ब्र.सू.२/१/१८) सूत्र पर 'कारण-कार्य' की दृष्टि से भाष्य करते हुए आचार्य सनन्दन जी का कथन है- *'यथा सङ्कुचित: पट: पटत्वेनागृह्यमाणोऽपि प्रसारणे तु स्पष्टं पट एव प्रत्यक्षतया गृह्यते। तथा तिरोभावसमयेऽनभिव्यक्तं विश्वं नामरूपाभ्यामगृह्यमाणमपि सदेवाविर्भावसमयेतु प्रत्यक्षेण स्पष्टं नामरूपाभ्यां गृह्यते।'*[269]

दृष्टान्त-पद्धति के माध्यम से दर्शन के अतिगम्भीर विषय को व्याख्यायित करते हुए आचार्य सनन्दन जी का कथन है कि जैसे- मोड़ा हुआ कपड़ा पटत्व रूप में विद्यमान होने पर भी प्रतीति के अभाव में उस रूप में उसका ग्रहण न किया जाता हुआ भी प्रसारण के समय प्रत्यक्ष होने के

---

264 वही, २/३/४३

265 वही, नि. भा.

266 ब्र.सू. २/३/४४

267 वही, नि. भा.

268 वे.पा.सौ. २/१/२२

269 छा.उ.प्र.टी. पृ. २१८

कारण स्पष्टतया पटत्व रूप अर्थ का बोध (ग्रहण) होता है, उसी प्रकार तिरोभाव की अवस्था में जगत् अव्यक्त रूप में होने के कारण नामरूप द्वारा ग्रहण न होता हुआ भी 'सत्' रूप में विद्यमान रहता है एवं आविर्भाव की अवस्था में नामरूप द्वारा प्रत्यक्ष होता है। अत: इस दृष्टान्त के आधार पर यह सिद्ध होता है कि प्रलय और मोक्ष की अवस्था (तिरोभाव) में भी कार्य रूप जीव (त्वम्) का अस्तित्व 'तत्' के सानिध्य में 'सत्' रूप में विद्यमान रहता है। इसी भाव प्रतिपादन 'अविभागो वचनात्'(ब्र.सू.४/२/१५) में भी किया गया है। यहाँ 'अविभाग' शब्द का अर्थ 'विनाश' नहीं है, अपितु ब्रह्मत्व का सादृश्य लाभ है। उस स्थिति में भी कार्य रूप जीव अव्यक्त (ब्रह्म के अंश) रूप में नित्य स्थित रहता है।

परमात्मा जीव, जगत् रूप कार्य में परिणमित होते हुए भी जीव-जगत् सम्बन्धी विकारों से प्रभावित नहीं होता है। इस सम्बन्ध में "प्रकाशादिवत्तु नैवं पर:"[270] सूत्र पर भाष्य करते हुए आचार्य का अभिमत है- *'जीवस्य परमपुरुषांशत्वे अंशी सुखदु:खं नानुभवति। यथा प्रकाशादि: स्वांशगतगुणदोषवर्जितो भवति।'*[271] अर्थात् जैसे सूर्य अपने अंशभूत किरणों के मलमूत्रादि अशुद्ध वस्तुओं के स्पर्श से दूषित नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर भी जीवकृत कर्म द्वारा दूषित (विकारयुक्त) नहीं होता।

जीवेश्वर के सम्बन्ध में 'कारण-कार्य भाव' की व्याख्या करते हुए आचार्य निम्बार्क का कथन है- *'कार्यस्य कारणादनन्यत्वं कुतोऽवगम्यते ? तत्राह, कारणसद्भावे सति, कार्यस्य उपलब्धे: , "सन्मूला सौम्येमा: प्रजा:" इत्यादिश्रुते:।'*[272] ... *"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदि"-ति सामानाधिकरण्य निर्देशेनावरकालीनस्य कार्यस्य कारणे सत्त्वात्तदनन्यत्वम्।'*[273]

अर्थात् कारण के सद्भाव से ही कार्य का ज्ञान होता है। इसको *"सन्मूला सौम्येमा: प्रजा:"* (हे सोम्य ! यह समस्त चराचर जगत् सत् मूलक है) श्रुतिवाक्य द्वारा बताया गया है। उत्पत्ति से पूर्व कार्य (जीव, जगत्) कारण (ब्रह्म) में विद्यमान था। अत: कारण से कार्य का अभिन्नत्व एवं सत् मूलक होने से कार्य की सत्यता सिद्ध होती है।

5.6. शुद्धाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

शुद्धाद्वैत-चिन्तन का सम्बन्ध वैष्णव-विचारधारा के 'रूद्र-सम्प्रदाय' एवं दीर्घकाल तक विलुप्त रही विष्णुस्वामी की भक्ति-मार्ग की धारा से माना जाता है। श्रीपाद विष्णुस्वामी ही इस

---

270 वही, २/३/४५

271 वही, नि. भा.

272 ब्र.सू.नि.भा. २/१/१५

273 वही, २/१/१६

चिन्तन के आदि-प्रवर्तक माने जाते हैं, किन्तु ब्रह्मसूत्र पर उनका कोई भाष्य लेखन प्राप्त नहीं होता। इस परम्परा में आचार्य वल्लभ द्वारा ब्रह्मसूत्र पर भाष्य का प्रणयन किया गया, इस कारण से उनको इस सम्प्रदाय का प्रवर्तक आचार्य माना जाता है। आचार्य वल्लभ के अनुसार विश्व की एकमात्र सत्ता ब्रह्म है, जीव और जगत् ब्रह्म निमित्तक हैं। सगुण-सविशेष ब्रह्म इनका उपास्य है। रसस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण इनकी दृष्टि में परब्रह्म हैं। भगवान् के आविर्भाव और तिरोभाव शक्तियों के कारण ही जगत् का विकास एवं लय होता है। इस चिन्तन में आविर्भाव-तिरोभाव से तात्पर्य है- सत्ता का ऐसा स्वरूप जो नामात्मना, रूपात्मना और कर्मात्मिना अनुभूत हो, वह 'आविर्भाव' कहलाता है तथा सत्ता में किसी नाम-रूप एवं कर्म का प्रकट न होना 'तिरोभाव' है। पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही जगत् के निमित्त एवं उपादान कारण हैं। इस चिन्तन में जगत् को ब्रह्म का परिणाम माना गया है। यहाँ जीव और जगत् को ब्रह्म से अभिन्न बताया गया है। ये दोनों शुद्ध ब्रह्म के कार्य हैं। 'शुद्ध-अद्वैत' तत्त्व के रूप में ब्रह्म का प्रतिपादन करने के कारण वल्लभाचार्य का सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैतवाद' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

5.6.1. शुद्धाद्वैत शब्द की व्याख्या

आचार्य गिरीधर जी 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ में 'शुद्धाद्वैत' (शुद्ध + अद्वैत) शब्द की व्याख्या के सन्दर्भ में 'अद्वैत' पद को व्याख्यायित करते हुए कहते हैं- नाम-रूप, ईश्वर-जीव अथवा कार्य-कारण, इन दो रूपों में जिनका ज्ञान होता हो, उन्हें 'द्वीत' कहते हैं और द्वीत का भाव ही 'द्वैत' कहलाता है, जो द्वैत न हो उसे 'अद्वैत' शब्द से अभिहित किया जाता है, ऐसा अद्वैत "सर्वं खलु इदं ब्रह्म तज्जलान्" इस श्रुतिवाक्य में कहा गया है। इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण विश्व का पहले 'इदं' पद से अभिधान हो रहा है, पुन: इस जगत् में जो कुछ भी चराचर प्रत्यक्ष और अनुभवगम्य है, ऐसे उन सभी पदार्थों से युक्त विश्व के समग्रता का बोध 'सर्व' पद द्वारा होता है। अत: समस्त पदार्थों के ब्रह्मरूप होने के विधान से दोनों (समस्त पदार्थ और ब्रह्म) में तादात्म्य प्रतिपादित किया गया है। ब्रह्मरूप कार्य का ब्रह्म ही कारण होना चाहिए, इस चिन्तन में वही कारणरूप ब्रह्म साकार, सर्वशक्तिमान्, एकमेवाद्वितीय, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता और सच्चिदानन्दरूप वाला है, ऐसे ब्रह्म से यह दृश्यमान् जगत् आविर्भूत हुआ है। - (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, श्लोक ३-८)। इसी क्रम में 'शुद्धाद्वैत' शब्द की व्याख्या द्रष्टव्य है-

शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेय: समास: कर्मधारय:।

अद्वैतं शुद्धयो: प्राहु: षष्ठीतत्पुरुषं बुधा:॥[274]

'शुद्धाद्वैत' पद में कर्मधारय-समास समझना चाहिए अथवा 'शुद्ध-जीव' और 'शुद्ध-ब्रह्म' का 'अद्वैत' विवक्षित होने पर षष्ठीतत्पुरुष-समास द्वारा भी इसकी व्याख्या की जा सकती है। आचार्य गिरिधर जी ने व्याकरण का प्रयोग करते हुए कर्मधारय एवं षष्ठीतत्पुरुष-समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' शब्द का दो प्रकार से विग्रह किया है-

1. कर्मधारय समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' शब्द का विग्रह करने पर अर्थ होगा-

   'शुद्धं च तत् अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम्।'[275]

   अर्थात् जो 'शुद्ध' भी हो और 'अद्वैत' भी हो, इस रूप में कर्मधारय-समास द्वारा मायारहितं एकम् अद्वितीयं सत् (ब्रह्म) का बोध होता है। इस सम्बन्ध में कहा गया है- *'मायासम्बन्धरहितस्य शुद्धस्यैव ब्रह्मण: कार्यकारणरूपेणांशांशित्वेन रूपेण वाऽद्वैतं शुद्धाद्वैतपदवाच्यमिति विभावनीयम्।'*[276]

2. षष्ठीतत्पुरुष-समास द्वारा 'शुद्धाद्वैत' शब्द का विग्रह करने पर अर्थ होगा-

   'शुद्धयो: अद्वैतम् इति शुद्धाद्वैतम्।'[277]

   शुद्धाद्वैत के इस विग्रह के अनुसार माया सम्बन्ध रहित ब्रह्म एवं जगत् का 'अद्वैत' अभिप्रेत है। इस सम्बन्ध में कहा गया है- *'शुद्धस्यैवानन्दमयस्य ब्रह्मण: कार्यकारण-रूपेणांशांशित्वेन रूपेण वा जगद्ब्रह्मणोर्जीवब्रह्मणोरद्वैतम् ।'*[278] अर्थात् दो शुद्ध प्रमेयों का अद्वैत 'शुद्धाद्वैत' है -

   - ब्रह्म शुद्ध है और जीव शुद्ध है तथा इन दोनों का जो ऐक्य (अद्वैत) है, वही 'शुद्धाद्वैत' है।
   - शुद्ध सत् ब्रह्म तथा शुद्ध सत् जगत् का अद्वैत ही 'शुद्धाद्वैत' है।

---

274 शु.द्वै.मा. श्लोक, २७

275 वही, उपोद्घात

276 वही.

277 वही.

278 वही.

ब्रह्म कारणरूप है और वही कार्यरूप भी है। अतएव कारणब्रह्म और कार्यब्रह्म दोनों का ऐक्य ही अद्वैत है। 'शुद्ध' पद 'अद्वैत' का विशेषण है। ब्रह्म माया-सम्बन्ध से रहित है, अत: मायाराहित्य ही ब्रह्म की शुद्धता है, जिसके कारण उसे 'शुद्ध-अद्वैत' कहा गया है-

माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधै:।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ॥[279]

अर्थात् जिसका माया के साथ सम्बन्ध न हो उसे 'शुद्ध' कहा जाता है। यहाँ माया के सम्बन्ध से रहित होने के कारण ब्रह्म को 'शुद्ध' कहा गया है। कार्य एवं कारण दोनों ही अवस्थाओं में ब्रह्म 'शुद्ध' है, उसमें माया का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

5.6.2. शुद्धाद्वैत-सम्मत तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श

'तत्त्वमसि' महावाक्य के विश्लेषण के क्रम में 'तत्' और 'त्वम्' का प्रतिपादन करते हुए 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' में गोस्वामी गिरिधरदास जी का कथन है-

केचित्तत्त्वमसीतिवाक्यविषये तत्त्वम्पदे लक्षणां ।
केचित्तत्र ङसो लुकं विदधते भाष्यं तु केचिज्जगु: ॥
केचिच्चिद्विषयादभेदमपरे छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं ।
सिद्धान्ते तु सुवर्णवज्जगदिदं ब्रह्मैव जीवस्तथा ॥ [280]

वेदान्त-परम्परा के कुछ आचार्य 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों में लक्षणा स्वीकार करते हैं, कुछ आचार्य इस महावाक्य में षष्ठी-विभक्ति का विधान करते हुए ङस् का लुक् हुआ है- ऐसा अर्थ ग्रहण करते हैं, कुछ आचार्य चित् विषय से अभेद का विधान करते हैं तथा कुछ आचार्य श्रुतिवाक्य में पदच्छेद द्वारा भेद का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु हमारे (शुद्धाद्वैत) चिन्तन में तो ब्रह्म ही जीवरूप में विद्यमान है, अत: इस रूप में जगत् सुवर्णवत् है-

सुवर्णस्य च ये खण्डा: कटका मुद्रिकादय: ।
सुवर्णत्वेन गृह्णाति तथा ब्रह्मविदो मति: ॥[281]

---

279 वही, पृ.२४

280 शु.द्वै.मा. पृ. १६

281 वही, श्लोक २०

जैसे- सुवर्ण से विनिर्मित कटकादि आभूषण (आकार भेद होने पर भी) वस्तुत: सुवर्ण ही होते हैं और सुवर्ण रूप में ही उनका ग्रहण होता है, वैसे ही ब्रह्म से आविर्भूत जीव-जगत् वस्तुत: ब्रह्म ही है।

'केचित्तत्त्वमसीति...' श्लोक की व्याख्या के सम्बन्ध में आचार्य रामकृष्णभट्ट प्रणीत 'प्रकाश-व्याख्या' अवलोकनीय है- *'केचिच्छङ्कराचार्या:, तच्छब्देन सर्वज्ञत्वादिविशिष्टं ब्रह्म, त्वं शब्देनाल्पज्ञत्वादिविशिष्टो जीवस्तयोरभेदो न सम्भवतीति भागयो: सर्वज्ञत्वाल्पज्ञत्वयो: त्यागे केवलचिदंशमात्रग्रहणेन अभेद:। 'सोऽयं देवदत्त' इतिवद्भागत्यागलक्षणां विदधते।'*[282]

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में शङ्कराचार्य 'तत्' शब्द द्वारा सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट ब्रह्म एवं 'त्वं' शब्द द्वारा अल्पज्ञत्वादि विशिष्ट जीव का ग्रहण करते हैं, किन्तु ऐसा अर्थ करने पर 'तत्' एवं 'त्वं' पदों द्वारा अभेदार्थ सम्भव नहीं हो सकता, इस कारण से लक्षणा द्वारा विरुद्धांश सर्वज्ञत्व, अल्पज्ञत्व भाग का परित्याग कर केवल चिदंश मात्र का ग्रहण करने से अभेद की सिद्धि होती है। अत: यहाँ आचार्य द्वारा 'सोऽयं देवदत्त:' दृष्टान्त की तरह भागत्याग लक्षणा का विधान किया गया है। इसी क्रम में अन्य भाष्यकारों का मत द्रष्टव्य है-

'केचिद् रामानुजमाध्वशैवा:, तत्त्वमित्यत्र "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल" इति सूत्रेण ङसो लुकं विदधते। तस्य त्वमसि तत्सम्बन्ध्यसि। सम्बन्धश्च सेव्यसेवकभाव:।'[283]

वेदान्त-परम्परा के आचार्य रामानुज, आचार्य मध्व एवं शैवाचार्य षष्ठी-विभक्ति का आश्रय लेते हुए 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में "सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल:" इस सूत्र द्वारा ङस् के लुक् का विधान कर *'तस्य त्वम् असि, तत् सम्बन्धि असि'* ऐसा अर्थ करते हुए 'तत्' (ब्रह्म) एवं 'त्वं' (जीव) के मध्य सेव्य-सेवक भाव सम्बन्ध मानते हैं। इसी क्रम में प्रकाश-व्याख्याकार आचार्य रामकृष्णभट्ट का कथन है- *'केचिन्निम्बार्काश्चिद्विषयाच्चित्त्वसाधर्म्याद् अभेद:। केचिन्माध्वैकदेशिन: , अतत्त्वमसीति पदं छिन्दन्ति। तत्रार्थस्तु, तद् ब्रह्म त्वं नासि, किं तर्हि ? जीवोऽसीत्यर्थ:। सिद्धान्ते सुवर्णस्यांशा: सुवर्णरूपास्तथा ब्रह्मांशं जगत् ब्रह्मैव तथा जीवोऽपि चिदंशो ब्रह्मानेन वाक्येन बोध्यते।'*[284]

वेदान्त-परम्परा के कुछ वेदान्ती (निम्बार्क) 'तत्' एवं 'त्वं' के सम्बन्ध में 'चित्त्व' के साधर्म्य से अभेद का प्रतिपादन करतें हैं, जबकि मध्व-चिन्तन में 'स आत्मा तत्त्वमसि' इस महावाक्य का पदच्छेद करते हुए 'अतत् त्वम् असि' इस रूप में 'तद् ब्रह्म त्वं नासि' (जीवोऽसि)- ऐसा अर्थ किया गया है, किन्तु हमारे (शुद्धाद्वैत) चिन्तन में जैसे- सुवर्ण के अंश सुवर्ण रूप वाले ही होते

---

282 शु.द्वै.मा.प्र.व्या. पृ. १६

283 वही.

284 वही.

हैं, वैसे ही ब्रह्मांश जगत् वस्तुत: ब्रह्म ही है तथा चिदंश होने के कारण जीव का भी ब्रह्म शब्द से अभिधान होता है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में वेदान्त-सम्प्रदाय के मतों को प्रस्तुत कर शुद्धाद्वैत-चिन्तन के अनुसार उनका खण्डन करते हुए आचार्य गिरिधर जी का कथन है-

तत्रोपक्रमसङ्गतिर्बहुविधा भग्ना प्रतिज्ञाश्रुति-

र्भक्तिः स्याद्यदि, न त्वमेव कथयेद्भेदे च नो तुल्यता ।

साधर्म्येऽपि तु भेद एव रसितश्छेदो न सम्यग्यत:

सिद्धान्त: श्रुतिसंमतो विलसति प्राज्ञैर्विचार्यं मुहु: ॥[285]

इस खण्डनपरक श्लोक की व्याख्या करते हुए आचार्य रामकृष्णभट्ट जी का कथन है- *'शङ्कराचार्यादिव्याख्यानेषु उपक्रमस्य सङ्गतिर्बहुप्रकारेण भग्ना स्यात्। तथाहि– तत्त्वमसीति वाक्यं श्वेतकेतूपाख्यानेऽस्ति। तत्रोपक्रमे, अपि वा तमादेशमप्राक्षो येनाऽश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतं भवत्यविज्ञातं विज्ञातं भवतीत्यादिना एकविज्ञाने सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञातम्। तदेकमेव चेत् सर्वं भवेत् तदोपपद्यते। यथा सुवर्णकार्यं सुवर्णखण्डा: सर्वं सुवर्णमिति सवर्णज्ञानेन तज्ज्ञानं भवति। तदर्थं सदेव सौम्येत्यारभ्य निरूपितम्। ततो जडस्य सर्वस्याऽपि सदात्मकत्वार्थम्, ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युक्तं। तर्हि जडगताऽसत्यत्वादिदोषस्तत्परिहारार्थं आह- तत्सत्यमिति। पूर्वोत्तरयोर्जडजीवयो: सदात्मकत्वे हेतुमाह- स आत्मेति। एवं जडस्य ब्रह्मात्मकत्वमुक्त्वा जीवस्याप्याह-तत्त्वमसीति। "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इति ब्रह्मसूत्रात्।'*[286]

'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्य-निश्चय के सन्दर्भ में शङ्कराचार्य द्वारा प्रतिपादित उपक्रम-उपसंहार की सङ्गति बहुविध प्रकार से खण्डित होवे- ऐसा खण्डनपरक विधान शुद्धाद्वैत-चिन्तन में किया गया है। 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का कथन छान्दोग्य-उपनिषद् के श्वेतकेतु उपाख्यान में किया गया है। वहाँ उपक्रम में अथवा गुरुपदेश से यह बोध होता है कि जिसके द्वारा अथवा जिसको जान लेने से अश्रुत श्रुत हो जाता है, अमत मत हो जाता है, अविज्ञात विज्ञात हो जाता है- इस रूप में एक (मूल तत्त्व परब्रह्म) का ज्ञान होने से सबका ज्ञान हो जाता है, ऐसा प्रतिज्ञाश्रुति में उपदिष्ट है। अत: एक ही सत्ता से सम्पूर्ण चराचर जगत् हुआ, ऐसा श्रुति से ज्ञात होता है। जैसे- सुवर्णकार्य कटक, कुण्डल, मुद्रिकादि सुवर्णखण्ड वस्तुत: सुवर्ण ही होते हैं और सुवर्णज्ञान द्वारा आभूषणरूप में भिन्न-भिन्न आकारों में विद्यमान सभी सुवर्णखण्डों का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म के अंश जीव-जगत् के भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान होने पर भी

---

285 शु.द्वै.मा. पृ. १७

286 वही, प्र. व्या. पृ. १७

ब्रह्म (शुद्ध-अद्वैत) ज्ञान द्वारा चराचर जीव-जगत् के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। अत: इस अर्थ की पुष्टि हेतु “सदेव सौम्य” इस श्रुतिवाक्य द्वारा प्रकरण का आरम्भ किया गया है।

इस चिन्तन में समस्त चराचर जगत् मिथ्या या कल्पनामात्र नहीं है, अपितु सदात्मक है, इसलिए “ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'' श्रुतिवाक्य का विधान किया गया है तथा जगत् के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष (शाङ्कर वेदान्त) द्वारा प्रतिपादित मिथ्यात्व, असत्यत्वादि दोष के परिहार हेतु ''तत्सत्यम्” श्रुतिवाक्य द्वारा जगत् की सत्यता का कथन किया गया है। इसी क्रम में जगत् एवं जीव के सदात्मकत्व के सम्बन्ध में हेतु दिया गया है- “स आत्मा”। इस प्रकार जगत् के ब्रह्मात्मकत्व का अभिधान कर “तत्त्वमसि” श्रुतिवाक्य द्वारा जीव का भी ब्रह्मात्मकत्व बताया गया है। इसी भाव का प्रतिपादन 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' में भी किया गया है। सृष्टि में जड़, जीव और ईश्वर– इन तीनों की ब्रह्मात्मकता प्रदर्शित करने वाला श्रुतिवाक्य है-

“ऐतदात्म्यम् इदं सर्वं, स आत्मा, तत् (ऐतदात्म्यम्) त्वम् असि।”(छा.उ.६/८/७) इस सन्दर्भ में 'तत्त्वार्थदीपनिबन्ध' (१/२७-२९ तथा १/६१-६२) में आचार्य वल्लभ का कथन है- अग्नि से स्फुलिङ्ग की तरह सच्चिदानन्दब्रह्म के सदंश से जड़ पदार्थ (जगत्) और चिदंश से जीवात्मा का आविर्भाव होता है। अत: 'यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्मात्मक है' ऐसा अभिधान कर पहले सदंशरूप जड़ पदार्थ की 'ब्रह्मात्मकता' बताते हुए उसकी सत्यता का प्रतिपादन 'तत्सत्यम्' (वह सत्य है) श्रुतिवाक्य से किया गया है। इसी क्रम में चिदंश जीव की 'ब्रह्मात्मकता' का अभिधान करने से पूर्व 'इस (जीव) की आत्मा तो वही (ब्रह्म) है' ऐसा हेतु 'स आत्मा' श्रुति द्वारा प्रस्तुत किया गया है। जड़रूप कार्यों की 'ब्रह्मात्मकता' बताकर जीवरूप अंश की भी 'ब्रह्मात्मकता' बताने हेतु 'तत्त्वमसि' (वही तुम हो) कहा जा रहा है। यह सम्पूर्ण महावाक्य उपदेशात्मक है, ऐसा 'आवृत्ति: असकृदुपदेशाद्'(ब्र.सू.४/१/१) इस ब्रह्मसूत्र के आधार पर सिद्ध होता है।

इसी क्रम में तत्त्वमसि महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निर्धारण में वेदान्त-सम्प्रदाय के अन्य मतों का विवेचन अवलोकनीय है- *'भेदवादिनां मते सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाभङ्ग:, जगतो भिन्नत्वात्। नहि सुवर्णज्ञाने मृद्विकारा ज्ञायन्ते, किन्तु सुवर्णविकारा एव। वास्तविकभेदाभेदवादिनां मते भेदज्ञानस्य वास्तवत्वेन तेषां भेदवादिवदुपक्रमविरोध:, प्रतिज्ञाहानिश्च। किञ्च, भक्तिर्लक्षणा यदि स्यात् तर्हि त्वं शब्दवाच्यस्य पिण्डस्य ब्रह्मत्वमिष्टं न स्यात्, तर्हि न त्वमसीत्येव ब्रूयात्। त्वमल्पगुणोपाधिको ब्रह्म नासीत्यर्थ:। कथयति त्वेवम्, तस्माल्लक्षणा नाभिमता। भेदे च तस्य त्वमसीति व्याख्याने भेद एव स्थित:। तथा च जीवस्य भिन्नत्वात् कस्यचित् सुखं कस्यचिद् दु:खमिति ब्रह्मणि वैषम्यमित्यर्थ:। भेदाभेदवादिमते चित्त्वसाधर्म्येणाभेदस्तथा च भेद एव रसित: पर्यवसित इत्यर्थ:। एवं च भेदवादिवत्तेषामपि मते दोष:।'*[287]

---

[287] वही, पृ. १८

वेदान्त के भेदवादी-सम्प्रदाय के मत में जीव-जगत्, ब्रह्म से पूर्णत: भिन्न होने के कारण “एक विज्ञानेन सर्वं विज्ञातं भवति” यह सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है, क्योंकि सुवर्ण सम्बन्धी ज्ञान होने पर मृत्तिका सम्बन्धी विकार का भी ज्ञान हो जाये, ऐसा लोकव्यवहार में नहीं देखा जाता, अपितु सुवर्ण विकार का ही ज्ञान होता है। इसी क्रम में वास्तविक भेदाभेद (निम्बार्क) मत में भेदज्ञान वास्तविक होने के कारण उनका भेदवादी की तरह ही उपक्रमविरोध एवं प्रतिज्ञाहानि सम्बन्धी दोष उपपन्न होता है। अत: इस सम्बन्ध में यदि भक्तिर्लक्षणा स्वीकार करें, तब 'त्वं' शब्द वाच्य पिण्ड का ब्रह्मनिष्ठत्व अभिधान नहीं होगा। तुम अल्पगुण उपाधि से युक्त होने से ब्रह्म नहीं हो। अत: इस कारण से स्वाभाविक-भेदाभेद मत में लक्षणा अभिमत नहीं है। भेदवादी-चिन्तन के 'तस्य त्वम् असि' इस व्याख्यान में भेद की ही सत्ता सिद्ध होती है। इसमें ब्रह्म से जीव पूर्णत: भिन्न होने के कारण जीवों का सुख-दु:ख भी परस्पर भिन्न होता है। अत: सुख-दु:ख के तारतम्य से भी जीव-जीव और जीव-ब्रह्म में वैषम्य पाया जाता है। भेदाभेदवादी (भास्कर) मत में चित्त्व साधर्म्य द्वारा अभेद एवं कार्य रूप में भेद माना गया है। अत: भेदवादी की तरह ही यहाँ भी दोष उपस्थित होता है। इसी क्रम में व्याख्याकार आचार्य रामकृष्णभट्ट जी द्वारा द्वैतमत का खण्डन एवं सिद्धान्त मत का पक्ष द्रष्टव्य है- *'अतत्त्वमसीति छेदस्तु न वैदिकसंमत इति श्रीमदाचार्यचरणोक्तेर्न सम्यक्। तस्मिन् पक्षे , अतद् ब्रह्म त्वं नासीत्यर्थे, जीवोऽसीति पर्यवसिते जीवस्य स्वत: सिद्धत्वेन ब्रह्मत्वस्याऽप्राप्त्या च तादृशपदच्छेदो न सम्यगित्यर्थ:। अत: पूर्वश्लोके 'छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं' इत्युक्तम्। तत्रातत्त्वम् अवैदिकसंमतं पदं छिन्दन्तीत्यपि श्लोकार्थ:। शुद्धाद्वैतसिद्धान्त: श्रुतिसंमत उपक्रमोपसंहार-श्रुतिसंमत इति प्राज्ञै:पण्डितैर्विचार्यमित्यर्थ:।'*[288]

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के अर्थ-निर्धारण के सन्दर्भ में आचार्य मध्व द्वारा 'स आत्मा अतत्त्वमसि' ऐसा जो पदच्छेद किया गया है, वह शुद्धाद्वैत-चिन्तन के अनुसार वैदिक-सम्मत नहीं है। भेदपक्ष में 'अतद् ब्रह्म त्वं न असि' इस रूप में 'त्वं जीवोऽसि' यह अर्थ पर्यवसित होने पर जीव की स्वत: सिद्धि एवं ब्रह्मत्व की अप्राप्ति होने से इस श्रुतिवाक्य का पदच्छेद करना ठीक नहीं है। अत: जो श्लोक में 'छिन्दन्त्यतत्त्वं पदं' कहा गया है, वहाँ *'अतत्त्वम् अवैदिकसंमतं पदं छिन्दन्ति'*– ऐसा अर्थ भी किया जा सकता है। इस प्रकार सिद्धान्त (शुद्धाद्वैत) मत में उपक्रम-उपसंहारगत विरोध का परिहार एवं एकवाक्यता हेतु श्रुतिसंमत जगत्-सत्यत्व एवं जीव-ब्रह्म में अभेद का प्रतिपादन किया गया है।

---

288 वही.

5.6.3. तत् एवं त्वं पदार्थ का अभेद

शुद्धाद्वैत-चिन्तन में ब्रह्म ही जीव-जगत् रूप में परिणत होकर अनन्यभाव से नानारूपों में लीला कर रहे हैं। अत: इस दृष्टि से 'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थ का अभेद प्रतिपादित करते हुए 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' के उपोद्घात में कहा गया है- *'ब्रह्मपूर्णप्रकटानन्दम्, जीवस्तु तिरोहितानन्द इति द्वयोर्भेद:, किन्तु यथा जीवेऽप्यानन्दांश आविर्भवति, तदोभयोर्जीवब्रह्मणो: साम्यादैक्यं सुलभमेव। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इति श्रुत्याविर्भूतानन्दांशे जीवे ब्रह्मत्वं बोध्यते। तिरोहितानन्दावस्थायां तु तत्र ब्रह्मत्वं नास्ति। आनन्दांशप्रादुर्भावे जीवो ब्रह्मरूप एव। तेनाभेद: सुलभ:। ... यथा बाल्ये विद्यमानं पुंस्त्वं यौवने प्रादुर्भवति, तद्वज्जीवे विद्यमान-एवानन्दांशो भक्त्यादिभि: प्रकटो भवति।'*

अर्थात् जगत्कारणरूप ब्रह्म में आनन्दांश का पूर्ण प्राकट्य एवं जीव में आनन्दांश के तिरोभाव के कारण दोनों में भेद है, किन्तु जीव में जब पूर्णानन्दांश का आविर्भाव होता है, तब जीव-ब्रह्म के साम्य के कारण दोनों की ऐक्यता सुलभ हो जाती है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य द्वारा आनन्दांश के आविर्भूत होने पर जीव में ब्रह्मत्व का बोध होता है। आनन्दांश के तिरोभाव की अवस्था में जीव ब्रह्मत्व सम्पन्न नहीं होता। आनन्दांश के प्रादुर्भाव होने पर जीव ब्रह्मरूप ही है- **'आविर्भावे तु सर्वं हि ब्रह्मैवेति न संशय:।'**[289]

अत: आनन्दांश के आविर्भाव की स्थिति में 'तत्' एवं 'त्वं' का अभेद सुलभ है। इसको दृष्टान्त द्वारा बताते हुए कहा गया है कि जैसे-बाल्यावस्था में विद्यमान पुंस्त्व का युवावस्था में प्रादुर्भाव होता है, वैसे ही जीव में विद्यमान आनन्दांश का भक्त्यादि द्वारा प्राकट्य होता है। इस प्रकार 'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थ का अभेद सिद्ध होता है।

5.6.4. तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा-शक्ति का निराकरण

तत्त्वमसि महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में लक्षणा का खण्डन करते हुए कहा गया है कि जैसे- सदंश से आविर्भूत जड़ पदार्थ के सम्बन्ध में ''ऐतदात्म्यम्'' पद में भागत्यागलक्षणा नहीं मानी गयी है, वैसे ही चिदंश से आविर्भूत जीव के सम्बन्ध में भी लक्षणा नहीं माननी चाहिए, क्योंकि समस्त चराचर जगत् ब्रह्म ही है, इस कथन की पुष्टि हेतु जीव की ब्रह्मरूपता निरुपित की गयी है। अत: 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में लक्षणा का परिहार किया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामकृष्णभट्ट जी का कथन है-

---

289 शु.द्वै.मा. श्लोक ११

'तत्र यथा ऐतदात्म्यमिति सदंशे न भागत्यागलक्षणा, तथोत्तरत्रापि चिदंशे न भागत्यागलक्षणा। ब्रह्मवाक्यत्वात्तदेकदेशस्तत्त्वमसीति केवलं जीवब्रह्मणोरैक्यं न बोधयति, वाक्यभेदप्रसङ्गाद् उपक्रमविरोधाच्चेति सर्वं श्रीमदाचार्यचरणैरुक्तम्। एवञ्च "उपक्रमोपसंहारे योऽर्थस्तु प्रतिपद्यते स एवोत्तरपक्ष: स्यात् पूर्वपक्षस्ततोऽन्यथा" इत्यभियुक्तोक्तेरुपक्रमविरोधेन लक्षणा नाङ्गीकार्येत्यर्थ:।'[290]

जैसे- *"ऐदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"(छा.उ. ६/८/७)* इस मन्त्र के पूर्वार्ध "ऐदात्म्यम्" के सदंश में भागत्यागलक्षणा नहीं है, वैसे ही उत्तरार्ध "तत्त्वमसि" के चिदंश भाग में भी भागत्यागलक्षणा नहीं है। "तत्त्वमसि" के ब्रह्मवाक्य होने से एवं तत्सम्बद्ध मन्त्र का एक भाग होने के कारण केवल जीवब्रह्मैक्य का ही बोध नहीं कराता, क्योंकि केवल जीवब्रह्मैक्य रूप अर्थ स्वीकार करने पर वाक्यभेद एवं उपक्रमोपसंहार में विरोध का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। अत: आचार्य द्वारा 'सर्वं सत्यम्' कहकर जीव-जगत् की सत्यता स्वीकार करते हुए अंशांशि रूप में अभेद का कथन किया गया है। इस प्रकार उपक्रम-उपसंहार द्वारा जिस अर्थ का प्रतिपादन किया गया है, वह उत्तरपक्ष (सिद्धान्तपक्ष) एवं इसके विपरीत जगत् सम्बन्धी असत्यत्व, मिथ्यात्व रूप पूर्वपक्ष है।

यहाँ पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित 'उपक्रम-उपसंहार' का संक्षिप्त परिचय द्रष्टव्य है-

उपक्रमोपसंहार- किसी प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ का उस प्रकरण के प्रारम्भ में उपपादन करना 'उपक्रम' और अन्त में उपस्थापन करना 'उपसंहार' कहलाता है। छान्दोग्य उपनिषद् के छठे अध्याय में प्रकरण के द्वारा प्रतिपाद्य अद्वितीय ब्रह्मरूप वस्तु का "एकमेवाद्वितीयम्" (छा.उ.६/२/१) सृष्टि से पूर्व एकमात्र अद्वितीय तत्त्व सत् रूप में विद्यमान था। इस श्रुतिवाक्य द्वारा 'उपक्रम' एवं "ऐदात्म्यमिदँ सर्वम्" (छा.उ.६/८/७) अर्थात् यह सम्पूर्ण जगत् सत्सञ्ज्ञक आत्मा से आत्मवान् है। इस श्रुतिवाक्य द्वारा जगत् की सत्यता का प्रतिपादन करते हुए प्रकरण का 'उपसंहार' किया गया है।

इस प्रकार श्रुतिवाक्य द्वारा जगत् के सत्सञ्ज्ञकत्व को स्वीकार करते हुए भी पूर्वपक्ष (शाङ्कर वेदान्त) द्वारा जगत् की असत्यता और मिथ्यात्व का प्रतिपादन करने से 'उपक्रम-उपसंहार' में विरोध उपस्थित होता है। अत: इस विरोध के परिहार हेतु भाष्यकार आचार्य वल्लभ का कथन है- *'न वास्मिन्नपि सूत्रे मिथ्यात्वार्थ: सम्भवति। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमबाधात् प्रकरणविरोधाच्च।'*[291] अर्थात् जगन्मिथ्यात्व स्वीकार करने पर एक मूल सत्ता (शुद्ध-अद्वैत) के ज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा बाधित होने से 'उपक्रम-उपसंहार' में विरोध एवं प्रकरणविरोध उपस्थित होता है। अत: इन कारणों से शुद्धाद्वैत-चिन्तन में जगन्मिथ्यात्व का पूर्णत: निराकरण

---

290 वही, प्र.व्या. पृ. १८

291 ब्र.सू.अ.भा. २/१/१४

किया गया है। इसी क्रम में भाष्यकार के मत का अनुशरण करते हुए 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ के 'प्रकाशव्याख्याकार' आचार्य रामकृष्णभट्ट जी द्वारा 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में लक्षणा का निराकरण करते हुए जगत् की सदात्मकता[292] एवं परब्रह्म के साथ उसकी अभेदात्मकता[293] का प्रतिपादन किया गया है।

5.6.5. तत् एवं त्वं पदों के मध्य सम्बन्ध

5.6.5.1. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

वल्लभाचार्य ने जीव और ईश्वर के बीच अंशांशिभावसम्बन्ध माना है। मध्व-दर्शन में भी अंशांशिभाव सम्बन्ध बताया गया है, किन्तु वहाँ जीवों की सत्ता ईश्वर से पूर्णत: भिन्न है, जबकि वल्लभ-वेदान्त में *'जीवो नाम ब्रह्मणो अंश:।'*[294] के अनुसार जीव ईश्वर का अंश होने के कारण ईश्वर से अभिन्न है। जीव-ब्रह्म की अभिन्नता को भाष्यकार 'अग्निविस्फुलिङ्ग-दृष्टान्त' द्वारा बताते हैं-

विस्फुलिङ्गा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गता: ।
सदंशेन जडा: पूर्वं चिदंशेनेतरे अपि ॥[295]

अर्थात् जैसे- अग्नि से नाना विस्फुलिङ्ग आविर्भूत होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के सदंश से जड़ात्मक जगत् और चिदंश से नाना प्रकार के जीवों का आविर्भाव हुआ। जैसे- उद्भूत हुए विस्फुलिङ्गों में अग्नि का दाहकत्व 'अंश' रूप में विद्यमान होने से अग्नि से उनका अभेद है, वैसे ही ब्रह्म के सदंश एवं चिदंश से आविर्भूत हुए जगत्-जीव की 'अंश' रूप में ब्रह्म से अभिन्नता सिद्ध होती है। अत: वल्लभ-मत में तादात्म्यरूप-अद्वैत को स्वीकार किया गया है।

इसी क्रम में 'अंश-अंशी भाव' द्वारा यह बताया गया है कि प्रलय और मोक्ष काल में जो कारणरूप एक सत्ता है, उसी में कार्यरूप अनेकात्मक सत्ता समाहित हो जाती है। वल्लभ-दर्शन के मुख्य स्रोत ग्रन्थ उपनिषद् और भागवत-पुराण है। अत: सृष्टि की अभेदपरक व्याख्या के सन्दर्भ में भागवत-पुराण को उद्धृत करते हुए कहा गया है- *'सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषसरसा:।'*[296] अर्थात् जैसे- नाना प्रकार के पुष्पों के रस अपने नामरूप का परित्याग

---

292 *'ब्रह्मण आधिभौतिकस्वरूपं जगत्, तेन ब्रह्मजगती अभिन्ने।'* (शु.द्वै.मा.उपोद्घात)

293 *'ब्रह्म जगद्रूपेण विपरिणम्य तदनन्यतया विविधलीलां करोति।'* (वही)

294 ब्र.सू.अ.भा. २/३/४३

295 वही.

296 कार्यकारणभावमीमांसा, पृ. ४०

करते हुए मधुरूप में परिणत हो जाते हैं तथा जैसे- नदी सागर में विलीन हो जाती है, किन्तु उस अवस्था में नामरूप का परित्याग होने पर भी सत्तारूप में उसका जल तो विद्यमान रहता ही है, हम उसमें गङ्गा, यमुनादि के रूप में भेद नहीं कर पाते। उसी प्रकार प्रलय व मोक्ष काल में अंशरूप जीव-जगत् परमात्मा (अंशी) का सानिध्य लाभ करते हुए विद्यमान रहते हैं, किन्तु हम जीव-जगत् रूप में परमात्मा से उसका भेद नहीं कर पाते। अत: 'अंश' रूप में 'सत्' होने के कारण सृष्टि-प्रलय-मोक्ष सभी अवस्थाओं में जीव-जगत् की सत्ता व्यक्त-अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती है। 'अंश-अंशी भाव' के सम्बन्ध में 'प्रकाशव्याख्या' में कहा गया है- *''अंशो नानाव्यपदेशात्'' इति व्याससूत्राद् अंश:। अर्थस्तु-जीवो ब्रह्मण: अंश:, कुत: ? नानाव्यपदेशात्। क्वचित् ब्रह्मत्वेन क्वचिदज्ञत्वेन क्वचिदीशितव्यत्वेनाऽणुत्वेन व्यापकत्वेन निरूपणादेकस्यैव विरुद्धधर्माश्रियत्वं ब्रह्मातिरिक्तस्य न सम्भवति। अतो जीवो ब्रह्मांश:। "ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:" इति गीतावाक्यत:।'*[297]

''अंशो नानाव्यपदेशात्''(ब्रह्मसूत्र,२/३/४३) द्वारा जीव को ब्रह्म का अंश बताया गया है और इसमें हेतु दिया गया है- 'नानाव्यपदेशात्' अर्थात् उस ब्रह्म का नाना प्रकार से व्यपदेश होने के कारण जीव को उसका 'अंश' माना गया है। कहीं ब्रह्मत्व रूप में, कहीं अज्ञत्व रूप में, कहीं ईशितव्यत्व रूप में, कहीं अणुत्व रूप में और कहीं व्यापकत्व रूप में निरूपण होने से एक ही सत्ता का विरुद्ध धर्माश्रियत्व ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य सत्ता में सम्भव नहीं है। अत: इस कारण से जीव को ब्रह्म का 'अंश' माना गया है और इसी भाव का प्रतिपादन गीता में भी किया गया है।

5.6.5.2. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

'कारण-कार्य भाव' के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाये तो इसको नैयायिक भी मानते हैं और आचार्य वल्लभ भी इसके द्वारा जगत् की व्याख्या करते हैं। नैयायिक 'अवयव-अवयवी' के रूप में तथा आचार्य वल्लभ 'अंश-अंशी' के रूप में स्वीकार करते हैं। दोनों में भेद यह है कि 'अवयव-अवयवी' के मध्य 'समवाय-सम्बन्ध' होता है, जबकि 'अंश-अंशी' के मध्य 'तादात्म्य-सम्बन्ध' विवक्षित है। अत: वल्लभ-दर्शन में 'अंश-अंशी' के प्रारूप में कारणता और कार्यता का विधान होता है, इसलिए भाष्यकार के मत में 'कारणकार्यतादात्म्य' ही शुद्धाद्वैत का श्रुतिसम्मत पक्ष है-*'कार्यस्य कारणानन्यत्वम्।'*[298] कारण-कार्य के अनन्यत्व का प्रतिपादन 'तदनन्यत्वमारम्भण-शब्दादिभ्य:'(ब्र.सू.२/१/१४) पर उपलब्ध 'भाष्यप्रकाश' में भी किया गया है- *'इदं सर्वं यदयमात्मा' 'सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मन: सर्वं वेद' इत्यादिभिश्च कार्यस्य कारणाभिन्नत्वमेव वाक्यार्थो।'*

---

297 शु.द्वै.मा.प्र.व्या. पृ. ९

298 ब्र.सू.अ.भा. २/१/१४

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के क्रम में *'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा तत् त्वम् असि।'* श्रुतिवाक्य की व्याख्या करते हुए आचार्य श्याम मनोहर जी का कथन है कि श्रुतिवाक्य के पूर्वार्ध में 'कारण-कार्य भाव' का तादात्म्य है और उत्तरार्ध में 'अंशांशि का तादात्म्य' है, क्योंकि *'स य एषो अणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वं (इदं परिदृश्यमानं जगत्) तत् सत्यम् स आत्मा तत् त्वम् असि।'* श्रुतिवाक्य के आधार पर 'तत्त्वमसि' का अर्थ होता है- *'ऐतदात्म्यं त्वम् असि।'* इस अर्थ में अंशांशिभाव का तादात्म्य कहा गया है।

वल्लभ-वेदान्त में 'अंशांशिभाव' और 'कारण-कार्य भाव' में सूक्ष्म भेद बताया गया है। जहाँ कारणरूप ब्रह्म से पृथक् होते हुए अंश में विशेष नाम या विशेष रूप का संयोजन किया जाये, वहाँ कारण-कार्य भाव अभिप्रेत है और जहाँ अंश में विशेष नाम या विशेष रूप का संयोजन न हो, केवल अंशता मात्र हो, वहाँ अंशांशि का तादात्म्य होता है- इस कथन के आधार पर चिदंश में विशेष नाम-रूप न होने के कारण केवल 'अंशांशिभाव' है। जड़ जगत् में नाम-रूप दोनों प्रकट होते हैं, अत: नाम-रूप से संयुक्त होने से इसमें 'कारण-कार्य भाव' माना गया है। इस विवेचन के आधार पर 'तत्त्वमसि' का अर्थ है– *'त्वमपि तदात्मको असि, ब्रह्मात्मको असि'* यह वल्लभ-वेदान्त का अभिप्रेतार्थ है।

इस चिन्तन में कारण-कार्य भाव मीमांसा का मूल आधार 'ब्रह्मवाद' माना गया है, क्योंकि *"तदात्मानं स्वयम् अकुरुत्"* इत्यादि श्रुतिवाक्य ब्रह्म में ही कर्मकर्तृभाव का विधान करते हैं। कारण के स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है- *'ब्रह्म वा इदमग्रमासीत्' 'तद् आत्मानमेव अवेद्' तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्'* अर्थात् सृष्टि से पूर्व एकमात्र जगत्कारणरूप ब्रह्म की ही सत्ता विद्यमान थी, उस सत्ता को ही परम्परा में चैतन्य स्वरूप आत्मा के रूप में अभिहित किया गया है। वही शुद्ध चैतन्य नामरूप द्वारा जीव-जगत् रूप में अभिव्यक्त हुआ है- *'सर्वम् अभवत् नाम संवादविवादजनिका मतिरपि ब्रह्मैव अभवत्।'* इस आधार पर स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि चराचर जीव-जगत् ब्रह्मात्मक है, ब्रह्म कण-कण में सर्वत्र अनुस्यूत है।

कारण-कार्य भाव के सम्बन्ध में प्रो.रा.ताताचार्य का कथन है- *'प्रलयकालेऽपि कार्यं यथा मृदि घट: पूर्वमेव विद्यमान: आविर्भवति कारणव्यापारेण, तद्वत् प्रलयकालेऽपि जगद्रूपेण कार्यं तिष्ठति, परन्तु नामरूपाभ्यां तत्र व्याकरणं नास्ति।'*[299] अर्थात् जैसे कार्यरूप घट अभिव्यक्ति से पूर्व मृत्तिका में 'सत्' रूप में विद्यमान रहता है तथा कारण के व्यापार से उसका आविर्भाव होता है, वैसे ही प्रलयकाल में भी कार्यरूप जगत् 'सत्' रूप में विद्यमान रहता है, किन्तु नामरूप द्वारा उसका कथन नहीं होता है। इसी क्रम में आचार्य श्याम मनोहर जी का कथन है- *'यदा अंशी सर्वाणि नामानि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तदा कार्यकारणभावस्य पार्थक्यं न*

---

299 वही.

भवति। यदा सदाद्यंशा: तत्तन्नामवन्तो भवन्ति, "सर्वाणि रूपाणि विचिन्त्य धीर: नामानि कृत्वाऽभिवदन् यदास्ते" इति श्रुते: तदा कार्यकारणभावो प्रकटीभवति।'[300]

इसी क्रम में 'कारण-कार्य भाव' के तादात्म्य का प्रतिपादन करते हुए 'शुद्धाद्वैतमार्तण्ड' में कहा गया है-

कार्यरूपेण भेदो हि न भेद: कारणात्मना।
भेदसह्यस्त्वभेदोऽत्र तादात्म्यं परिकीर्तितम्॥[301]

अर्थात् कार्यरूपेण भेद होने पर भी कारणात्मना अभेद होने के कारण यहाँ भेदसहिष्णु अभेदरूप-तादात्म्य माना गया है। शुद्धाद्वैत-चिन्तन में न केवल कार्य-कारण का तादात्म्य, अपितु 'अंशांशि-तादात्म्य' और 'धर्मधर्मि का तादात्म्य' भी स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में "तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:" (ब्र.सू.२/१/१४) में 'अंशांशि-तादात्म्य' एवं "अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्ते:" (ब्र.सू.१/२/२१) अधिकरण में 'धर्म-धर्मिन् का तादात्म्य' माना गया है।

इस प्रकार वल्लभ-वेदान्त में सृष्टि के सन्दर्भ में 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के मध्य 'अंश-अंशी' 'धर्म-धर्मिन्' एवं 'कारण-कार्य' भाव का तादात्म्य मानते हुए 'अद्वैत' का प्रतिपादन किया गया है।

5.7. अविभागाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

इस-चिन्तन के प्रमुख आचार्य विज्ञानभिक्षु हैं। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य विज्ञानभिक्षु का भाष्य 'विज्ञानामृत' नाम से ख्याति प्राप्त है। अविभाग के द्वारा जीव और ब्रह्म में अभेद मानने के कारण इनका दार्शनिक सिद्धान्त 'अविभागाद्वैत' के रूप में दर्शन जगत् में प्रतिष्ठित है। 'अविभाग' को व्याख्यायित करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'अविभागश्च-आधारतावत् स्वरूपसम्बन्धविशेषोऽत्यन्तसंमिश्रणरूपो दुग्धजलाद्येकताप्रत्ययनियामक:।'*[302] अर्थात् दुग्ध-जल आदि एकता के नियामक अत्यन्त समिश्रण रूप आधारता के समान ही स्वरूप-सम्बन्ध विशेष को 'अविभाग' कहा जाता है। इस-चिन्तन में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म ही एक अद्वैत-तत्त्व है। जीवेश्वर के सम्बन्ध में भेदाभेद स्वीकार करने वाले आचार्य विज्ञानभिक्षु के अनुसार 'भेद' विभागरूप तथा 'अभेद' अविभागरूप है। जीव और जगत्, प्रलय व मोक्ष काल में आधाराधेय भाव से ब्रह्म में अविभक्त होकर अन्तर्लीन रहते हैं। विभाग सर्ग-काल में

300 वही, पृ. ४०-४१

301 शु.द्वै. श्लोक, ३२

302 ब्र.सू.वि.मृ.भा. १/१/२

रहने के कारण अल्प है, जबकि अविभाग प्रलय व मोक्ष काल में सदा रहने के कारण पारमार्थिक है, किन्तु प्रलय व मोक्ष काल में जीव और ब्रह्म का तथा जगत् और ब्रह्म का विभाग न होते हुए भी भेद तो रहता ही है। विभागाविभाग[303] रूप भेदाभेद सर्ग और प्रलय रूप भिन्न-भिन्न काल में होते हैं, अत: इसमें परस्पर किसी प्रकार का विरोध उत्पन्न नहीं होता। आचार्य विज्ञानभिक्षु जीव, जगत् और ब्रह्म के स्वाभाविक 'भेद'[304] के आधार पर इन तीनों की वास्तविक सत्ता (नित्यता) को स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार ब्रह्म की सत्ता पारमार्थिक एवं लयशून्य है, जबकि जीव की सत्ता ब्रह्मतुल्य होते हुए भी लयता[305] को प्राप्त होती है। लयत्व की अवस्था में ब्रह्म में अन्तर्लीन होते हुए भी नित्य होने के कारण उसकी सत्ता बनी रहती है, इसीलिए इस चिन्तन में प्रलय और मोक्ष काल में जीव की जीवत्व रूप में सत्ता होने पर भी दोनों (जीव-ब्रह्म) की स्थिति अविभाग रूप में मानी गयी है, अत: इस रूप में 'अद्वैत-सिद्धान्त' से कोई विरोध नहीं है।[306]

5.7.1. अविभागाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में आचार्य विज्ञानभिक्षु का कथन है- *'अविद्यानिवर्तकतया-ऽभ्यर्हितत्वेन बाधकाभावे सर्वत्रैवाभेदवाक्येषु ब्रह्मात्मतापरत्वस्यौत्सर्गिकत्वात्।'*[307] अर्थात् तत्त्वमसि महावाक्य द्वारा अज्ञान रूपी बन्धन की परिसमाप्ति होने पर शुद्ध अन्त:करण में जीवेश्वर के सादृश्य विषयक अविभक्त प्रतीति होती है। भिक्षु मत में विभाग और अविभाग ब्रह्म और जीव के मध्य सम्बन्ध को द्योतित करता है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य अखण्ड चैतन्य का

---

303 यहाँ 'विभाग' का अर्थ है- 'लक्षणान्यत्व' अथवा 'अभिव्यक्तधर्मभेद' तथा 'अविभाग' का अर्थ है- 'लक्षणानन्यत्व'- *'अविभागो हि लक्षणानन्यत्वम् अभिव्यक्तधर्मभेदाभाव इति।'* (वही,३/२/२८)

304 जीव-ब्रह्म में वैधर्म्य-लक्षण भेद न होने के कारण जीव भी ब्रह्म के समान ही 'अंश' रूप में चिन्मात्र है। जीव की चिन्मात्रता को दीपक की प्रकाशरूपता के दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है-

यथा दीप: प्रकाशात्मा ह्रस्वो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् पुरुषं सर्वजन्तुषु॥ (वही,२/३/५०)

दीपक छोटा हो या बड़ा, वह प्रकाशात्मा ही होता है, इसी प्रकार जीव भले ही ब्रह्म का अंश है, वह ब्रह्म के समान ही चिन्मात्र है। ज्ञानात्मा पुरुष सभी जीवों में अनुस्यूत है। अत: इस आधार पर जीव का ब्रह्म से भेद होने पर भी 'अविभाग' कहा गया है।

305 यहाँ लय का अर्थ 'विनाश' नहीं है, अपितु 'साम्य' है। साम्यकथन दो में ही हो सकता है, एक में नहीं।

306 *'यथा च प्रलये सूक्ष्मरूपेण ब्रह्मचिन्मात्रे विलीय जीवादीनामवस्थानेऽपि नाद्वैतहानिस्तथोक्तं समन्वयसूत्रे।'* (वही,२/१/१४)

307 वही, १/१/२

बोधक है- इस मत का निराकरण करते हुए भाष्यकार का कथन है- *''तत्त्वमसि'' "अहं ब्रह्मास्मि" इत्येवंविधान्येव वेदान्तमहावाक्यानि च न जीवब्रह्माभेदं बोधयन्ति। नाप्येतेषु वाक्येषु त्वमहंशब्दार्थो जीवः, किन्तु सन्धानान्तर्गतस्य षड्विंशतितत्त्वस्य मध्ये कोऽहंशब्दार्थ इत्याकाङ्क्षायां प्रवृत्ततया 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यानि ब्रह्मोदिश्य त्वमहंशब्दार्थत्वं विदधति, को घटः? कम्बुग्रीवादिमान् घट इत्यादिवाक्यवत्। तदनन्तरमेव च शिष्यस्त्वंमहंशब्दार्थम-वधारयति।'*[308]

अर्थात् ''तत्त्वमसि'' "अहं ब्रह्मास्मि" इस प्रकार के महावाक्य जीवब्रह्म के अखण्डार्थत्व का बोध नहीं कराते और न ही इन श्रुतिवाक्यों में 'त्वम्' 'अहं' शब्दार्थ विषयक जीव का बोध होता है, अपितु ३६ तत्त्वों के मध्य 'कोऽहं' (मैं कौन हूँ) इस रूप में स्वस्वरूप विषयक अनुसंधान की जिज्ञासा होने पर 'तत्त्वमस्यादि' श्रुतिवाक्य ब्रह्म को उद्देश्य करके 'तुम ही मैं हूँ' इस अर्थ में त्वं अहं शब्दार्थ के भाव का विधान करते हैं। लौकिक दृष्टान्त द्वारा इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए भाष्यकार का कथन है कि जिस प्रकार लोक में 'को घटः'? इस प्रश्न के समाधान हेतु 'कम्बुग्रीवादिमान् घटः' इस रूप में लक्षण द्वारा घट का अभिधान किया जाता है, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा 'तुम ही मैं हूँ' इस रूप में 'ब्रह्म' को उद्देश्य करके 'अहं' का अभिधान किया जाता है। इस अर्थ में जीव-ब्रह्म का अभेद भाष्यकार को अभिप्रेत है। इसी सन्दर्भ में 'अविभागो वचनात्' (ब्र.सू.४/२/१६) में भाष्यकार का कथन है- *'आकाशे वायोरिवाविलक्षणा-नन्यत्वमेव सम्पत्तिः न त्वेकत्वं, भिन्नयोरखण्डतारूपैक्यासम्भवात्। नापि विनाशो गतिश्रवणात्, अत्र प्रमाणमाह- वचनादिति। "तेजः परस्यां देवताया" मित्यस्याव्यवधानेना-विभागस्यैव मधुसमुद्रादिदृष्टान्ते श्रुत्या स्वयं वचनात्। ''यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाँ रसान्समवहारमेकताँ रसं गमयन्ति। ते तथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुस्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति। त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तत्तदा भवन्ति। स य एषोऽणिमैतिदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो'' विद्यादिभिरित्यर्थः।'*[309]

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के तात्पर्य-निश्चय के सम्बन्ध में जीव और ब्रह्म के अनन्यत्व का प्रतिपादन कर जीवब्रह्मैक्य रूप अखण्डता का निराकरण करते हुए आकाश में वायु के समान जीव और ब्रह्म का अविलक्षण रूप अनन्यत्व ही भाष्यकार को अभिप्रेत है, न कि एकत्व, क्योंकि भिन्न दो तत्त्वों का अखण्डता रूप ऐक्य सम्भव न होने से तथा जीव की सत्ता वास्तविक (नित्य) है, अतः उसका विनाश सम्भव न होने से अखण्डरूप जीवब्रह्मैक्य स्वीकार्य नहीं है, इसीलिए

---

308 वही.

309 वही, ४/२/१६

भाष्यकार द्वारा "अनन्यत्वमेव सम्पत्ति:, न त्वेकत्वम्" कहा गया। इस सम्बन्ध में "तेज: परस्यां देवतायां" श्रुतिप्रमाण को उद्धृत करते हुए भाष्यकार का कथन है कि व्यवधान रहित इस अविभाग का ही मधुसमुद्रादि दृष्टान्त में श्रुति द्वारा स्वयं उपदिष्ट होने से जीव-ब्रह्म का अनन्यत्व सिद्ध होता है।

इसी क्रम में छान्दोग्य श्रुति को उद्धृत करते हुए आचार्य विज्ञानभिक्षु का अभिमत है कि मधु निष्पन्न करती हुई मधुमक्खियाँ अनेक दिशाओं के वृक्षों से फूलों का रस लाकर एकता को प्राप्त कराती हैं तथा जिस प्रकार उस मधु रूपी एकत्व में वे इस प्रकार का विवेक (भेद) नहीं कर पाते कि 'मैं इस वृक्ष का रस हूँ और मैं इस वृक्ष का', हे सोम्य ! ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति की अवस्था में सभी जीव अपने सत् स्वरूप में जाकर एकीभाव को प्राप्त हो जाते हैं। उस सत् को प्राप्त कर यह नहीं जानते कि हम सत् को प्राप्त हो गये। सुषुप्तावस्था में जाने से पूर्व व्याघ्र, सिंह, शूकर, कीट, पतङ्गादि जिस-जिस रूप में होते हैं, जगकर पुन: उसी रूप में आ जाते हैं। अत: वह जो सत्संज्ञक अणिमा है, उसी से सारा जगत् आत्मवान् है। वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतो ! वही तू है। इस अर्थ में जीव-ब्रह्म के 'अविभाग रूप अनन्यत्व' का श्रुतिवचन के साथ एकवाक्यता होती है।

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के सन्दर्भ में भेद द्वारा 'सत्' का ही सोपकरण जीवों की पृथक्-अवृत्तिता रूप अविभागलक्षण स्व (आत्मा) में ब्रह्म का समिश्रण रूप अनन्यत्व दृष्टान्त द्वारा अभिहित है। "ते यथा तत्र विवेकं न लभन्ते" श्रुतिवाक्य द्वारा आचार्य विज्ञानभिक्षु का मत है कि जीवों में परस्पर भिन्नता होने पर भी अविभाग की अवस्था में भिन्नता का विवेक नहीं होता, एकमात्र अनन्यत्व रूप अविभाग की प्रतीति होती है।[310] इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में शंका रूप में प्रश्न उपस्थापित कर उसका निराकरण करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'नन्वेवं तत्त्वमसीति वचनमपि स्वस्मिन् श्रवणपरमेव स्यादिति कथं ब्रह्मण आत्मत्वसिस्द्धिरिति चेन्न, ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्यनेनैव स्वस्मिन् श्रवणस्य (संमिश्रणस्य) प्राप्ततया तत्त्वमित्यस्य ब्रह्मात्मतापरत्वावगमात्। स आत्मेत्यनेन च साक्षितालक्षणमात्मत्वमुक्तम् तत्त्वमसीत्यनेन तु सम्बोध्यसंघाताद्यध्यक्षत्वम्।'*[311]

अर्थात् स्व में पर का ही यदि समिश्रण हो तो भी दोनों में भेद होने से कैसे ब्रह्म की आत्मत्वसिद्धि सम्भव हो सकेगी ? इस प्रकार की शंका की जाये तो वह उचित नहीं है, क्योंकि "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" इस श्रुतिवाक्य से ही स्व (आत्मा) में पर (ब्रह्म) के अभिन्नत्व की प्राप्ति द्वारा 'तत्', 'त्वम्'

---

310 *'अत्र हि वाक्ये भेदेन सतामेव सोपकरणजीवानां पृथगवृत्तितालक्षणमविभागं स्वस्मिन् श्रवणमात्रं (समिश्रणमात्रं) दृष्टान्तानुसारेण प्रतीयते, "ते यथा तत्र विवेकं न लभन्त" इति च स्फुटमेव अविवेकमात्र रूपमैक्यं प्रतीयत इति।'* (वही, ४/२/१६)

311 वही.

के ब्रह्मात्मतापरत्व का बोध होने से पूर्वोक्त 'कथं ब्रह्मण आत्मत्वसिद्धि'? इस शंका का परिहार हो जाता है। इसी क्रम में ''स आत्मा'' इस श्रुतिवचन के द्वारा साक्षितारूप आत्मत्वलक्षण कहा गया है। ''तत्त्वमसि'' इस श्रुतिवाक्य द्वारा सम्बोध्य संघातादिरूप अध्यक्षत्व का विधान किया गया है। इस प्रकार अविद्या निवर्तक 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्मात्मता (जीव और ब्रह्म की अनन्यता) की प्रतीति ही अविभागरूप सिद्धान्त द्वारा अभिप्रेत है।[312] 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अविभागार्थक होने पर भी "एष त आत्मा स म आत्मेति विद्यात्" इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्म में सभी वस्तुओं का आत्मत्व सिद्ध होता है।[313] इस प्रकार इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का तात्पर्य अखण्डतापरत्व में नहीं है, अपितु श्रौतदृष्टान्त एवं सूत्र से यह उपदिष्ट है कि 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य एकमात्र अविभागलक्षण रूप एकात्म्य का ही उपपादक (बोधक) है, इसलिए मोक्षावस्था में भी भिन्न जीव और ब्रह्म का अविभागरूप आत्मैक्य कहा गया है।[314] अत: 'अविभागो वचनात्'(ब्र.सू.४/२/१६) सूत्र से जीव और ब्रह्म का अविभागरूप ही सिद्ध होता है।[315]

अविभागाद्वैत-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में ब्रह्म और जीव के मध्य 'अग्निविस्फुलिङ्ग' दृष्टान्त द्वारा भेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'अग्निस्फुलिङ्गादिष्वप्यवयवावयविनोरन्योन्याभावलक्षणो भेद: अविभागलक्षण एव चाभेद इति जीवब्रह्मणो: साम्यमिति।'*[316] अर्थात् 'अग्निविस्फुलिङ्गादि' दृष्टान्त में भी अवयव-

---

312 *'अविद्यानिवर्तकब्रह्मात्मताप्रतित्यर्थमेवाविभागरूपसंपत्त्यादि बोध्यते।'* (वही)

313 *'तत्त्वमसि' वाक्यस्याविभागार्थकत्वेऽपि "एष त आत्मा स म आत्मेति विद्यादि" त्यादिश्रुत्या ब्रह्मणि सर्ववस्तूनामात्मत्वं सेत्स्यत्येवेति।'* (वही)

314 *'एतेन तत्त्वमसिवाक्यस्याखण्डतापरत्वं न भवतीत्यवधारितं भवति, श्रौतदृष्टान्तात् सूत्राच्चाविभाग-लक्षणैकात्म्यस्यैव 'तत्त्वमसि' वाक्यार्थोपपादकत्वावगमादिति। अतएव मोक्षावस्थायां भिन्नयोर्जीवब्रह्मणोर-विभागरूपमात्मैक्यमुक्तम्।'* (वही)

315 *'अतस्तदेकवाक्यतया सर्वलक्षणैकस्याविभागरूपतावधारणीया। तस्माज्जीवब्रह्मणोरविभागरूप एवाविभाग: (इति अविभाग) सूत्रात् सिद्धम्।'* (वही)

316 वही, १/१/२

अवयवी का अन्योन्याभाव[317] लक्षण वाला 'भेद'[318] तथा अविभाग लक्षण वाला 'अभेद' है।[319] अत: इस रूप में जीव-ब्रह्म का साम्य प्रतिपादित किया गया है।

जीवेश्वर के मध्य विरूद्ध प्रतीत होने वाले 'भेद-अभेद' की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है? इस समस्या का परिहार करते हुए 'जन्माद्यस्य यत:'[320] सूत्र में आचार्य विज्ञानभिक्षु का कथन है- *'अंशांशिनोश्च भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ कालभेदेनाविरूद्धौ। अन्योन्याभावश्च जीवब्रह्मणोरात्यन्तिक एव, तथा शक्तिशक्तिमदविभागोऽपि नित्य एवेति।'*[321]

अर्थात् अंश-अंशी का विभाग-अविभाग रूप 'भेदाभेद' कालभेद से अविरूद्ध है। अर्थात् परस्पर विरूद्ध प्रतीत होने वाले 'भेद' और 'अभेद' का कालभेद से परिहार हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि सृष्टि काल में जीव, ब्रह्म से पृथक् (विभक्त) तथा प्रलय व मोक्ष दशा में उससे अविभाग- सम्बन्ध से सम्बद्ध रहता है। अन्योन्याभाव वाला जीव-ब्रह्म का 'भेद' आत्यन्तिक (नित्य) है तथा शक्तिशक्तिमद् रूप अविभाग (अभेद) भी नित्य ही है।

इस चिन्तन में जीव-ब्रह्म का भेद वास्तविक होने पर भी आत्माद्वैत सिद्ध होता है, क्योंकि दोनों में अविभाग है। जीव ब्रह्म की अन्तर्लीन शक्ति है, अत: जीव-ब्रह्म का अभेद अविभागलक्षण रूप ही स्वीकार्य है, आत्यन्तिक नहीं।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' विषयक अध्ययन से स्पष्ट होता है कि श्रुतिवाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में भाष्यकार को 'अविभाग रूप भेदाभेद' अभिप्रेत है। इस चिन्तन के अनुसार 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के द्वारा ऋषि ईश्वर और जीव के 'भेदाभेद' को बताना चाहते हैं।

5.7.2. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

इस चिन्तन में 'तत्' एवं 'त्वम्' पद बोध्य ब्रह्म एवं जीव के मध्य 'अधिष्ठेय-अधिष्ठातृ भाव' 'अवयव-अवयवी भाव' 'कारण-कार्य भाव' एवं 'अंश-अंशी भाव' द्वारा व्याख्या करते हुए

---

317 अन्योन्याभाव को 'अभेद- सम्बन्ध' कहते हैं। इसका लक्षण है- *"अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यस्य अभाव: अन्योन्याभाव:' अन्योन्याभावस्थले प्रतियोगिपदे अनुयोगिपदे च प्रथमा भवति।"* (नव्यन्यायभाषाप्रदीप, पृ. १०५)

318 यहाँ अन्योन्याभाव लक्षण वाला 'भेद' कहकर भाष्यकार द्वारा जीवेश्वर के मध्य पूर्णत: भेद का निराकरण किया गया है, क्योंकि दोनों ही चैतन्य स्वरूप वाले हैं। अत: उनमें स्वरूप भेद न होने के कारण अन्योन्याभाव लक्षण वाला 'भेद' कहा गया है।

319 *'अन्योन्याभावलक्षणभेदस्य अविभागलक्षणेनाभेदेनाविरोधात्। विभागाविभागरूपयोरपि भेदाभेदयो: कालभेदेन व्यवहारपरमार्थभेदेन चाविरोधाच्च।'* (ब्र.सू.वि.मृ.भा.२/३/४३)

320 ब्र.सू. १/१/२

321 वही, वि.मृ.भा.

'भेदाभेद' रूप अर्थ में 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का तात्पर्य-निश्चय किया गया है। इस सम्बन्ध में 'कारण-कार्य भाव' द्रष्टव्य है -

5.7.2.1. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

अविभागाद्वैत-चिन्तन में कार्य-कारण सिद्धान्त ब्रह्मकारणता के सिद्धान्त पर आधारित है। भाष्यकार के अनुसार ब्रह्म ही अपनी शक्तियों के माध्यम से सृष्टि का निमित्तोपादान कारण बनता है। उपादान कारण को परिभाषित करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादानसामान्यलक्षण:।'*[322] अर्थात् कार्य को अविभाग रूप से धारण करना ही 'उपादान-कारणता' है। अपनी शक्तियों के कारण ब्रह्म चिन्मात्र होने पर भी अधिष्ठानकारण होने से जगत् का उपादानकारण भी है।[323] भाष्यकार की दृष्टि में जीव और ब्रह्म का भेद पारमार्थिक एवं श्रुतिसम्मत है। इनके अनुसार औपाधिक भेद मिथ्या है तथा अविभागपरक 'अभेद' ही स्वीकार्य है- *'अविभागादिलक्षणाभेदस्य पारमार्थिकतया तत्परत्वमेवोचितम्। औपाधिकभेदस्य तु मिथ्यात्वेन तत्परत्वं नोचितमिति। न चाविभागपरत्वे सति अभेदशब्दे लक्षणाऽस्ति, भिदिर्विदारणे इति विभागेऽपि भिदिधातोरनुशासनात्।'*[324]
पारमार्थिक रूप से अविभाग लक्षण वाले अभेद का तत्परत्व तो उचित है, किन्तु औपाधिक भेद के मिथ्या होने के कारण उसका तत्परत्व उचित नहीं है। यह 'अविभाग' ही अभेदपरक श्रुतिवाक्यों में प्रयुक्त 'अभेद' शब्द का अर्थ है, क्योंकि 'भिद्' धातु विभाग अर्थ में प्रयोग की जाती है तथा यह (अभेद) शब्द उसका लक्ष्यार्थ भी नहीं है। दूसरे शब्दों में 'अभेद' शब्द का अर्थ अविभागपरक करने के लिए लक्षणा की आवश्यकता नहीं होती, यह तो 'अभेद' का वाच्यार्थ ही है। 'भिदिर्विदारणे' इस अनुशासन से भिद् धातु विभागार्थ में भी प्रयुक्त होती है। अत: भेद का अर्थ 'विभाग' और अभेद का अर्थ 'अविभाग' कहा गया है। भाष्यकार के इस मत के अनुसार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्', 'त्वम्' पदों के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में 'अभेद रूप अविभागार्थ' में भी लक्षणा स्वीकार्य नहीं है।

इस चिन्तन में समवायि, असमवायि और निमित्तकारण से विलक्षण ब्रह्मकारणत्व को 'आधारकारणत्व' के रूप में बताया गया है।[325] ब्रह्म की जगत्कारणता के सम्बन्ध कहा गया है- *''जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चे''ति भागवतोपक्रमवाक्येऽपि अन्वयहेतुना ब्रह्मणो*

---

322 वही.

323 *'चिन्मात्रस्यापि ब्रह्मणोऽधिष्ठानत्वेन जगदुपादानत्वमुपपादितम्।'* (वही,पृ.५३)

324 वही, १/१/२

325 *'अस्माभिस्तु समवाय्यसमवायिभ्यामुदासीनं निमित्तकारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधार-कारणत्वमिति।'* (वही)

जगत्कारणत्वमुपपादितम्। प्रलये तत्रैवान्वयात् सर्गकाले च तत एव विभागादस्य जगतो जन्मादि यत: यदुपादानकं तत्सत्यम्।'[326]
अर्थात् "जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्च" इस भागवत वाक्य के द्वारा भी ब्रह्म की जगत् कारणता सिद्ध होती है। प्रलय काल में उसी ब्रह्म में अन्वय होने के कारण तथा सर्गकाल में उसी ब्रह्म से विभक्त होने के कारण जगत् का उपादान ब्रह्म को ही मानना चाहिए। प्रलय और मोक्ष की अवस्था में समस्त कार्य समूह अपने कारण में विलीन हो जाता है।

5.7.2.2. अधिष्ठेय-अधिष्ठातृ भाव सम्बन्ध

आचार्य विज्ञानभिक्षु का अभिमत है कि ब्रह्म 'अधिष्ठान-कारण' के रूप में स्थित होकर सदा जीव-जगत् का उपकार करता है- **'अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति हि।'**[327] 'अधिष्ठान-कारण' ब्रह्म में प्रकृति-पुरुष आदि उसकी अंगभूत शक्तियाँ उससे अविभाग रूप से सम्बद्ध होकर अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती हैं।[328] इन शक्तियों को अपने में धारण करता हुआ ब्रह्म इनका 'अधिष्ठान-कारण' है- *'महदाद्यखिलजगदधिष्ठानकारणत्वं च ब्रह्मण एव।'*[329] प्रकृति महदादि जड़ जगत् के रूप में परिणत होती है, इसलिए वह जगत् का विकारी उपादान-कारण है तथा ब्रह्म प्रकृति का अधिष्ठान होने के कारण ही अविकारी रूप से उपादान-कारण कहा गया है।[330] 'अधिष्ठान-कारण' को परिभाषित करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'तदेवाधिष्ठानकारणं यत्राविभक्तं येनोपष्टब्धं च सदुपादानकारणं कार्याकारेण परिणमते।'*[331] अर्थात् 'अधिष्ठान-कारण' वह है, जिसमें अविभक्त रूप से विद्यमान एवं जिससे उपष्टब्ध उपादान-कारण कार्य के आकार में परिणत होता है। इसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हुए भाष्यकार का कथन है-
'यथा सर्गादौ जलाविभक्ता: पार्थिवसूक्ष्मांशास्तन्मात्राख्या: जलेनैवोपष्टम्भात् पृथिव्याकारेण परिणमन्त: इत्यतो जलं महापृथिव्या अधिष्ठानकारणमिति। तथा चैतादृशकारणत्वमेवा-धिष्ठानकारणत्वमिति मूलकारणत्वमिति चोच्यते।'[332]

---

326 वही, १/१/४

327 वही, १/१/२

328 *'विकाराणां प्रकृतावव्यक्ततयाऽवस्थानं, प्रकृतिपुरुषयोश्च ब्रह्मणि सुषुप्तवन्निर्व्यापारतयाऽवस्थानमिति बोध्यम्।'* (वही, १/१/४)

329 वही, १/१/२

330 *'शक्तिद्वारा ब्रह्मणोऽधिष्ठानकारणत्वं प्रतिपाद्यते।'* (वही, १/४/१)

331 वही, १/१/२

332 वही.

अर्थात् जिस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जल से अविभक्त तन्मात्रा नामक पार्थिव सूक्ष्मांश जल से ही उपष्टब्ध होने के कारण पृथिवी के आकार में परिणत होते हैं, अत: इस आधार पर जल को पृथिवी का 'अधिष्ठान-कारण' बताया गया है। यही बात ब्रह्म की अधिष्ठान-कारणता की भी नियामक है। ब्रह्म को जगत् का 'उपादान-कारण' बताते हुए उसकी अविकारिता के सम्बन्ध में भाष्यकार का कथन है- *'ब्रह्मणश्च स्वाविभक्तप्रकृत्याद्युपष्टम्भकत्वं साक्षितामात्रेणेति जगत्कारणत्वेऽपि न ब्रह्मणो विकारित्वम्। अतएवाविकारिचिन्मात्रत्वेऽपि ब्रह्मणो जगदुपादानत्वं जगदभेदश्चोपपद्यते।'*[333]
अर्थात् ब्रह्म अपने से अविभक्त रूप से विद्यमान प्रकृति का साक्षितामात्र से ही उपष्टम्भक होता है, अत: जगत्-कारण होने पर भी ब्रह्म की विकारिता सिद्ध नहीं होती, इसलिए अविकारी तथा चिन्मात्र होने पर भी ब्रह्म का जगदुपादानकारणत्व एवं जगत् से अभेद युक्ति-युक्त है। ब्रह्म प्रकृति का अधिष्ठान होने के कारण ही अविकारी रूप से उपादान-कारण है, अत: ब्रह्म को जगत् का उपादान-कारण मानने के सम्बन्ध में भाष्यकार का कथन है- *'विकारिकारणवदधिष्ठानकारणस्याप्युपादानत्वव्यवहारात्। कार्याविभागाधारत्वस्यैवोपादान - सामान्यलक्षणत्वात्। ... तत्र समवायसम्बन्धेन यत्राविभागस्तद्विकारिकारणम्। यत्र च कार्यस्य कारणाविभागेनाविभागस्तदधिष्ठानकारणम् , यथा जलं पृथिव्या इति।'*[334]
अर्थात् विकारिकारण के समान अधिष्ठान-कारण भी उपादान-कारण होता है, क्योंकि कार्य को अविभागरूप से धारण करना ही उपादान-कारणता है। जहाँ कार्य का कारण से समवाय-सम्बन्ध से अविभाग होता है, वह विकारी कारण कहलाता है तथा यदि कार्य का कारण से अविभाग होने में कारण ही अविभाग है, वह अधिष्ठान-कारण कहलाता है, जैसे- जल पृथिवी का अधिष्ठान-कारण है। इस दृष्टान्त में पृथिवी साक्षात् ही जल का विकार नहीं है, क्योंकि तन्मात्राओं को भूत प्रकृति स्वीकार किया गया है, स्वयं महाभूतों को नहीं, इसी प्रकार ब्रह्म जगत् का साक्षात् उपादान-कारण नहीं, अपितु प्रकृति के माध्यम से अधिष्ठान-कारणभूत ब्रह्म को उपादान-कारण बताया गया है।

5.7.2.3. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

इस चिन्तन में जीव और ब्रह्म में अखण्डैकात्म्य नहीं, अपितु 'अंश-अंशी भाव' द्वारा अभेद स्वीकार किया गया है। इस क्रम में जीव 'अंशांशि-अविभाग' द्वारा ब्रह्म में उसी प्रकार अन्तर्लीन

---

[333] वही.

[334] वही.

हो जाता है, जैसे- समुद्र में नदी।[335] यहाँ 'लय' से तात्पर्य 'अत्यन्त विनाश' नहीं है, अपितु 'लय' का अर्थ है- विकारों का प्रकृति में अव्यक्त अवस्था में विद्यमान हो जाना।[336]

'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:'(ब्र.सू.२/१/१४) में जीवेश्वर-सम्बन्ध को बताते हुए भाष्यकार का कथन है- *'प्रलये जीवावस्थानं ब्रह्माविभागेनैव संभवति। ... कारणे ब्रह्मणि जीवानामविभागेनावस्थानं सिध्यति। ततश्च सर्गकाले जीवा: पितुरिव पुत्रा विभक्ता भवन्ति'* *"यथाग्ने: क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति एवमेवास्मादात्मन: सर्व एवात्मानो व्युच्चरन्ति।"*[337]

अर्थात् प्रलयकाल में जीव, ब्रह्म से अविभाग रूप से सम्बद्ध रहता है तथा सृष्टि की अवस्था में जीव ब्रह्म से उसी प्रकार 'अंश' रूप में विभक्त होता है, जैसे- पुत्र, पिता का 'अंश' होते हुए भी उससे विभक्त रहता है। जैसे- अग्निपुञ्ज से असंख्य सूक्ष्म विस्फुलिङ्ग (अग्निकण) आविर्भूत होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म रूपी आत्मा से सभी जीव आविर्भूत होते हैं। अत: इस चिन्तन में जीव और ब्रह्म का 'अंशांशि-भाव' पितापुत्रवत्[338] एवं अग्निस्फुलिङ्गवत्[339] माना गया है। 'अंशांशि-भाव' के सम्बन्ध में 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्यमधीयत एके' (ब्र.सू.२/३/४३) में भाष्यकार का कथन है- *'नित्यत्वादिना सजातीयत्वस्योपपादिततया' जीवो ब्रह्मणो अंश: पितुरिव पुत्र:। तथा च पितापुत्रयोरिवाग्निस्फुलिङ्गयोरिव वा विभागेनाभि-व्यक्तिलक्षण: कार्यकारणभाव उपपद्यते।'*[340]

अविभागाद्वैत-चिन्तन में जीव के नित्य होने से एवं ब्रह्म का सजातीय होने से उसे ब्रह्म का 'अंश' माना गया है। जीव, ब्रह्म का 'अंश' वैसे ही है, जैसे-पुत्र, पिता का 'अंश' होता है, अग्निकण (विस्फुलिङ्ग) अग्नि के 'अंश' होते हैं। पिता से पुत्र के समान सर्गकाल में ब्रह्म से विभाग द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होने के कारण जीवेश्वर में 'कार्य-कारण भाव' कहा जाता है।[341] इस चिन्तन में प्रतिपादित 'अंशांशि-भाव' को 'अविभाग लक्षण वाला अभेद' कहा जा सकता है।[342]

---

335 *'कारणे ब्रह्मणि नदीनां समुद्र इव अविभाग:।'* (वही,२/१/१४)

336 *'अत्र लयो नात्यन्तोच्छेद:, किन्तु विकाराणां प्रकृतावव्यक्ततयाऽवस्थानं।'* (वही,१/१/४)

337 वही.

338 *'यथा बहूनां पुत्रादिचेतनानामंशानामेक: पितृचेतनो अंशी योनिरेकैव भवति अविभागात्, तथैव तमेकमेव कारणं ब्रह्मपुरुषं।'* (वही,२/३/४३)

339 *'यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगा: व्युच्चरन्ति।'* (वही,३/२/२८) ... *'यद्यपि जीवा अपि ब्रह्मदेव विभुचिन्मात्ररूपास्तथाप्युपाध्यवच्छेदेनैवाभिव्यक्तपरिच्छिन्नचैतन्यतया विस्फुलिङ्गतुल्या भवन्ति।'* (वही,१/१/२)

340 वही, २/३/४३

341 *'तस्मात् पितापुत्रवदग्निस्फुलिङ्ग-सूर्यतत्किरणादिवच्चैव ब्रह्मजीवयोरंशांशिभावो मन्तव्य:।'* (वही.)

342 *'अग्निस्फुलिङ्गवदंशांश्यभेदोऽप्यविभागलक्षणो वक्ष्यते।'* (वही,१/१/२)

ब्रह्म और जीव का परस्पर 'अंशांशि-भाव' होने के कारण उनमें कारण-कार्य सम्बन्ध भी स्वीकार किया जा सकता है। यह कारण-कार्यत्व अभिव्यक्तिलक्षण वाला है। यहाँ अभिव्यक्ति का तात्पर्य- अपने व्यापार में संलग्न हो जाना मात्र है।[343] इस प्रकार 'अंशांशि-भाव' द्वारा हेतुहेतुमद्भाव सिद्ध हो जाने पर 'ब्रह्म ही सभी जीवों का आत्मा है', भाष्यकार के इस कथन पुष्टि होती है।[344]

जीव एवं ब्रह्म के 'अंशांशि-भाव' के सम्बन्ध में यदि यहाँ शंका रूप में यह प्रश्न उपस्थापित किया जाये कि चैतन्य स्वरूप ब्रह्म तो निरवयव है, अत: उसके 'अंश' कैसे हो सकते हैं ? इस शंका का समाधान करते हुए भाष्यकार का कथन है-

'निरवयवस्य ब्रह्मण: कथं मुख्योंऽश: स्यादिति चेन्न, यथोक्तलक्षणांशत्वस्यावयवत्वाभावेऽपि दर्शनात्। यथा शरीरस्य केशादिरंशो, राशेश्चैकदेशोंऽश:, पितुश्च पुत्र इति। सर्वे जीवा: पितरि पुत्रचेतना इव चिन्मात्रे ब्रह्मणि नित्यसर्वविभासके विषयभासनरूपं स्वलक्षणं विहाय प्रलये लक्षणानन्यत्वं गच्छन्ति। सर्गकाले च तदिच्छया तत एव लब्धचैतन्यफलोपधाना आविर्भवन्ति पितुरिव पुत्रा:। अतो जीवा ब्रह्मांशा भवन्ति। "आत्मा वै जायते पुत्र:" इति श्रुत्या पुत्रे पितुरविभागलक्षणाभेदवज्जीवेऽपि ब्रह्मणोऽविभागलक्षणाभेदस्य "बहुस्यां प्रजायेये" त्यादिश्रुत्या सिद्धेरिति। अतो जीवा ब्रह्मांशा मुख्या एव भवन्ति।'[345]

इस चिन्तन में भाष्यकार को जैसा 'अंशांशि-भाव' अभिष्ट है, उसके लिये 'अंशी' का सावयवत्व अपेक्षित नहीं है। जिस प्रकार केश शरीर का, पुत्र पिता का तथा एक भाग पूर्ण का 'अंश' होता है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म के 'अंश' हैं। सभी जीव प्रलयकाल में नित्यसर्वविभासक परमात्मा में विषयावभासन रूप स्वलक्षण को छोड़कर उसी प्रकार अनन्यत्व को प्राप्त होते हैं, जैसे- पिता में पुत्र चेतना। सर्गकाल में जीव ब्रह्म की इच्छा से उससे ही चैतन्य फलोपधान को प्राप्त करके इस प्रकार आविर्भूत होते हैं, जैसे पिता से पुत्र, इसलिए जीव ब्रह्म का 'अंश' ही है। "आत्मा वै जायते पुत्र:" इस श्रुति के अनुसार पिता-पुत्र के अविभागलक्षणाभेद के समान जीव और ब्रह्म का भी 'अविभाग लक्षण वाला अभेद' ही मान्य है। अत: इस आधार पर जीव की ब्रह्मांशता सिद्ध होती है।

जीव और ब्रह्म के अविभाग रूप अर्थ की सिद्धि हेतु दृष्टान्त-पद्धति का उपयोग करते हुए भाष्यकार का कथन है- *'एकमेव हि तेजोमण्डलमविभागापन्नं सूर्यतत्प्रकाशरूपेण विभक्तं भूत्वा पुनरपि प्रकाशाख्यै: किरणैरविभक्तं भवत्यस्तसमये। अतोऽवगम्यते, अविभक्तस्वभावमभिन्नं*

---

343 *'अभिव्यक्तिश्चात्र स्वव्यापारारूढता।'* (वही,२/३/४३)

344 *'तथा चांशांशिभावेन ब्रह्मजीवयोर्हेतुहेतुमद्भावो जीवानामात्मा ब्रह्मेति च सिद्धम्।'* (वही)

345 वही.

भवति तत्स्वरूपम् विभागस्त्वन्तराले वाचारम्भणमात्रमिति। एवं जीवब्रह्मणोरप्यंशांशिनोः प्रकाशत्वसाम्यादनुमेयम्।'[346]
अर्थात् एक ही अविभक्त सूर्यमण्डल सूर्य और उसकी किरणों के रूप में विभक्त होकर अस्त होते समय उन किरणों को पुन: स्वयं में अन्तर्भूत करके अविभक्त हो जाता है। इसी प्रकार चैतन्यस्वरूप ब्रह्म भी सर्गकाल में विभक्त होकर अनेक चैतन्यस्वरूप जीवों के रूप में अवभाषित होता है तथा प्रलयकाल में वह अपने अंशभूत उन समस्त जीवों को पुन: स्वयं में लीन करके अविभक्त रूप में स्थित रहता है। अत: यह कहा जा सकता है कि अविभाग ही आत्यन्तिक है, विभाग तो बीच में कुछ अन्तराल के लिये ही होता है, अत: वह नाममात्र ही है। इस प्रकार प्रकाशत्व की साम्यता होने से जीव एवं ब्रह्म का 'अंशांशि-भाव' भी सूर्य-तत्किरण के समान मानना चाहिए।

जीवेश्वर की व्याख्या के सन्दर्भ में आचार्य विज्ञानभिक्षु अखण्डता प्रतिपादन एवं उपाधिवाद तथा प्रतिबिम्बवाद को स्वीकार नहीं करते हैं।[347] उनके अनुसार ब्रह्म उपाध्यवच्छिन्न होने के कारण अथवा प्रतिबिम्ब रूप से अनेक जीवों के रूप में भाषित नहीं होता, अपितु जीव सर्गकाल में ब्रह्म के 'अंश' रूप में विभक्त होते हुए अनेकता को प्राप्त होते हैं। औपाधिक भेद का निराकरण करते हुए आचार्य भिक्षु का कथन है- *'सृष्टेः प्रागपीश्वराधिष्ठेयो जीवोऽस्तीत्यवगम्यते। न चायमुपाधिसम्बन्धात् पूर्वमधिष्ठेयाधिष्ठातृभावः।'*[348] अर्थात् सृष्टि से पूर्व भी जीव, ईश्वर से अधिष्ठित रहता है। अत: जीव और ईश्वर के इस 'अधिष्ठेय-अधिष्ठातृ भाव' द्वारा जीवेश्वर के वास्तविक भेद की सत्ता सिद्ध होती है, न कि औपाधिक।

जीवब्रह्मैक्य का निराकरण करते हुए आचार्य भिक्षु का मत है कि अखण्डैकात्मवाद मानने पर बन्धन-मोक्षादि की व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी। इस सम्बन्ध में यदि यह कहा जाये कि उपाधिभेद से बन्धन-मोक्ष की व्यवस्था उपपन्न हो जायेगी, तो वह अनुपयुक्त है। एक ही आत्मा को स्वीकार करने पर सभी उपाधियाँ एक ही आत्मा की होंगी। जैसे- घटाकाश, मठाकाश, कूपाकाश आदि एक ही 'आकाश' के औपाधिक भेद हैं। एक घट के टूट जाने पर भी जैसे अन्य उपाधियों के कारण 'आकाश' उपाधिविशिष्ट ही रहता है, वैसे ही एक उपाधि के नष्ट होने पर भी मोक्ष सम्भव नहीं होगा। इस प्रकार बन्धन-मोक्ष व्यवस्था की सिद्धि के लिए जीवों का नानात्व स्वीकार करना आवश्यक है।[349]

---

346 वही, ३/२/२८

347 *'अविभागलक्षणाभेदप्रतिपादनमेव जीवपर्यन्ताभिमाननिवर्तकब्रह्मात्मताज्ञानहेतुतया महाप्रयोजनं न त्वखण्डता प्रतिपादनं घटाकाशवदंशताप्रतिपादनं च।'* (वही,२/१/४३)

348 वही, २/३/४३

349 द्रष्टव्य – 'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्'(ब्र.सू.३/२/४३) का विज्ञानामृतभाष्य।

दृष्टान्त-पद्धति के माध्यम से जीवेश्वर- सम्बन्ध को बताते हुए विज्ञानभिक्षु का कथन है- *'जलस्य दुग्धे लवणस्य समुद्रे अविभागव्यवहार: ... जीवस्यापि ब्रह्मण्यविभाग:।'*[350] अर्थात् जिस प्रकार जल का दुग्ध से अथवा नमक का समुद्र से अविभाग- सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार का अविभाग जीव और ब्रह्म के मध्य जानना चाहिए। समुद्र-सैन्धव दृष्टान्त द्वारा अविभाग का स्वरूप बताते हुए 'सूक्ष्मन्तु तदहर्त्वात्'(ब्र.सू.१/४/२) में भाष्यकार का कथन है- *'समुद्रविलीनसैन्धववत् सूक्ष्ममर्हत्वात्, अप्रत्यक्षत्वाद्युपपत्तये तथौचित्यादित्यर्थ:। तथा च विलीनावस्थसैन्धवेन समुद्रस्येव साम्यावस्थारूपेण प्रधानादिनाऽपि ब्रह्मणो न द्वैतं किन्त्वैक्यमेव समुद्रसैन्धवयोरिवेति भाव:।'*[351]

अर्थात् जैसे जल में घुले नमक से जल में द्वित्व की आपत्ति नहीं होती, यद्यपि जल और नमक में भेद है, किन्तु अविभागावस्था में वे एक ही होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में लयता को प्राप्त हुए जीव-जगत् से ब्रह्म में भी किसी प्रकार का द्वित्व उपपन्न नहीं होता। दूसरे शब्दों में जैसे जल में मिले हुए नमक को अलग से नमक रूप में नहीं पहचाना जाता, वैसे ही ब्रह्म में लीन जीव-जगत् को उसके स्वरूप में नहीं पहचाना जा सकता, क्योंकि अविभागावस्था में उसके व्यंजक व्यापारों का अभाव रहता है। इसी क्रम में विज्ञानभिक्षु का मत है कि जीव वस्तुत: ब्रह्म से भिन्न होते हुए भी ब्रह्मस्वभाव सम्पन्न रहता है, अत: मोक्षकाल में भी जीव-ब्रह्म का साम्य भेदघटित ही होता है- *'मोक्षकालेऽपि भेदघटितं साम्यं श्रूयते।'*[352]

इस प्रकार पिता-पुत्र, अग्नि-विस्फुलिङ्ग एवं सूर्य-तत्किरण के समान भाष्यकार द्वारा अंशांशिभाव के माध्यम से जीव-जगत् एवं ब्रह्म का विभागाविभागरूप 'भेदाभेद'[353] स्वीकार्य है। इन दृष्टान्तों में भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक हैं।

5.8. अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य बलदेव विद्याभूषण हैं। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य बलदेव विद्याभूषण का भाष्य 'गोविन्द-भाष्य' के नाम से जाना जाता है। इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'अचिन्त्य-

---

350 ब्र.सू.वि.मृ.भा. १/१/२

351 वही, १/४/२

352 वही.

353 *'तस्मात् सिद्धौ जीवेश्वरयोरंशांशिभावेन भेदाभेदौ विभागाविभागरूपौ।'* (वही)

भेदाभेद' के रूप में दर्शन जगत् में विख्यात है। इसका एक अन्य नाम 'गौड़ीय-वेदान्त' भी है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म और उसकी शक्ति में भेद-अभेद 'अचिन्त्य' है।

5.8.1. गौड़ीय-वेदान्त में प्रयुक्त 'अचिन्त्य' शब्द की व्याख्या

ब्रह्म किस प्रकार एक रहकर भी बहुत हो जाता है, अविकारी रहकर भी जगत् रूप में परिणत हो जाता है, निरंश रहकर भी अंश-युक्त हो जाता है, ये सारे रहस्य हमारी बुद्धि की समझ से परे होने के कारण 'अचिन्त्य' है। दूसरे शब्दों में ऐसा धर्म जो मानव की बुद्धि से अतीत, अव्याख्येय हो, जिसे तर्क द्वारा न जाना जा सके, जो तर्कातीत हो, उसे भाष्यकार 'अचिन्त्य' शब्द से अभिहित करते हैं। इनके अनुसार भगवान् की शक्ति चिन्तन का विषय न होने के कारण 'अचिन्त्य' है। यह अचिन्त्य शक्ति ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी। वह 'अंश' तथा 'अंशी' दोनों है, वह ब्रह्म से पृथक् और अपृथक् भी है। जैसे- सूर्य और उसकी किरणों में अथवा समुद्र और उसकी तरंगों में भेदाभेद 'अचिन्त्य' है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी स्वरूपादि शक्तियों में भिन्नता एवं अभिन्नता दोनों की युगपत प्रतीति होने पर भिन्न एवं अभिन्न दोनों रूप में चिन्तन करना अशक्य है। भेद और अभेद दोनों ही 'अचिन्त्य' है। यह 'अचिन्त्यत्व' सविशेष और निर्विशेष, सावयव और निरवयव सदृश विरुद्ध धर्मों को एक ही स्वरूप धर्मी सत्य में परिनिष्ठित करने में समर्थ है। 'अचिन्त्यत्व' के सम्बन्ध में 'सर्वसंवादिनी' ग्रन्थ का भगवत्सन्दर्भ द्रष्टव्य है- *'अचिन्त्याः भिन्नाभिन्नत्वादिविकल्पैश्चिन्तयितुमशक्याः केवलम-र्थापत्तिज्ञानगोचराः सन्ति।'*[354] अर्थात् दो पदार्थों का ऐसा सम्बन्ध, जिसका भेद अथवा अभेद संस्थापन या चिन्तन असम्भव हो, फिर भी अन्यार्थ कल्पना द्वारा उसकी अनुभूति हो, ऐसे तर्कातीत विषय को 'अचिन्त्य' कहा गया है। इसी क्रम में आचार्य जीव गोस्वामी द्वारा महाभारत के 'भीष्मपर्व' का श्लोक उद्धृत करते हुए 'अचिन्त्यत्व' को परिभाषित किया गया है-

अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्।

प्रकृतिभ्यः परं यच्च तदचिन्त्यस्य लक्षणम्॥[355]

---

354 सर्वसंवादिनी, भगवत्सन्दर्भ, पृ. १९

355 महा.भी.प. ५/१२

जो तर्कातीत हो, जिसे तर्क द्वारा सिद्ध न किया जा सके अथवा तर्क द्वारा उस तक न पहुँचा जा सके, उसे 'अचिन्त्य' कहा गया है। इस चिन्तन में ब्रह्म की शक्ति को तर्कागोचर बताया गया है- *'तर्कागोचराः शक्तयः एव ब्रह्माणि पर्यवस्यन्तीत्येव साधुसम्मतम्।'*[356] यहाँ शक्ति की तर्कागोचरता का अभिप्राय 'अचिन्त्यता' ही है। इस सम्बन्ध में 'तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथा-नुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसंगः'(ब्र.सू.२/१/११) में भाष्यकार का कथन है-

'श्रुतिश्च ब्रह्मणस्तर्कागोचरतामाह "नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनसु ज्ञानाय प्रेष्ठे"ति(१/२/९) काठानाम्। ... यद्यप्यर्थविशेषे तर्कः प्रतिष्ठितस्तथापि ब्रह्माणि सोऽयं नाऽपेक्ष्यते अचिन्त्यत्वेन तदनर्हत्वात् श्रुतिविरोधाच्चेति।'[357]

अर्थात् ब्रह्म का तर्कागोचरत्व "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इस श्रुतिवाक्य द्वारा बताया गया है। इस सम्बन्ध में यद्यपि अर्थविशेष में तर्कों की प्रतिष्ठा दृष्टिगोचर होती है, किन्तु ब्रह्म विषय में तर्क की अपेक्षा नहीं है, वस्तुतः वह 'अचिन्त्य' सत्ता है, इसलिए तर्क से अगोचर है। ब्रह्म में तर्क को स्वीकार करने पर श्रुति के साथ भी विरोध उपस्थित होता है। अतः भाष्यकार द्वारा ब्रह्म की तर्कापरता का अभिधान करते हुए अचिन्त्य धर्म को तर्कातीत बताया है। इस सन्दर्भ में शक्ति का आन्तरिक स्वरूप 'अचिन्त्य' है तथा इससे सम्बद्ध होने के कारण परमेश्वर का स्वरूप भी 'अचिन्त्य' है। सृष्टि के सन्दर्भ में अभेदधर्मी परमेश्वर में एकत्व और अनेकत्व का युगपत् सामर्थ्य उसमें विद्यमान शक्ति की 'अचिन्त्यता' के कारण ही सिद्ध होता है। अतः इस 'अचिन्त्यत्व' रूप विलक्षण दृष्टिकोण के कारण ही चैतन्य-मत एवं गोविन्द-भाष्य में निहित सिद्धान्त को 'अचिन्त्य-भेदाभेदवाद' कहा जाता है।

5.8.2. अचिन्त्य-भेदाभेद चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श

'तत्त्वमसि' महावाक्य का अभेदार्थ-निश्चय में जितना अधिक महत्त्व शाङ्कर वेदान्त में प्रतिष्ठेय है, उतना वैष्णव वेदान्त में नहीं। इसका सबसे प्रमुख कारण है, इन मतों की चिन्तन-धारा में जीवात्मा की नित्यता एवं उसका ईश्वर से पृथक् सत्ता के रूप में अस्तित्त्ववान् होना। अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा निर्दिष्ट एकता को भिन्नता के साथ स्वीकार किया गया है। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों द्वारा निर्दिष्ट सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्मा तथा अल्पज्ञ एवं अल्पशक्तिमान् जीवात्मा के बीच अधिष्ठान-अधिष्ठेय, व्याप्य-व्यापक जैसे सम्बन्ध मान्य हैं। ये सम्बन्ध नितान्त भिन्नता और नितान्त अभिन्नता- इन दोनों के प्रतिपक्ष में ही सिद्ध

---

356 सर्वसंवादिनी, परमात्मसन्दर्भ, पृ. २१

357 ब्र.सू.गो.भा. २/१/११

होते हैं। अत: इस चिन्तन में जीवेश्वर के सम्बन्ध में भाष्यकार को नितान्त भिन्नता एवं नितान्त अभिन्नता स्वीकार्य नहीं है।

इसी क्रम में गोविन्दभाष्य में निर्दिष्ट है कि "सोऽहमस्मि", "ब्रह्माहमस्मि" श्रुतिवाक्यों का तात्पर्य भी पूर्णत: एकतापरक स्वीकार्य नहीं है- *"अहमस्मि", "ब्रह्माहमस्मि" इति तैत्तिरीयकादिदृष्टः अभेदव्यपदेशस्तु तदायत्तवृत्तिकत्वादिभिर्भेदे एव संगच्छेतेति।'*[358] तैत्तिरीयकादि उपनिषद् में इस प्रकार "अहमस्मि", "ब्रह्माहमस्मि" आदि अभेदबोधक श्रुतिवाक्य ब्रह्मायत्त अर्थात् ब्रह्म के अधीन होने के कारण ब्रह्माभिन्न ब्रह्मायत्तवृत्ति के द्वारा भेद में अभेद बुद्धि का निर्णय करते हैं। ईश्वर के प्रति इस प्रकार के अभेदात्मक विचारों की जीव में उत्पत्ति, ईश्वर की सतत उपासना एवं दृढ़ अनुराग के कारण हो जाती है। अत: इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं लेना चाहिए कि जीवात्मा 'ईश्वर' हो जाता है। इसी भाव का ग्रहण 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में भी करना चाहिए।

5.8.3. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निश्चय में भाष्यकार आचार्य बलदेव विद्याभूषण द्वारा 'त्वम्' एवं 'तत्' पदों में जीवेश्वर के सम्बन्ध में 'उपासक-उपास्य', 'अंश-अंशी', 'कार्य-कारण', 'शक्ति-शक्तिमान्', 'स्रष्टा-सृज्य', 'व्याप्य-व्यापक', 'आधार-आधेय', 'सखा-सखित्व', 'प्राप्य-प्रापृत्व', 'सेवक-सेव्य' एवं 'नियम्य-नियामकादि' भावों द्वारा भेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए उसे 'अचिन्त्य' शब्द से अभिहित करते हैं। ये सभी सम्बन्ध तभी स्वीकार्य हैं, जब जीव को ईश्वर से भिन्न माना जाये, किन्तु पूर्ण भिन्नता में भी इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। अत: इस चिन्तन में भिन्नता के साथ अभिन्नता को भी स्वीकार करते हुए अचिन्त्यभेदाभेद के रूप में जीवेश्वर का सम्बन्ध बताया गया है। इस सम्बन्ध में जीवेश्वर में 'उपासक-उपास्य भाव' द्वारा भेद का प्रतिपादन द्रष्टव्य है-

5.8.3.1. उपास्य-उपासक भाव सम्बन्ध

'अचिन्त्य-भेदाभेद' सिद्धान्त के अनुसार 'सर्वत्रप्रसिद्धाधिकरण' के 'सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्' (ब्र.सू.१/२/१) में भाष्यकार द्वारा जीवेश्वर के भेद का कथन करते हुए कहा गया है- *'सर्वत्र वेदान्ते प्रसिद्धस्य जगज्जन्मादिहेतुतारूपस्य तदेकान्तधर्मस्यात्रापि वाक्ये तज्जलानित्यु-पदेशात्।'* समस्त जगत् में परमात्मा अनुस्यूत है, अत: समस्त वेदान्त वाक्यों में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय का कारण होने से प्रसिद्ध ब्रह्म का ही 'उपास्य' रूप में निरूपण किया

---

[358] ब्र.सू.गो.भा. ३/३/४६

गया है। इसी क्रम में गुणों के आधार पर जीवेश्वर-भेद द्रष्टव्य है- *"मनोमय: प्राणशरीरो भारूप" (छा.३/१४/२) इत्यादिना ये गुणा विवक्षितास्ते हि परस्मिन्नेवोपपद्यन्ते न तु जीवे।'*[359] *'अनुपपत्तेस्तु न शारीर:'(ब्र.सू.१/२/३)* में भाष्यकार का कथन है- *'मनोमय: शारीरो न भवति खद्योतकल्पे तस्मिंस्तेषामसम्भवात्।'* अर्थात् मनोमय, प्राणशरीर, कान्तिरूपादि श्रुतिविवक्षित गुणों का एकमात्र आश्रय ब्रह्म है, न कि जीव। खद्योततुल्य जीव में उन गुणों का अभाव होने से जीव सृष्ट्युत्पत्ति, स्थिति और लय करने में समर्थ नहीं है। उपासक (जीव) किसी भी अवस्था में (मुक्ति की अवस्था में भी) उपास्य (ब्रह्म) नहीं हो सकता। अत: गुणों के न्यूनाधिक्य के आधार पर उपास्य-उपासक में भेद है। इसी क्रम में भेद का कथन करते हुए आचार्य बलदेव विद्याभूषण का कथन है- *"एष मे आत्मान्तर्हृदये"(छा.३/१४/३) इति षष्ठ्यन्तेन शब्देन शारीर उपासको निर्दिश्यते मनोमयस्तूपास्य: प्रथमान्तेन। भिन्नविभक्तिकयो: शब्दयोरर्थभेदेन भाव्यम्। तथा च शारीरादुपासकादन्यो मनोमय उपास्य इति।'*[360] अर्थात् 'यह आत्मा मेरे हृदय के अन्दर विराजित है' यहाँ षष्ठ्यन्त विभक्ति के निर्देश के कारण जीव 'उपासक' एवं प्रथमान्त निर्देश के कारण मनोमय पुरुष 'उपास्य' है। अत: भेद बोधक शब्दों की भिन्नता भी जीवेश्वर में भेद को बताती है। इसी सन्दर्भ में 'अधिकाधिकरण' के 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्'(ब्र.सू.२/१/२२) में भाष्यकार का कथन है- *'जीवादधिकं ब्रह्म उरुशक्तिकत्वात् तस्मादत्युत्कृष्टम्'* अर्थात् ब्रह्म जीव से अधिक व्यापक होने के कारण अत्यन्त उत्कृष्ट है। जीव किसी भी अवस्था में ब्रह्म नहीं हो सकता। अत: जीव ब्रह्म से भिन्न एवं उसके अधीन है, जबकि ब्रह्म स्वतन्त्र, सबका शासक और स्वामी है। इसी भाव का निर्देश 'अश्मादिवच्च तदनुपपत्ति:'(ब्र.सू.२/१/२३) में करते हुए कहा गया है कि जीवात्मा और ब्रह्म का अत्यन्त अभेद सम्भव नहीं है। इसी क्रम में 'स्मृतेश्च' (ब्र.सू.१/२/६) के गोविन्दभाष्य में स्मृतिवाक्य के आधार पर जीव 'नियम्य' और परमात्मा 'नियामक' होने से दोनों में भेद का प्रतिपादन किया गया है।

5.8.3.2. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निश्चय के सम्बन्ध में 'त्वम्' एवं 'तत्' पदों में 'अंश-अंशी भाव' माना गया है। जीव ब्रह्म की शक्ति होने के कारण उसका 'अंश' है। इस चिन्तन में शक्ति और शक्तिमान का भेद और अभेद दोनों स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार का मत द्रष्टव्य है-

---

359 वही, १/२/२

360 वही, १/२/५

'परेशस्यांशो जीव: अंशुविरांशुमत: तद्भिन्नस्तदनुयायी तत्सम्बन्धापेक्षीत्यर्थ:। कुत:? नानेति। "उद्भव: सम्भवो दिव्यो ... निवास: शरणं सुहृद्गतिर्नारायण"(६/३-४) इति सुबालश्रुतौ "गतिर्भर्त्ता प्रभु: साक्षी निवास: शरणं सुहृत्"(गी. ९/१८) इत्यादि स्मृतौ च स्रष्टसृज्यत्वनियन्तृ-नियम्यत्वाधाराधेयत्वस्वामिदासत्वसखासखित्वप्राप्यप्राप्तृत्वादिरूपनाना-सम्बन्धव्यपदेशात्। अन्यथा अन्यया च विधया तद्व्याप्यतयैनं जीवं तदात्मकमेके आथर्वणिका अप्यधीयन्ते। "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा" इति। न ह्येते व्यपदेशा: स्वरूपाभेदे सम्भवेयु:। ... तस्मात् तत् सृज्यत्वादिसम्बन्धवांस्तद्भिन्नो जीवस्तदुपसर्जनत्वात् तदंश उच्यते।'[361]

अर्थात् नाना सम्बन्ध के व्यपदेश के कारण जीव को ब्रह्म का 'अंश' कहा गया है। अन्य प्रकार से भी आथर्वणिक श्रुति द्वारा जीव का ब्रह्मात्मकत्व सिद्ध किया जाता है। यथा-'जीव ब्रह्म का दास, कितव है' इस श्रुति द्वारा जीवेश्वर का अंशांशिभाव कहा गया है। जीव परब्रह्म का 'अंश' है। इस तथ्य को दृष्टान्त द्वारा बताते हुए भाष्यकार का कथन है कि सूर्य किरण जैसे सूर्य का अंश है, वैसे ही जीव ब्रह्म से भिन्न होने पर भी तत्सम्बन्धापेक्षी है। इस सम्बन्ध में सुबालश्रुति में कहा गया है- 'एक नारायण ही माता, पिता, भ्राता, निवास शरण, सुहृदादि सब कुछ हैं'। स्मृति में भी कहा गया है- 'परमेश्वर ही सबके गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास शरण और सुहृदादि हैं।' इन समस्त श्रुति, स्मृति वाक्यों में स्रष्टा-सृज्य, नियन्ता-नियम्य, आधार-आधेयत्व, स्वामी-दासत्व, सखा-सखित्व, प्राप्य-प्राप्तृत्वादि नाना सम्बन्धों के व्यपदेश होने के कारण जीव का ब्रह्म सम्बन्धापेक्षित्व सिद्ध होता है। तिल में तैल के समान एवं दधि में घृत के समान जीवात्मा में ब्रह्म अनुस्यूत है। अत: जीव ब्रह्मात्मक है। अथर्वणाश्रुति में कहा गया है- 'जीव ब्रह्म का दास, कितव है'। जीवेश्वर का स्वरूप अभेद होने पर इस प्रकार का व्यपदेश सम्भव नहीं है। इस प्रकार सृज्यत्वादि सम्बन्ध विशिष्ट ब्रह्म से भिन्न होने के कारण जीव को ब्रह्म का 'अंश' कहा गया है।

इसी सम्बन्ध में 'अंशाधिकरण' में भाष्यकार का कथन है- *'ब्रह्मशक्तिर्जीवो ब्रह्मैकदेशत्वात् ब्रह्मांशो भवति। ... तत्त्वमसी (छा. ६/८/७) त्येतदपि परस्य पूर्वायित्तवृत्तिकत्वादि बोधयति। तस्मात् ईशात् जीवस्यास्ति भेद:। स च नियन्तृत्वनियम्यत्व-विभुत्वाणुत्वादिधर्मकृतत्वेन प्रत्यक्षगोचरत्वान्नान्यथासिद्ध:।'*[362]

यहाँ 'अंश' का तात्पर्य 'शक्ति' से है। वस्तु का एकदेश ही उसका 'अंश' होता है, इस अर्थ में ब्रह्म (विष्णु) का एकदेश अथवा शक्ति होने के कारण जीवात्मा को 'अंश' रूप में अभिहित किया गया है। इसी क्रम में विष्णु का शक्तिभूत होने के कारण जीवात्मा को उसका 'सृज्य' कहा गया

361 वही, २/३/४१

362 वही.

है। अत: यहाँ सूज्यार्थ में 'अंश' शब्द का प्रयोग हुआ है। इस सम्बन्ध में 'तत्त्वमस्यादि' श्रुतिवाक्य जीव के ब्रह्मायत्तवृत्तिकत्वादिक का बोध कराते हैं। अत: इस आधार पर जीवेश्वर का भेद सिद्ध होता है। यह भेद 'नियन्तृ-नियम्य भाव' सम्बन्ध द्वारा प्रत्यक्षगोचर न होने पर भी शास्त्र द्वारा वेद्य है। इसी क्रम में 'मन्त्रवर्णात्'(ब्र.सू.२/३/४२) भाष्य में जीव का 'अंशत्व' परिदृष्ट होता है- *''पादोऽस्य सर्वा भूतानि'' इति मन्त्रवर्णोऽपि जीवस्य ब्रह्मांशत्वमाह'* इस मन्त्र द्वारा भी जीव के ब्रह्मांशत्व का निर्देश हुआ है।

जीव की 'ब्रह्मांशत्व' रूप में व्याख्या करते हुए 'अपि स्मर्यते'(ब्र.सू.२/३/४३) में भाष्यकार का कथन है- *'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'(गी.१५/७) इति श्रीभगवता इह सनातनत्वोक्त्या जीवस्यौपाधिकत्वं निरस्तम्। तस्मात् तत्सम्बन्धापेक्षी जीवस्तदंश इति। तत्कर्तृत्वादिकमपि तदायत्तम्। स्मृतिश्च जीवस्वरूपं विशिष्यमाह "ज्ञानाश्रयो ज्ञानगुणश्चेतन: प्रकृते: पर: । न जातो निर्विकारश्च एकरूप: स्वरूपभाक्। अणुर्नित्यो व्याप्तिशीलश्चिदानन्दात्मकस्तथा। अहमर्थोऽव्यय: साक्षी भिन्नप: सनातन:। अदाह्योऽच्छेद्य अक्लेद्य: अशोष्योऽक्षर एव च। एवमादिगुणैर्युक्त: शेषभूत: परस्य वै। ..."दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन" इति।'*

जीव की 'ब्रह्मांशत्व' रूप व्याख्या के सन्दर्भ में स्मृति को उद्‌धृत करते हुए भाष्यकार का कथन है कि स्मृति में भी जीव की 'ब्रह्मांशत्व' निर्दिष्ट है। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:।' स्मृतिवाक्यभूत इस श्लोक में 'सनातन' शब्द के प्रयोग द्वारा जीव का औपाधिकत्व निरस्त हो जाता है। अतएव ब्रह्म सम्बन्धापेक्षी तदंश ही जीव है। जीव का कर्तृत्वादि भी ब्रह्माश्रित है। जीव के स्वरूप का कथन करते हुए स्मृति में कहा गया है कि जीव ज्ञानाश्रय, ज्ञानगुण, चेतन, प्रकृति से परे, जन्म विकार से रहित, एकरूप और शरीरविशिष्ट है। वह अणु, र्नित्य, व्याप्तिशील तथा चिदानन्दात्मक, अस्मत् शब्द वाच्य, अव्यय साक्षी और सनातन है। अंशभूत जीव अदाह्य, अच्छेद्य, अक्लेद्य, अशोष्य और अक्षरादिगुणों से युक्त होता हुआ श्रीहरि का दास है। अत: इस विवेचन के आधार पर 'सेव्य-सेवक भाव' एवं 'अंश-अंशी भाव' द्वारा जीवेश्वर में भेद प्रतिपादित होता है।

5.8.3.3. कार्य-कारण भाव सम्बन्ध

ब्रह्म को कारण और जगत् को उसका कार्य मानने पर दोनों में अनन्यता नहीं रहेगी, इस प्रकार की शंका का निराकरण करते हुए 'आरम्भणाधिकरण' के 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:' (ब्र.सू.२/१/१४) में श्रुतिवाक्यों के आधार पर कारण-कार्य के अनन्यत्व का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का कथन है-

'तस्मात् जीवप्रकृतिशक्तियुक्तात् जगदुपादानात् ब्रह्मण: अनन्यदेवोपादेयं जगत्। कुत:? आरम्भणेति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्"(छा.६/१/४) "सदेव

सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"(छा.६/२/१) "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय"(छा.६/२/३) "सन्मूला: सौम्येमा: प्रजा: सदायतना: सत्प्रतिष्ठा:"(छा.६/८/४) "ऐतदात्म्यमिदं सर्व"(छा.६/८/७)मित्येवंविधानि छान्दोग्ये वाक्यानि सान्तराण्यप्यत्र विवक्षितानि। तानि हि चिज्जडात्मकस्य जगतस्तद्युक्तात् परस्मात् ब्रह्मणोऽनन्यत्वं वदन्ति। तथाहि कृत्स्नं जगत् तादृग्ब्रह्मोपादानकमतो ब्रह्माभिन्नमिति। ... जगतो ब्रह्मोपादानकतां वदिष्यन् लोकप्रतीति-सिद्धमुपादेयस्योपादानाभेदं दर्शयति यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेनेत्यादिना (छा.६/१/४)। एकस्मादेव मृत्पिण्डोपादानात् जातं घटादिसर्वं तेनैवविज्ञान्नेन विज्ञातं स्यात् तस्य ततोऽनतिरेकात्। एवमादेशे ब्रह्मणि सर्वोपादाने विज्ञाते तदुपादेयं कृत्स्नं जगत् विज्ञातं भवतीति तत्रार्थ:।'[363]

श्रुतिवाक्यों के आधार पर कार्य की कारण से अनन्यता सिद्ध करते हुए भाष्यकार का अभिमत है कि जीवशक्ति और प्रकृतिशक्ति युक्त जगत् के उपादानभूत ब्रह्म से उपादेय जगत् भिन्न नहीं है। कार्य-कारण की अभिन्नता की पुष्टि हेतु प्रमाणरूप में श्रुतिवाक्यों को उद्धृत करते हैं- "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्", "सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्", "सन्मूला: सौम्येमा: प्रजा: सदायतना: सत्प्रतिष्ठा:" इत्यादि श्रुतिवाक्य चित्-जडात्मक जगत् को ब्रह्म से अभिन्न रूप में निरूपण करते हैं, इसलिए आचार्य "समस्त जगत् ब्रह्म का उपादेय एवं ब्रह्म से अभिन्न है" इसका हृदय में विशेष रूप से निश्चय करके "उपादानभूत ब्रह्म के विज्ञान से उपादेय समस्त जगत् का ज्ञान होता है" ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं। जैसे- एक मृत्पिण्ड के ज्ञान से उससे विनिर्मित सभी वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, घटादि नाम और आकृति भेद व्यवहार के लिए है, विकार वस्तु समूह का नाम वाच्यारम्भण मात्र है। मृत्तिका से विनिर्मित घटादि जैसे आरम्भ में मृत्तिका से भिन्न नहीं थे, वैसे ही यह जगत् भी आरम्भ में ब्रह्म से भिन्न नहीं था। समस्त चराचर जगत् प्रलय की अवस्था में एवं उत्पत्ति से पूर्व परब्रह्म में शक्तिरूप से कारणरूप में विद्यमान रहता है।

इसी क्रम में अभेद का प्रतिपादन करते हुए 'भावे चोपलब्धे:'(ब्र.सू.२/१/१५) में भाष्यकार का कथन है कि उपलब्धि सत्य वस्तु की होती है, जिस वस्तु की कोई सत्ता नहीं है (जैसे- शश-विषाण), उसकी उपलब्धि भी सम्भव नहीं है। अत: जड़-चेतनात्मक जगत् कारण ब्रह्म में शक्ति रूप से सदैव विद्यमान रहता है, इसलिए इसकी उपलब्धि होती है। इस आधार पर कारण से कार्य जगत् अभिन्न है। भाष्यकार द्वारा इसी भाव का निर्देश 'सत्वाच्चावरस्य' (ब्र.सू.२/१/१६) में द्रष्टव्य है- *'अवरकालिकस्योपादेयस्य प्रागपि तादाम्येनोपादाने सत्वात् तस्मादनन्यत्वम्।'* अर्थात् कार्यरूप उपादेय जगत् अभिव्यक्ति से पूर्व तादात्म्य भाव से उपादान ब्रह्म में अव्यक्त

[363] वही, २/१/१४

रूप में विद्यमान रहता है। अत: इन सभी प्रमाणों के आधार पर कार्य की कारण से अनन्यता सिद्ध होती है।

मृत्तिका-घट और सुवर्ण एवं उससे विनिर्मित आभूषण में कारण-कार्य के दृष्टान्त रूप में यदि विचार किया जाये तो घट और आभूषण आकार विशेष में मूल पदार्थ से भिन्न दिखाई देते हैं, किन्तु उनकी यह भिन्न प्रतीति कारणभूत द्रव्य से नितान्त पृथक् प्रमाणित नहीं होती, क्योंकि कारण द्रव्य के विना इनके अस्तित्त्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। कारण की विशिष्ट प्रतीति के लिए कार्य का अस्तित्त्व स्वीकार किया जाना भी अपेक्षित है तथा कार्य के अस्तित्त्व के आधार रूप में कारण की उपयोगिता भी स्वीकार करना आवश्यक है। कारण-कार्य का यह सम्बन्ध परमेश्वर और उसकी शक्ति के मध्य भी पाया जाता है। अत: परमेश्वर और जीव में 'कारण-कार्य भाव' की व्याख्या तभी सम्भव हो सकती है, जब भेद और अभेद दोनों को स्वीकार किया जाये, इसीलिए अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में भाष्यकार आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्म और उसकी शक्तियों के भेद और अभेद दोनों को वास्तविक तथा यथार्थ माना है। अत: यहाँ ब्रह्म और जीव के मध्य अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार किया गया है।

5.8.4. अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन में अंश के प्रकार

अचिन्त्यभेदाभेद-चिन्तन के अनुसार समस्त चराचर जगत् परमेश्वर की लीला है। लीलार्थ जगत्कारणरूप ईश्वर विविध रूपों में अवतार लेते हैं। 'अंश' के प्रकार के सम्बन्ध में विचार किया जाये तो कुर्म, वाराह, मत्स्यादि अवतारों को परमात्मा का 'अंश' कहा गया है और जीव को भी 'अंश' रूप में अभिहित किया गया है। 'अंश' के इन दोनों प्रकारों के सम्बन्ध में 'प्रकाशादिवन्नैवं पर:'(ब्र.सू.२/३/४४) का भाष्य द्रष्टव्य है-

'अंशशब्दितत्वेऽपि परो मत्स्यादिर्न एवं जीववन्न भवति। तत्र दृष्टान्तमाह प्रकाशेति। यथा तेजोंऽशो रवि: खद्योतश्च तेज:शब्दितत्वेऽपि नैकरूप्यभाक्। यथा जलांश: सुधामद्यादिश्च जलशब्दितत्वेऽपि न साम्यं लभते तद्वत्।'

अर्थात् 'अंश' शब्द से अभिहित होने पर भी मत्स्यादि अवतार प्रकाशादि की भाँति जीव के सदृश नहीं हो सकते। तेजांश रवि जिस प्रकार तेज शब्द से कहे जाने वाले खद्योत (जुगनू) के सदृश नहीं है और जलांशभूत सुधा जिस प्रकार जल शब्द से शब्दित मद्यादि के सदृश नहीं होती, वैसे ही मत्स्यादि अवतार जीव के सदृश नहीं हो सकते।

इसी क्रम में 'स्मरन्ति च'(ब्र.सू.२/३/४५) में भाष्यकार आचार्य बलदेव विद्याभूषण द्वारा 'स्वांश' और 'विभिन्नांश' के रूप में 'अंश' के दो भेद किये गये हैं- *"स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधांऽश इष्यते। अंशिनो यत्तु सामर्थ्यं यत् स्वरूपं यथा स्थिति:। तदेव नाणुमात्रोऽपि भेद: स्वांशांशिनो: क्वचित्। विभिन्नांशोऽल्पशक्ति: स्यात् किंचित्सामर्थ्यमात्रयुक्"* इति। *"सर्वे सर्वगुणै:*

पूर्णा: सर्वदोषविवर्जिता" इति चायं भाव:। "एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयमि" त्यादौ (श्रीभा.१/३/२८) कृष्णाख्यस्य वस्तुन: स्वयं रूपस्य ये मत्स्यादयोंऽशा: स्मृता: न ते जीववत् ततो भिद्यन्ते, तस्यैव वैदुर्यादिवत् तत्तद्भावाविष्कारात्। सर्वशक्ति-व्यक्त्यव्यक्तिसव्यपेक्षो हि तत्तद्व्यपदेश:।... तत्तद्भावाविष्कारान्न मत्स्यादे जीववत् तत्त्वान्तरत्वं किंतु तदात्मकत्वमेवेति।'[364]

'अंश' प्रकार के सम्बन्ध में भाष्यकार द्वारा 'स्वांश' और 'विभिन्नांश' के रूप में 'अंश' के दो भेद किये गये हैं। 'अंशी' का जिस प्रकार का सामर्थ्य, जो स्वरूप एवं जिस प्रकार की स्थिति है, वैसी ही 'स्वांश' की भी होती है। 'स्वांश' से 'अंशी' का अणुमात्र भी भेद नहीं है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि स्वरूप और सामर्थ्य में 'अंशी' की सदृशता पाने वाला अंश, 'स्वांश' तथा विषमता अर्थात् शक्ति और स्वरूपादि में अत्यन्त अल्पता रखने वाला अंश, 'विभिन्नांश' कहलाता है। परमात्मा का 'स्वांश' अवतार समस्त गुणों से पूर्ण एवं समस्त दोषों से रहित होते हैं। 'ये सब अवतार अंश-कलारूप हैं, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं' इत्यादि स्मृतिवाक्य द्वारा पुरुषादि अवतार को श्रीकृष्ण का 'अंश' बताया गया है। परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं सर्वांशी हैं। मत्स्यादि अवतार 'अंश' होने पर भी जीव की तरह श्रीकृष्ण से भिन्न नहीं हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयं वैदूर्यमणि के समान तत्तत् भाव को प्रकाशित करते हैं। सम्पूर्ण शक्ति के प्रकाश और अप्रकाश से ही अंश-कला भेद का व्यपदेश होता है। इस प्रकार परमेश्वर के मत्स्यादि अवतार जीव की भाँति अन्य तत्त्व नहीं हैं, अपितु तदात्मक हैं- *'जीवस्यासन्ततेरपूर्णत्वादव्यतिकर: पूर्णेन मत्स्यादिनासाम्यं नेत्यर्थ:। बालाग्रशतभागस्येत्याद्या (श्वे.५/३) श्रुतिर्जीवस्यापूर्तिमाह। पूर्णमद: पूर्णमिदमित्याद्या (वृ.५/१/१) तु मत्स्यादे: पूर्त्तिम्।'*[365]

अर्थात् जीवों के अपूर्ण होने के कारण पूर्णरूप मत्स्यादि अवतार के साथ उसका साम्य नहीं है। ''बालाग्रशतभागस्य" इत्यादि श्रुतियाँ जीव के अपूर्णत्व का निर्देश करती हैं तथा ''पूर्णमद: पूर्णमिदम्" इत्यादि श्रुतिवाक्य मत्स्यादि अवतारों के पूर्णत्व का निर्देश करते हैं। इस चिन्तन में शक्ति-शक्तिमान् का अभेद रहते हुए भी जीवेश्वर का नित्य पार्थक्य माना गया है। भगवदवतार पूर्ण हैं तथा जीव अपूर्ण। अत: इस विषमता के कारण 'अंशत्व' की एकता होने पर भी दोनों में पार्थक्य बना रहता है।

5.8.5. अचिन्त्य-चिन्तन में शक्ति-शक्तिमान का भेदाभेद स्वरूप

शक्ति-शक्तिमान के अभेद के सम्बन्ध में 'मत्स्याधिकरण' में एक से बहुत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *''एको वशी सर्वग: कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन् बहुधा योऽवभाति" इति*

364 ब्र.सू.गो.भा. २/३/४५

365 वही, २/३/४७

श्रीगोपालतापन्यां (पू.२३) पठ्यते। स्मृतौ च "एकानेकस्वरूपाये" (वि.पु.१/२/३) त्यादि। अत्रांशिरूपेणैकोंऽशकलारूपेण तु बहुधेत्यर्थः प्रतीयते।'[366]

अर्थात् ''एको वशी सर्वगः" श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्म के एकत्व सत्त्व में बहुरूपत्व कहा गया है। स्मृति में भी *"एकानेकस्वरूपाये"*– 'वह एक होकर भी अनेक रूप वाला है' इत्यादि द्वारा 'अंशी' रूप में एकत्व तथा 'अंश' कला रूप में बहुत्व का निर्देश किया गया है। अतः 'अंश-अंशी' रूप में एक ही तत्त्व से बहुत्व की उक्ति द्वारा यहाँ जीवेश्वर में अभेद का निर्देश किया गया है।

जीवेश्वर में भेदाभेद के सम्बन्ध में भेद का प्रतिपादन करते हुए आचार्य बलदेव का कथन है कि मुक्त जीव का भोगमात्र में साम्य है, किन्तु स्वरूपगत एवं सामर्थ्यगत साम्य यहाँ विवक्षित नहीं है। इस सन्दर्भ में 'भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च' (ब्र.सू.४/४/२१) में भाष्यकार का मत द्रष्टव्य है-

''सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' इति मुक्तस्य भोगमात्रे भगवत्साम्यवचनात् लिंगादेव स्वरूपसाम्यं वाक्यार्थो न भवतीत्यर्थः। अनेन स्वरूपनिर्णयान्तसूत्रेण जीवब्रह्मणो भोगमात्रेणैव साम्यं ब्रुवन् शास्त्रकृत्तयोः स्वरूपसामर्थ्यकृतं वैलक्षण्यं वास्तवमित्युपादिशत्।'[367]

अर्थात् ''सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता'' यह मन्त्र मुक्त जीव का ब्रह्म में भगवत् साम्यतापरक वचन है, किन्तु यह जीव और ब्रह्म के स्वरूपसाम्य परक वचन नहीं है, क्योंकि जीव और ब्रह्म में भोगांश मात्र में साम्य रहने पर भी स्वरूपगत तथा सामर्थ्यगत वैलक्षण्य नित्य रहता है। अतः इस आधार पर जीवेश्वर में स्वरूपगत भेद सिद्ध होता है।

शक्ति-शक्तिमान के अभेद के सम्बन्ध में 'अहिकुण्डलाधिकरण' के 'उभयव्यपदेशात्त्व-हिकुण्डलवत्' (ब्र.सू.३/२/२८) एवं 'पूर्ववद्वा'(ब्र.सू.३/२/३०) के भाष्य में कहा गया है कि सर्प कुण्डलात्मक होने पर कुण्डल को जिस प्रकार सर्प के विशेषण रूप में माना जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म के ज्ञानानन्दात्मक होने पर भी ज्ञान और आनन्द को उसका विशेषण कहा गया है। कारणावस्था में परब्रह्म निर्गुण रूप में और कार्यावस्था में सगुण रूप वाला कहा जाता है। जैसे-सर्प साधारण अवस्था में स्थित रहे अथवा कुण्डली लगाकर रहे, दोनों अवस्थाओं में (सर्प-कुण्डली का) अभेद प्रदर्शित होता है, कुण्डली सर्प से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार परब्रह्म ज्ञानस्वरूप एवं आनन्दस्वरूप होकर भी ज्ञान और आनन्द से युक्त रहता है, इससे उसके स्वरूप में कोई भेद नहीं होता। तात्पर्य यह है कि ज्ञान और आनन्द परब्रह्म के धर्म हैं और ब्रह्म धर्मी। इस सम्बन्ध में धर्म-धर्मी और शक्ति-शक्तिमान का अभेद प्रसिद्ध है।

---

366 वही, मत्स्याधिकरण

367 ब्र.सू.गो.भा. ४/४/२१

5.9. वीरशैवविशिष्टाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य श्रीपति हैं। ब्रह्मसूत्र पर आचार्य श्रीपति ने 'श्रीकर-भाष्य' का प्रणयन किया। इनका दार्शनिक सिद्धान्त 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' कहलाता है। शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त को 'वीरशैवविशिष्टाद्वैत', 'विशिष्टाद्वैत'[368] और 'शिवाद्वैत' के नाम से भी जाना जाता है। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' शब्द का तात्पर्यार्थ है- 'शक्तिविशिष्ट जीव' और 'शक्तिविशिष्ट शिव' का सामरस्य। जीव एवं शिव के परस्पर एकाकार के सम्बन्ध में 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है- *'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ (जीवेशौ) शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।'*[369] अर्थात् स्थूलचिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्मचिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का अद्वैत ही 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' (वीरशैवविशिष्टाद्वैत) है। 'सिद्धान्तशिखामणि' में 'वीरशैव' शब्द को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है-

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका।
तस्यां रमन्ते ये शैवा: वीर शैवास्तु ते मता:॥
विद्यायां शिवरूपायां विशेषाद्रमणं यत:।
तस्मादेते महाभाग वीरशैवा इति स्मृता:॥
वेदान्तजन्यं यज्ज्ञानं विद्येति परिकीर्त्यते।
विद्यायां रमते तस्यां वीर इत्यभिधीयते॥[370]

अर्थात् 'वी' का अर्थ है- ज्ञान (विद्या) और 'र' का अर्थ है- रमण करना। जीव एवं शिव के अभेद अर्थ को बताने वाली जो विद्या है, उसमें रमण करने वाला शिवभक्त 'वीरशैव' कहलाता है। शिवरूपी अभेदात्मक विद्या में विशेष रूप से रमण करने वाले (आनन्दित होने वाले) शैव 'वीरशैव' कहलाते हैं। वेदान्त जन्य जो ज्ञान है, उसे विद्या रूप में अभिहित किया गया है और उस विद्या में रमण करने वाले साधक का 'वीर' शब्द से अभिधान किया गया है।

---

368 *'विशिष्टं च विशिष्टं विशिष्टे लिङ्गाङ्गे, तयोरद्वैतं '**विशिष्टाद्वैतम्**'* अर्थात् यहाँ प्रथम विशिष्ट पद से चिच्छक्ति विशिष्ट पर शिवसंज्ञक 'लिङ्ग' का और द्वितीय विशिष्ट पद से 'शिवांशरूप अङ्गपदवाच्य जीव' का तात्पर्य है। - (शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव का स्वरूप, पृ.१०)

369 वही.

370 सि.शि. ५/१५-१६,१८

5.9.1. वीरशैवविशिष्टाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्यार्थ विमर्श

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के तात्पर्य-निश्चय के सम्बन्ध में 'वीरशैव-चिन्तन' में नीलकण्ठ शिवाचार्य द्वारा 'शिवाद्वैतपरिभाषा' नामक ग्रन्थ में जहदजहल्लक्षणा द्वारा सम्बन्धत्रय के माध्यम से अभेदार्थपरक विवेचन द्रष्टव्य है- *'वाच्यार्थैकदेशपरित्यागेनैकदेशवृत्तिर्जहदज-हल्लक्षणा। यथा "तत्त्वमसि" इति वाक्यं तदर्थो वा सूक्ष्मस्थूलप्रपञ्चाकारशक्तिविशिष्ट-चैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाच्यार्थांशे विरोधाद् विरुद्धसूक्ष्मस्थूलांशं परित्याज्याविरुद्धनामरूप-विभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टं शुद्धचैतन्यमात्रं लक्षयतीति तत्र जहदजहल्लक्षणा स्वीक्रियते। तथा च-"तत्त्वमसि" इत्यत्र तत्पदेन सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टो लिङ्गरूपः परशिव उच्यते। त्वंपदेन स्थूलचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टोऽङ्गरूपो जीव उच्यते। असिपदेन तयोरैक्यमुच्यते।'*[371]

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में 'जहदजहल्लक्षणा' को परिभाषित करते हुए श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य का कथन है कि वाच्यार्थ के एक अंश का परित्याग करके अवशिष्ट अंश का बोध कराने वाली वृत्ति 'जहदजहल्लक्षणा' कहलाती है। इस वृत्ति द्वारा वाच्यार्थ के विरुद्धांश का परित्याग करते हुए अविरुद्धांश का ग्रहण किया जाता है। जैसे- 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में तदर्थ अथवा सूक्ष्म स्थूल प्रपञ्चाकार शक्तिविशिष्ट चैतन्यरूप एकत्व लक्षण के वाच्यार्थांश में विरोध होने से विरुद्ध सूक्ष्म-स्थूल अंश का परित्याग कर अविरुद्ध नामरूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट शुद्ध चैतन्य मात्र को लक्ष्य करता है। अतः वहाँ वाच्यार्थ के विरुद्धांश का त्याग एवं अविरुद्धांश मात्र का ग्रहण होने से 'जहदजहल्लक्षणा' स्वीकृत है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में 'तत्' पद द्वारा सूक्ष्म चिदचिद्शक्तिविशिष्ट लिङ्गरूप 'परशिव' का कथन और 'त्वं' पद द्वारा स्थूल चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट अङ्गरूप 'जीव' का तथा 'असि' पद द्वारा इन दोनों (तत् एवं त्वं) पदों के ऐक्य का कथन किया गया है। इसी क्रम में शिव-जीव के एकत्व प्रतिपादन में जहदजहल्लक्षणा का प्रयोग द्रष्टव्य है-

'इदं तत्त्वमसीति महावाक्यं शिवजीवयोर्विरुद्धधर्मविशिष्टयोः साक्षादैक्यप्रतिपादकत्वाभावे-ऽपि लक्षणया सम्बन्धत्रयेणैकार्थं प्रतिपादयति। तत्र विरुद्धसूक्ष्मस्थूलांशं परित्याज्याविरुद्ध-नामरूपविभागानर्हचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टयोः शिवजीवयोरैक्यं जहदजहल्लक्षणया-ऽवगन्तव्यम्।'[372]

अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य में शिव और जीव के परस्पर विरुद्ध धर्म विशिष्ट होने पर इनमें साक्षात् ऐक्य प्रतिपादकत्व का अभाव होने पर भी लक्षणा द्वारा सम्बन्धत्रय के माध्यम से

---

371 शि.द्वै.प. पृ. १७-१८

372 वही, पृ. १८

एकार्थ का प्रतिपादन होता है। वहाँ परस्पर विरुद्ध सूक्ष्म-स्थूल अंश का परित्याग कर अविरुद्ध नामरूप विभाग से रहित चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट शिव-जीव का ऐक्य जहदजहल्लक्षणा द्वारा जानना चाहिए। ऐक्य प्रतिपादन के क्रम में सम्बन्धत्रय का प्रयोग द्रष्टव्य है-

'सम्बन्धत्रयं च पदयो: सामानाधिकरण्यं, पदार्थयोर्विशेषणविशेष्यभाव: प्रत्यगात्मतद्धर्मयोर्लक्ष्यलक्षणभावश्चेति।'[373]

अर्थात् यह 'तत्त्वमसि' वाक्य तीन सम्बन्धों द्वारा अभेदार्थ का बोधक बनता है। तीन सम्बन्ध हैं- 1. दोनों (तत् एवं त्वम्) पदों का सामानाधिकरण्य 2. दोनों पदों के वाच्यार्थों में विशेषणविशेष्यभाव तथा 3. प्रत्यगात्मा और उनके धर्मों में लक्ष्यलक्षणभाव ।

5.9.2. सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ-निर्धारण

'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का प्रवृत्ति निमित्त भिन्न होने पर भी सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध द्वारा अभेदार्थ के प्रतिपादन में शिवाद्वैतपरिभाषाकार का मत द्रष्टव्य है-

'तत्र पदयो: सामानाधिकरण्यं च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो: पदयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्ति:। तच्च "सोऽयं देवदत्त:" इत्यस्मिन् वाक्ये तत्कालतद्देशवैशिष्ट्यं स: पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। एतत्कालैतद्देशवैशिष्ट्यम् अयंपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो: सोऽयं पदयोरेकस्मिन् देवदत्तपिण्डे तात्पर्यसम्बन्ध:।'

'तद्वत् तत्त्वमसीति महावाक्येऽपि सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिवैशिष्ट्यं तत्पदप्रवृत्तिनिमित्तम्। स्थूलचिदचिद्रूपशक्तिवैशिष्ट्यं त्वंपदप्रवृत्तिनिमित्तम्। तथा च भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयोस्तत्त्वंपदयोरेकस्मिन् नामरूपविभागानर्हे सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टे शुद्धचैतन्ये तात्पर्यसम्बन्ध: सामानाधिकरण्यम्।'[374]

सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध को परिभाषित करते हुए ग्रन्थकार का अभिमत है- *'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तयो: पदयोरेकस्मिन्नर्थे वृत्ति:'* अर्थात् जिन पदों का प्रवृत्ति निमित्त भिन्न हो, ऐसे दो या अधिक पदों का एक ही अर्थ के लिए प्रयुक्त होना 'सामानाधिकरण्य' कहलाता है। जैसे- "सोऽयं देवदत्त:" इस वाक्य में तत्काल, तद्देश विशिष्ट 'स:' पद का प्रवृत्ति निमित्त है तथा एतत्काल, एतद्देश विशिष्ट 'अयम्' पद का प्रवृत्ति निमित्त है। इस प्रकार प्रवृत्ति निमित्त भिन्न होने पर भी 'स:', 'अयम्' दोनों पदों का तात्पर्य एक ही 'देवदत्त' में है।

इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट 'तत्' पद का प्रवृत्तिनिमित्त है तथा स्थूल चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट 'त्वं' पद का प्रवृत्तिनिमित्त है। इस

---

373 वही.

374 वही.

प्रकार प्रवृत्ति निमित्त भिन्न होने पर भी 'तत्', 'त्वं' पदों का तात्पर्य एक ही नामरूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट 'शुद्ध चैतन्य' में है।

5.9.3. विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ-निर्धारण

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण में 'तत्' एवं 'त्वं' पदों के ऐक्य प्रतिपादनार्थ 'विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्ध' द्रष्टव्य है- *'पदार्थयोर्व्यावर्तकव्यावर्त्यभावसम्बन्धो विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्धः। तत्र व्यावर्तकं विशेषणम्, व्यवच्छेदकमिति यावत्। व्यावर्त्यं विशेष्यम्, व्यवच्छेद्यमितिभावः। तयोर्भावो विशेषणविशेष्यभावः। "सोऽयं देवदत्तः" इत्यत्र अयंपदवाच्यः, सोऽसावेतत्कालैतद्देशविशिष्टो देवदत्तपिण्डो अयं स इति तच्छब्दवाच्यात् तत्कालतद्देश-विशिष्टाद् देवदत्तपिण्डाद् भिन्नो नेति यदा प्रतीयते, तदा तच्छब्दार्थस्याऽयंपदवाच्यार्थ-निष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम्, अयं पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। तथा स इति तत्पदवाच्यस्तत्कालतद्देशविशिष्टो देवदत्तपिण्डः सोऽयमित्ययंपदवाच्यात् एतत्कालैतद्देश-विशिष्टादस्माद् देवदत्तपिण्डाद् भिन्नो नेति यदा प्रतीयते, तदायंशब्दवाच्यस्य तत्पदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम्, तत्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद्विशेष्यत्वम्। तथा च "अयमेव सः", "स एवायम्" इत्यन्योन्यभेदव्यावर्तकतया सोऽयंपदयोः परस्परं विशेषण-विशेष्यभावः।'*[375]

अर्थात् दो पदार्थों का व्यावर्तक-व्यावर्त्य भाव सम्बन्ध 'विशेषणविशेष्यभाव' कहलाता है। 'व्यावर्तक' विशेषण होता है, उसी को 'व्यवच्छेदक' भी कहते हैं तथा 'व्यावर्त्य' विशेष्य होता है, उसी को 'व्यवच्छेद्य' भी कहते हैं। इस प्रकार उन दोनों का भाव 'विशेषणविशेष्यभाव' कहलाता है। जैसे- "सोऽयं देवदत्तः" इस दृष्टान्त में 'अयम्' पद का वाच्यार्थ बनने वाला 'सः' 'असौ' एतत्काल एतद्देश विशिष्ट देवदत्त जब 'अयं सः' (यह वही है), इस रूप में 'तत्' शब्द का वाच्यार्थ बनने वाले तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त से जब भिन्न प्रतीत न हो, तब 'तत्' शब्द का वाच्यार्थ 'अयम्' पद के वाच्यार्थ में रहने वाले भेद का व्यावर्तक (निवारक) होने से 'विशेषण'[376] बनता है और 'अयम्' पद का वाच्यार्थ व्यावर्त्य होने से 'विशेष्य'[377] बनता है। इसी प्रकार 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनने वाला तत्काल तद्देश विशिष्ट देवदत्त 'सः अयम्' (वह यही है), इस रूप में 'अयम्' पद का वाच्यार्थ बनने वाले एतत्काल एतद्देश विशिष्ट इस देवदत्त से जब भिन्न प्रतीत न हो, तब 'अयम्' शब्द का वाच्यार्थ 'तत्' शब्द के वाच्यार्थ में रहने वाले भेद का व्यावर्तक (निवारक) होने से 'विशेषण' बनता है तथा 'तत्' पद का वाच्यार्थ व्यावर्त्य

---

375 वही.

376 भेद का निवर्तन करने वाला **'विशेषण'** कहलाता है।

377 जिसके भेद का निवर्तन किया जाता है, वह **'विशेष्य'** कहा जाता है।

(व्यवच्छेद्य) होने से 'विशेष्य' बनता है। इस प्रकार 'अयमेव स:', 'स एवायम्' इस रूप में परस्पर एक-दूसरे के भेद का व्यावर्तक होने के कारण 'स:' 'अयम्' पदार्थों का परस्पर 'विशेषणविशेष्यभाव' द्वारा अभेदात्मक देवदत्त की सिद्धि होती है। इसी क्रम में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में 'विशेषणविशेष्यभाव' अवलोकनीय है-

'तद्वदत्रापि तत्त्वमसीति महावाक्ये यत् त्वंपदवाच्यं स्थूलचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टं चैतन्यम्, तत् तत्पदवाच्यात् सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टचैतन्याद् भिन्नं नेति यदा प्रतीयते, तदा तत्पदार्थस्य त्वंपदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम्, त्वंपदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद् विशेष्यत्वम्। तथा तत्पदवाच्यं यत् सूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्तिविशिष्टं चैतन्यं तत् त्वंपदवाच्यात् स्थूलचिदचिद्रूपशक्ति-विशिष्टचैतन्याद् भिन्नं नेति यदा प्रतीयते, तदा त्वंपदार्थस्य तत्पदार्थनिष्ठभेदव्यावर्तकतया विशेषणत्वम्, तत्पदार्थस्य व्यावर्त्यत्वाद् विशेष्यत्वम्। तथा च "त्वं तदसि", "तत्त्वमसि" इति तत्त्वंपदार्थयो: परस्परभेदव्यावर्तकतया विशेषणविशेष्यभाव-सम्बन्धोऽवगन्तव्य:।'[378]

"सोऽयं देवदत्त:" दृष्टान्त की तरह 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ बनने वाला जो स्थूल चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट चैतन्य है, वह जब 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनने वाले सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट चैतन्य से भिन्न प्रतीत न हो, तब 'तत्' पद का वाच्यार्थ 'त्वम्' पद के वाच्यार्थ में रहने वाले भेद का व्यावर्तक (निवारक) होने से 'विशेषण' बनता है और 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ व्यावर्त्य (व्यवच्छेद्य) होने से 'विशेष्य' बनता है। इसी प्रकार जब 'तत्' पद का वाच्यार्थ बनने वाला जो सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट चैतन्य 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ बनने वाले स्थूल चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट चैतन्य से जब भिन्न प्रतीत न हो, तब 'त्वम्' पद का वाच्यार्थ 'तत्' पद के वाच्यार्थ में रहने वाले भेद का व्यावर्तक (निवारक) होने से 'विशेषण' बनता है और 'तत्' पद का वाच्यार्थ व्यावर्त्य (व्यवच्छेद्य) होने से 'विशेष्य' बनता है। इस प्रकार "त्वं तदसि", "तत्त्वमसि" इस रूप में परस्पर एक-दूसरे के भेद का व्यावर्तक होने के कारण 'तत्' 'त्वम्' पदार्थों का परस्पर 'विशेषणविशेष्यभाव' सम्बन्ध जानना चाहिए। इस सम्बन्ध के द्वारा 'तत्' 'त्वम्' पदार्थों का तात्पर्य एक ही नामरूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट 'शुद्ध चैतन्य' में सिद्ध होता है।

5.9.4. लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अर्थ-निर्धारण

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में 'शिवाद्वैतपरिभाषा' के अनुसार लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध द्रष्टव्य है- *'लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्धस्तु प्रत्यगात्मतद्गतधर्मयोर्लक्ष्य-लक्षणभावसम्बन्ध:। असाधारणधर्मप्रतिपादकं वाक्यं लक्षणवाक्यम्, तत्प्रतिपाद्यमवशिष्टं लक्ष्यम्। तथा च "सोऽयं देवदत्त:" इत्यस्मिन् वाक्ये सोऽयंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धतत्कालतद्देश-*

---

378 शि.द्वै.प. पृ. १८-१९

विशिष्टत्वैतत्कालैतद्देशविशिष्टत्वयो: परित्यागेनाविरुद्धदेवदत्तत्वविशिष्ट देवदत्तपिण्डेन सह देवदत्तत्वविशिष्टदेवदत्तवाचकशब्दस्य लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध:।'

'तद्वत् तत्त्वमसीति महावाक्ये तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोर्वा विरुद्धसूक्ष्मस्थूलचिदचिद्रूपशक्ति-विशिष्टत्वपरित्यागेन तत्त्वंपदाभ्यां लक्ष्याविरुद्धनामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्रूपशक्ति-विशिष्टचैतन्येन सह तत्त्वंपदयोर्लक्ष्यलक्षणभावसम्बन्ध:। इयमेव भागलक्षणेत्युच्यते। तत्र तत्त्वंपदयोस्तदर्थयोश्च त्यक्तविरुद्धांशयोर्लक्षणत्वम्, अखण्डपरशिवचैतन्यस्य लक्ष्यत्वमिति मन्तव्यम्।'[379]

'तत्' एवं 'त्वम्' पदों के तात्पर्य-निश्चय के सन्दर्भ में लक्ष्यलक्षणभाव द्वारा अभेदार्थ का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार का कथन है कि प्रत्यगात्मा और उसके धर्मों में लक्ष्यलक्षणभाव सम्बन्ध होता है। असाधारण-धर्म को बताने वाला वाक्य 'लक्षणवाक्य' कहलाता है और उसका प्रतिपाद्य विषय 'लक्ष्य' कहलाता है। जैसे- "सोऽयं देवदत्त:" इस वाक्य में 'स:' पद और 'अयम्' पद का अथवा दोनों के वाच्यार्थ का तत्काल तद्देश विशिष्टत्व, एतत्काल एतद्देश विशिष्टत्व रूप विरुद्धांश के परित्याग द्वारा अविरुद्ध देवदत्तत्व विशिष्ट देवदत्त के साथ देवदत्तत्व विशिष्ट देवदत्त वाचक शब्द का 'लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध' है।

उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य में भी 'तत्' और 'त्वम्' पदों का अथवा इनके वाच्यार्थ का सूक्ष्म स्थूल चिदचिद् रूप शक्ति विशिष्टत्व रूप विरुद्धांश के परित्याग करने से 'तत्' 'त्वम्' पद द्वारा लक्ष्यभूत अविरुद्ध नामरूप विभाग से रहित सूक्ष्म चिदचिद् रूप शक्तिविशिष्ट चैतन्य के साथ 'तत्' 'त्वम्' पदों का 'लक्ष्यलक्षणभाव-सम्बन्ध' है। इसी को 'भागलक्षणा' कहा जाता है। इस प्रकार 'भागलक्षणा' द्वारा दोनों पदों के वाच्यार्थों में तत्काल तद्देश विशिष्ट, एतत्काल एतद्देश विशिष्ट रूप जो विरुद्धांश है, उसका परित्याग करने से 'तत्त्वमसि' वाक्य को 'लक्षणवाक्य' तथा 'अखण्ड परशिव चैतन्य' को 'लक्ष्य' मानना चाहिए। इसी भाव का प्रातिपादन करते हुए चिद्घनाचार्य का कथन है-

एकात्मकत्वाज्जहती न संभवेत् तथाऽजहल्लक्षणता विरोधत: ।
सोऽयंपदार्थाविव भागलक्षणा युज्येत तत्त्वंपदयोरदोषत: ॥[380]

'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में जहद्लक्षणा द्वारा 'तत्' 'त्वम्' पदों का अभेदार्थकत्व सिद्ध न होने से तथा अजहल्लक्षणा द्वारा तात्पर्य-निश्चय में विरोध उत्पन्न होने से इन दोनों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अर्थ-निर्धारण में 'तत्' 'त्वम्' पदों के दोष निवारण एवं अदोषत्व की सिद्धि हेतु "सोऽयं देवदत्त:" दृष्टान्त के 'स:' 'अयम्' पदार्थ के समान यहाँ भी 'भागलक्षणा' मानना चाहिए। शिवागम में भी इसी अर्थ का कथन किया गया है-

---

379 वही, पृ. १९

380 वही.

तत्पदेनोच्यते लिङ्गं त्वंपदेनाङ्गमीरितम् ।
अनयोरैक्यभावोऽयं सम्बन्धोऽसिपदेन च ॥[381]

अर्थात् 'तत्' पद द्वारा 'लिङ्ग' का अभिधान एवं 'त्वम्' पद द्वारा 'अङ्ग' का कथन किया गया है। सम्बन्ध वाचक 'असि' पद द्वारा 'तत्' और 'त्वम्' पद के ऐक्यभाव का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण के सम्बन्ध में ग्रन्थकार श्रीनीलकण्ठ शिवाचार्य द्वारा जहदजहल्लक्षणा एवं सम्बन्धत्रय के माध्यम से 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ में ऐक्यभाव रूप अभेदार्थ की सिद्धि की गयी है।

5.9.5. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य सम्बन्ध

5.9.5.1. अंश-अंशी भाव सम्बन्ध

जीव को शिव का अंश मानते हुए भाष्यकार का कथन है- *"यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गा-स्सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:। तथा क्षराद्विविधास्सौम्यभावा: प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति।" "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।"* इत्यादि *श्रुतिशतैर्जीवानां ब्रह्मांशत्वश्रवणात् जीवा: ब्रह्मण: अंशा एव।'*[382] जैसे- प्रदीप्त अग्नि से असंख्य विस्फुलिंग (अग्निकण) आविर्भूत हो जाते हैं, उसी प्रकार शिव के अंशभूत अनन्त जीव प्रारब्ध कर्मों के अनुसार विविध रूपों में आविर्भूत होते हैं। अत: इन मन्त्रों के द्वारा 'अंश-अंशी' तथा 'अवयव-अवयवी' के रूप में जीव-ब्रह्म की व्याख्या की गयी।

इस चिन्तन में शिव, जीव और जगत् की सत्यता स्वीकार करते हुए आचार्य श्रीपति द्वारा शिव एवं जीव के सम्बन्ध को क्रिमिभ्रमर के समान माना गया है- *'तेषामभेदो सत्यो वा क्रिमिभ्रमरयोरिव।'*[383] भाष्यकार के मतानुसार 'अंश' रूप जीव का जीवत्व मोक्षावस्था में भी विद्यमान रहता है- *'मोक्षदशायामपि मुक्तजीवानां ब्रह्मसारूप्य सिद्धानामपि दासत्वे कैङ्कर्य पारतन्त्र्यादिकमविरोधित्वेन साधयन्ति।'*[384] अर्थात् मोक्ष की अवस्था में मुक्त जीवों का दासत्व, कैङ्कर्यत्व, परतन्त्रत्व, आश्रयत्वादि धर्म ब्रह्म सारूप्य सिद्ध होने पर भी अविरुद्ध रूप से विद्यमान रहते हैं। अत: ब्रह्म सारूप्य होने पर भी स्वातन्त्र्यादि शक्ति के अभाव में जीव

---

381 वही.

382 ब्र.सू.श्रीकरभाष्य, २/३/४०

383 वही.

384 वही.

'ब्रह्म' नहीं हो सकता। ब्रह्म ही दासत्व, कैङ्कर्यत्वादि रूप में सभी जीवों को व्याप्त करके विद्यमान है, इस कारण से उसका अंशित्व रूप में अभिधान किया गया है।
इसी क्रम में आचार्य श्रीपति का कथन है- *'यावद्धि जीवस्य ब्रह्मांशत्वं न निर्णीतम्, तावज्जीवस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं, ब्रह्मणस्तस्मादधिकत्वञ्च न प्रतितिष्ठति।'*[385] अर्थात् जीव के ब्रह्मांशत्व को जब तक स्वीकार नहीं किया जायेगा, तब तक ब्रह्म का अनन्यत्व और जीव से ब्रह्म का अधिकत्व भी सिद्ध नहीं हो सकेगा। अत: जीव को शिवांश वाचक का मानते हुए 'मन्त्रवर्णात्'[386] सूत्र के भाष्य में कहा गया है-
''मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं'' ''पादोस्य विश्वा भूतानि'' इति मन्त्रवर्णश्च शिवांशो जीव: ... तस्मान्मायिन: परमशिवावयवलेश: पुरुषो जीव:।'[387] इन श्रुतिवाक्यों द्वारा जीव को शिवांश एवं शिव के अवयव रूप में प्रतिपादित किया गया है। 'सिद्धान्तशिखामणि' में भी इसी भाव का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *'अनाद्यविद्यासम्बन्धात् तदंशो जीवनामक:।'*[388]
अनादि अविद्या के सम्बन्ध से जीव परम शिव का अंशभूत है। पराशर आदि भी प्रभा-प्रभावान् तथा शक्ति-शक्तिमान् के रूप में जीव-ब्रह्म का अंशांशित्व मानते हैं।[389]
'अपि च स्मर्यते'(ब्र.सू.२/३/४२) के भाष्य में भी जीव का 'अंशत्व' भाव दृष्टिगोचर होता है।[390]
जीव के इसी 'अंश' भाव का निर्देश 'प्रकाशादिवत्तु नैवं पर:'(ब्र.सू.२/३/४३) के भाष्य में द्रष्टव्य है- *'प्रकाशादिवज्जीव: परमात्मनोंश:। यथाग्न्यादित्यादेर्भास्वतो भारूप: प्रकाशोंशो भवति। यथागवाश्व शुक्लकृष्णादिनां गोत्वादि विशिष्टानां वस्तूनां गोत्वादि स विशेषणान्यंशा:। यथा वा देहिनो देवमनुष्यादिर्देहेंश:, तद्वत् एकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वं। विशिष्टैकस्य वस्तुनो विशेषणमंश एव। तथा च विवेचका: विशिष्टेवस्तुनि विशेषणांशोयं विशेष्यांशोयमिति*

385 वही.

386 ब्र.सू. २/३/४१

387 ब्र.सू.श्रीकरभाष्य, २/३/४१

388 सि.शि. ५/३४

389 *'प्रभाप्रभावद्द्रूपेण शक्तिशक्तिमद्द्रूपेण चांशांशिभावं जीवब्रह्मणो: पराशरादय: स्मरन्ति।'* (श्रीकरभाष्य, २/३/४४)

390 *''तस्यैवांशो जीवलोको हृदये प्राणिनां स्थित:। विस्फुलिङ्गायथावह्नौ जायन्ते काष्ठयोगत:'' इति शिवगीतायां। ''ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:'' इति कृष्णगीतायाञ्च जीवानामीश्वरांशत्वं तद्बहुत्वं चोपदिष्टं।''* (वही, २/३/४२)

व्यपदिशन्ति। विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते। एवं जीवपरयो-र्विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वं स्वभावभेदश्चोपपद्यते।'[391]
अर्थात् प्रकाशादि के समान जीव, परमात्मा का 'अंश' है। जिस प्रकार अग्नि, आदित्य आदि का भाषित होता हुआ प्रकाश उसका 'अंश' है, जिस प्रकार गो, अश्वादि का शुक्ल, कृष्णादि रूप विशिष्ट वस्तु गोत्वादि का विशेषण होने से 'अंश' है तथा जिस प्रकार देव, मनुष्यादि देह, देहि का 'अंश' है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म का एकदेशव्यापी 'अंश' है। एक वस्तु की एकदेशता 'अंशत्व' कहलाती है, अत: एक विशिष्ट वस्तु का विशेषण उसका 'अंश' ही है। इस प्रकार विवेचक गण विशिष्ट वस्तु में यह विशेषण अंश है, यह विशेष्य अंश है, ऐसा व्यपदेश करते हैं। विशेषण-विशेष्य का अंशांशित्व होने पर भी स्वभावगत विलक्षणता देखी जाती है, उसी प्रकार जीवेश्वर में विशेषण-विशेष्य का अंशांशित्व स्वभावभेद को बताता है। इस प्रकार इस चिन्तन में जीव-परमेश्वर के गुणधर्म के वैलक्षण्य से दोनों में अत्यन्त भिन्नता और अत्यन्त अभिन्नता न होने के कारण अंशांशि-भाव द्वारा भेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए भेद-अभेद परक श्रुतिवाक्यों का समन्वय किया गया है।

5.9.5.2. तत् एवं त्वम् पदों के मध्य भेदाभेद-सम्बन्ध

इस चिन्तन में जीव और ब्रह्म के मध्य आत्यन्तिक भेद और आत्यन्तिक अभेद का निराकरण करते हुए भेदाभेद माना गया है। 'अंशो नानाव्यपदेशात्'(ब्र.सू.२/३/४०) में श्रुतिप्रमाण के आधार पर भेदाभेद का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का मत द्रष्टव्य है- *''द्वासुपर्णेत्यादि'' श्रुतौ जीवब्रह्मणोर्भेदव्यपदेशात्। "तत्त्वमस्या"दि श्रुतावभेद व्यपदेशाच्च जीवब्रह्मणोर्भेदाऽभेद एवाङ्गीकर्तव्य:।'*[392] अर्थात् ''द्वासुपर्णेत्यादि'' श्रुति में जीव और ब्रह्म के भेद का कथन किया गया है तथा "तत्त्वमस्या"दि श्रुति में अभेद का निर्देश प्राप्त होने से जीव-ब्रह्म का भेदभेद स्वरूप ही अभ्युपगम है। इस सम्बन्ध में 'दृष्टान्त-पद्धति' का उपयोग करते हुए 'अहि-कुण्डल' एवं 'सूर्य और उसकी प्रभा' के दृष्टान्त द्वारा भाष्यकार का कथन है-
'कुण्डलीभूत सर्पस्य दीर्घीभूत सर्पस्य च प्रभाकरप्रभायान्तन्मण्डलस्य च ह्रस्व दीर्घत्व व्यापकत्व परिच्छिन्नत्ववत् जीवेश्वरयोश्चित्तैकत्वेप्यणुत्व विभुत्वात्मक विरुद्धस्वभावत्वाद्भेदाऽभेदोह्य-विरूद्ध:। तस्माज्जीवेश्वरयोस्संसारदशायां भेदो मोक्षदशायामभेदश्च भ्रमरकीटवदुपदिश्यते।' [393]

---

391 वही, २/३/४३

392 वही.

393 वही, १/२/८

जैसे- सर्प के एक होने पर भी उसके दीर्घीभूत-अवस्था और कुण्डलीभूत-अवस्था में भेदाभेद माना गया है, जैसे- सूर्य और उसकी किरणों में भेद और अभेद दोनों माना गया है, वैसे ही जीवेश्वर में चैतन्य की एकता होने पर भी अणुत्व विभुत्व आदि विरुद्ध स्वभाव से भेदाभेद अविरूद्ध है। अर्थात् जीवेश्वर का विरूद्ध गुणधर्म होने पर भी भेद-अभेद में उसका सामञ्जस्य हो जाता है। इसी कारण से जीवेश्वर का संसारित्व की अवस्था में भेद तथा मोक्षावस्था में अभेद का उपदेश किया गया है।

इसी क्रम में 'नानाव्यपदेशादन्यथाचापि' की व्याख्या करते हुए भाष्यकार का मत है- *'नानाव्यपदेशादन्यथाचैकत्वेन व्यपदेशादुभयथाहि व्यपदेशो दृश्यते। नानाव्यपदेशस्तावत्स्रष्टृत्व सृज्यत्व नियन्तृत्व नियाम्यत्व सर्वज्ञत्वाज्ञत्व स्वाधीनत्व पराधीनत्व शुद्धत्वाशुद्धत्व कल्याणगुणाकरत्व तद्विपरीतत्व पतित्व शेषत्वादिभिर्दृश्यते। अन्यथाच अभेदेन व्यपदेशोऽपि "तत्त्वमसि" "अयमात्माब्रह्मे"त्यादिभिर्दृश्यते।'* अर्थात् भेद-अभेद उभयरूप व्यपदेश से ब्रह्म-जीव का भेदाभेद सिद्ध करते हुए आचार्य का कथन है कि स्रष्टृत्व-सृज्यत्व, नियन्तृत्व-नियाम्यत्व, सर्वज्ञत्व-अल्पज्ञत्व, स्वाधीनत्व-पराधीनत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व, कल्याणगुणाकरत्व, पतित्व, शेषत्वादि रूप में ब्रह्म-जीव के भेद का निर्देश तथा "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा अभेद का निर्देश किया गया है। अत: इस रूप में भाष्यकार द्वारा भेदाभेद की सिद्धि करते हुए अग्निविस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों के माध्यम से यह बताया गया है कि जैसे अग्नि के अग्न्यांशों का अत्यन्त भेद या अत्यन्त अभेद न होकर वस्तुत: भेदाभेद होता है, वैसे ही जीव-शिव का भेदाभेद रूप सम्बन्ध है। यह भेदाभेद-सम्बन्ध कार्य-कारण दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है।[394]

5.9.5.3. कारण-कार्य भाव सम्बन्ध

'तत्' (ब्रह्म) और 'त्वं' (जीव) की व्याख्या के सन्दर्भ में दोनों में कारण-कार्य भाव मानते हुए 'आरम्भणाधिकरण' में भाष्यकार का कथन है- *'तदनन्यत्वं "शक्तिशक्तिमतोरभेद" इति न्यायसिद्धशिवशक्तिसामरस्यता। तयो: स्वशक्त्यांशप्रपञ्चस्य शक्तस्य परमशिवस्य अनन्यत्वं। मृद्घटादिवत्कार्यकारणयोरभिन्नत्वमङ्गीकर्तव्यं। कुत:? आरम्भणशब्दादिभ्य:। "वाचारम्भणं*

---

394 *'कार्यावस्था कारणावस्थयोरपि जीवेश्वरयोर्भेदाभेदत्वं प्रचक्षते। कार्यावस्थेतु स्वशक्तिपरिणामत्वेनाभेदत्वं, स्वनियामकत्वेन स्वभिन्नत्वं। कारणावस्थायामपि स्वान्तर्लीनत्वेन अभेदत्वं, स्वकर्मानुस्यूतत्वेन ग्रीष्मकाले भूतृणादिवत्सूक्ष्मरूपेणस्थितत्वात्स्वभिन्नत्वं सिद्धम्।'* (वही,२/३/१६)

विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" "सर्वो वै रुद्र:" "यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्यते च" इत्यादि श्रुतिभ्य: ब्रह्मशक्त्युपादानस्य प्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वमुपदिष्टं।'[395]
वीरशैव-चिन्तन में शक्ति-शक्तिमान के अभेद-न्याय से शिव के अंशभूत प्रपञ्च तथा शिव में मृत्तिका एवं घट की तरह कारण-कार्य रूप में अभिन्नत्व अङ्गीकरणीय है। आरम्भणादि शब्दों से यह ज्ञात होता है, श्रुति में कहा गया है कि "विकार तो वाणी से आरम्भ (उत्पन्न) होने वाला नाममात्र है, सत्य तो केवल कारणभूत मृत्तिका ही है", "जगत् में विद्यमान चराचर सब कुछ रूद्र है" "मकड़ी तन्तुचक्र को स्वयं में स्थित रखती है और जाले के रूप में सृजन करती है" इत्यादि श्रुतिवाक्यों से ब्रह्मशक्ति के उपादान से जीव-जगत् का ब्रह्मात्मकत्व उपदिष्ट है। इसी क्रम में मकड़ी के दृष्टान्त द्वारा कारण-कार्य के अभिन्नत्व की व्याख्या करते हुए 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य:'[396] सूत्र में भाष्यकार का कथन है-
"यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्यतेचेत्यत्र" यथोर्णनाभिजन्तुस्स्वकार्यतन्तुचक्रं कारणावस्थायां नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मरूपेण स्वस्मिन्निधाय कार्यावस्थायां नामरूपविभागार्हस्थूलरूपेण प्रकटीकरोति। तथा परमेश्वरश्चिदचिदात्मकं प्रपञ्चं प्रलयावस्थायां सूक्ष्मरूपेण स्वस्मिन् संस्थाप्य सृष्टिकाले स्थूलात्मकत्वेन प्रकाशयति। अत: कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्धं।'[397]
अर्थात् "यथोर्णनाभिस्सृजते गृह्यते च" इस श्रुतिवाक्य द्वारा कार्य-कारण भाव रूप में जीवेश्वर के अनन्यत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मकड़ी कारण की अवस्था में तन्तुचक्र (जाले) को नामरूप विभाग रहित सूक्ष्म रूप में स्वयं में धारण करती है तथा कार्य की अवस्था में नामरूप विभाग द्वारा उसे स्थूल रूप में प्रकट करती है, उसी प्रकार परमेश्वर चिदचिदात्मक प्रपञ्च को प्रलय की अवस्था में सूक्ष्म रूप में स्वयं में धारण करते हुए सृष्टिकाल में स्थूल रूप में प्रकाशित करता है। इस प्रकार कार्य-कारण रूप जीवेश्वर का अनन्यत्व सिद्ध होता है। इसी भाव का प्रतिपादन रेणुकाचार्य कृत 'सिद्धान्तशिखामणि' में भी किया गया है-

शिवतत्त्वात्समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते।

फेनोर्मिबुद्बुदाकारो यथा सिन्धोर्नभिद्यते॥[398]

अर्थात् जिस प्रकार सिन्धु से उत्पन्न फेन, उर्मि एवं बलबुले उस सिन्धु से भिन्न नहीं होते, उसी प्रकार ब्रह्म से समुत्पन्न यह जीव-जगत् ब्रह्म से भिन्न नहीं है। इसी क्रम में कार्य-कारण के

---

395 वही, २/१/१४

396 ब्र.सू. २/१/१४

397 वही, भा. २/१/१४

398 सि.शि. श्लोक, १०

अनन्यत्व के सम्बन्ध में 'भावेचोपलब्धेः'[399] सूत्र का भाष्य दर्शनीय है- *'भावपदं कारणसत्ता वाचकं। उपलब्धिपदं कार्यसत्ता वाचकं। चकारपदं तदुभयसामरस्य सत्ताबोधकमुपदिष्टं। ..."ऐतदात्म्य"मिति ब्रह्मकार्यप्रपञ्चस्य ब्रह्मात्मकत्वं जीवानामपि सत्यब्रह्मप्राप्यत्वं च दर्शनात्। लोके घटादिकार्यसद्भावे च कारणभूतमृत्पिण्डोपलब्धेः "अयं घटः मृदेवे"ति मृदात्मकत्वेन प्रत्यभिज्ञानाच्च कार्यकारणयोरनन्यत्वं युक्तं।'*[400]

अर्थात् इस सूत्र में प्रयुक्त 'भाव' पद कारण सत्ता वाचक, 'उपलब्धि' पद कार्य सत्ता का वाचक तथा चकार पद दोनों (कारण-कार्य) के सामरस्यता का बोधक है। "ऐतदात्म्यम्" श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्म कार्य प्रपञ्च का ब्रह्मात्मकत्व तथा जीवों का भी सत्य ब्रह्म प्राप्यत्व का दर्शन होने से कार्य-कारण का अनन्यत्व कहा गया है। लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि घटादि कार्य के सद्भाव में कारणभूत मृत् पिण्ड की उपलब्धि होने से 'यह घट मृत्तिका ही है'। अतः मृदात्मकत्व रूप में प्रत्यभिज्ञा होने से कार्य-कारण का अनन्यत्व कहा गया है।

इसी क्रम में 'सत्त्वाच्चापरस्य'(ब्र.सू.२/१/१६) में श्रुतिप्रमाण के आधार पर जगत् की सत्यता एवं अनन्यता का प्रतिपादन करते हुए आचार्य श्रीपति का कथन है-

''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'' "आत्मा वा इदमग्र आसीत्। ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतिषु। अपरस्य कार्यस्य चेतनाचेतनात्मकप्रपञ्चस्य कारणे ब्रह्मणि सत्त्वाच्च तस्मात्कारणात्कार्यस्य अनन्यत्वं। लोके सर्वमिदं घटशरावादिकं पूर्वावस्थायां मृदात्मकत्वमेव भाति। अतो न विरोधः।'[401]

अर्थात् ''सदेव सौम्येदमग्र आसीत्'' "आत्मा वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि श्रुतिवाक्यों में तथा चेतन-अचेतनात्मक प्रपञ्च रूप कार्य का कारणरूप ब्रह्म में सत् रूप में विद्यमान होने से कार्य-कारण का अनन्यत्व है। लोक में भी घट, शरावादि उत्पत्ति से पूर्व मृदात्मक ही प्रतीत होते हैं, अतः कार्य-कारण के अनन्यत्व में विरोध नहीं है।[402] इसी सम्बन्ध में भाष्यकार द्वारा दृष्टान्त-पद्धति का उपयोग करते हुए कूर्म एवं पट के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म से जीव-जगत् का अनन्यत्व बताया गया है-

'यथा कूर्मस्स्वशक्त्या स्वपादाद्यवयवानि स्वेच्छया बहिर्गतानि कृत्वा पुनः स्वात्मनिवेशनं करोति। तथा परमशिवस्सृष्टिकाले नामरूपविभागत्वेन बहिः प्रकटीकृत्य प्रलये स्वात्मनि

---

399 ब्र.सू. २/१/१५

400 वही, श्रीकरभाष्य

401 वही, २/१/१६

402 *'यथा मृदात्मना सत्वेपि मृदैकांशेन घटशरावात्मकत्वेन परिणामेऽपि मृदात्मकत्वं न विरुद्ध्यते तथा परमेश्वरस्यापि स्वशक्त्यैकांशत्वेन जगदात्मनापरिणामोऽपि जगदनन्यत्वं न विरुद्ध्यते।'* (श्रीकरभाष्य, २/१/१९)

स्वभिन्नत्वेन चिदचिदात्मकप्रपञ्चं गोपयति। ... प्रलयावस्थायां प्रपञ्चस्य संकुचितत्वं सृष्टिकाले विकासकत्वञ्च स्पष्टमुपदिष्टं।'[403]

अर्थात् जैसे कूर्म अपने संकल्प शक्ति से स्वेच्छानुसार हस्त, पादादि अवयवों को बाहर निकालता है और पुन: अन्दर समेट लेता है, वैसे ही परम शिव सृष्टि काल में स्वेच्छानुसार अपने को नाम-रूप विभाग द्वारा प्रकट करता है तथा प्रलय काल में चिदचिदात्मक प्रपञ्च को स्वाभिन्नत्व रूप में अपने अन्दर समाहित करता है। इस प्रकार भाष्यकार द्वारा प्रलयावस्था में जगत्प्रपञ्च का संकुचितत्व तथा सृष्टि काल में विकासकत्व स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट है। इसी क्रम में कार्य-कारण का अभिन्नत्व पट के दृष्टान्त द्वारा द्रष्टव्य है-

'यथा पटस्य कदाचित्संकुचितावस्था कदाचिद्विकासावस्था च विलक्षणप्रतीति विषयत्वेन दृश्यते। तद्वत्परमशिवशक्ति संकुचितावस्था कारणं शक्तिप्रसारितावस्था कार्यं। यथा पटस्य वेष्टितप्रसारितभेदेप्यभेद: तथा कार्यकारणयोर्मृद्घटादिवदभेद:।'[404]

अर्थात् जिस प्रकार पट की कभी संकुचित अवस्था तथा कभी विकास की अवस्था, इस रूप में विलक्षण प्रतीति देखी जाती है, उसी प्रकार परम शिव-शक्ति की संकुचित अवस्था 'कारण' तथा शक्ति रूप विकास की अवस्था 'कार्य' है। जैसे- वस्त्र के संकुचित-प्रसारित अवस्थाओं में भेद होने पर भी अभेद है, वैसे ही कार्य-कारण का मृत्तिका-घटादि के समान अभेद है। इसी क्रम में 'यथा च प्राणादि' (ब्र.सू.२/१/२०) में वायु के दृष्टान्त द्वारा कार्य से कारण की अनन्यता का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का कथन है-

'यथा वायुरेक: प्राणापानादि वृत्तिभेदेन नामरूपात्मककार्यभेदं भजते, तद्वत्परमशिव एव स्वशक्तिमहिम्ना चिदऽचिदात्मक प्रपञ्चरूपेण भासमानोप्यनन्य एव। यथा शिवयोगी परमशिवध्यानकाले प्राणायामादिना प्राणापानादि वायुसङ्कोचनं करोति, व्यवहारकाले प्रसारणादि कार्यं करोति तद्वत्परमेश्वरस्सृष्टिकाले जगत्प्रसारणं प्रलयकाले तदाकुञ्चनं करोति तस्मात्परमकारणपरशिवात्कार्यरूपं जगदन्यमिति सिद्धम्।'[405]

अर्थात् जिस प्रकार एक ही वायु प्राण, अपानादि नाम-रूप के भेद से कार्यभेद को प्राप्त होता है, उसी प्रकार परमशिव अपनी शक्ति द्वारा चिदचिदात्मक प्रपञ्च रूप में भासमान होता है। जैसे- एक शिवयोगी परमशिव के ध्यानकाल में प्राणायाम के द्वारा प्राण, अपानादि वायु का संकोच करता है तथा ध्यान के अनन्तर व्यवहार काल में वायु का प्रसारण करता है, वैसे ही परमेश्वर सृष्टिकाल में जगत् का प्रसारण तथा प्रलयकाल में उसका स्व में संकोच करता है। अत: इस विवेचन से परमकारण परशिव से कार्यरूप जगत् का 'अनन्यत्व' सिद्ध होता है।

---

403 वही, २/१/१८

404 वही, २/१/१९

405 वही, २/१/२०

इस प्रकार शक्तिविशिष्टाद्वैत-चिन्तन में भाष्यकार आचार्य श्रीपति द्वारा 'कार्य-कारण भाव', 'विशेषण-विशेष्य भाव' और 'अंश-अंशी भाव' के माध्यम से 'भेदाभेद' का प्रतिपादन किया गया है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में यह भेदाभेद-सम्बन्ध ही उपास्य-उपासक, सेव्य-सेवक और भगवान्-भक्त के सम्बन्ध का अस्तित्व प्रमाणित करता है।

5.10. शैवाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य का अर्थ-निर्धारण

इस सिद्धान्त के प्रमुख आचार्य श्रीकण्ठ हैं। आचार्य श्रीकण्ठ का सिद्धान्त 'शैवाद्वैत' के रूप में प्रसिद्ध है। ब्रह्मसूत्र पर इन्होंने 'शैव-भाष्य' का प्रणयन किया। इस चिन्तन में ब्रह्म को 'शिव' रूप में व्याख्यायित किया गया है। अत: जीव-जगत् के सम्बन्ध में परब्रह्म शिव ही उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय और मुक्ति का हेतु है। जगत् का निमित्तोपादान कारण 'शिव' ही है। इस सम्प्रदाय जीव का शिव के साथ सह-अस्तित्व होने से जीव को ब्रह्म का 'अंश' कहा गया है-

'तस्माज्जीवो ब्रह्मणोंऽशभूत एव तत्स्वरूपं प्रतिपद्यते।'[406] इसी सम्बन्ध में 'शिवार्कमणि-दीपिकाव्याख्या' में कहा गया है- *'पारमार्थिके सत्येव विशेषणत्वेन विशिष्टैकदेशतया परमेश्वरांशो जीव इति।'*

आचार्य श्रीकण्ठ को शिव एवं जीव में 'उपास्य-उपासक भाव' एवं 'व्यापक-व्याप्य भाव' सम्बन्ध मान्य है। इस चिन्तन में 'व्याप्य-व्यापक भाव' द्वारा जीवेश्वर का 'अभिन्नत्व' बताया गया है- *'जीवब्रह्मणोर्व्याप्यिव्यापकभावेनानन्यत्वम्।'*[407] इसी क्रम में ऐक्य का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है- *'जीव एव ब्रह्म स च सर्वेषामसन्दिग्धाविपर्यस्तप्रत्यक्षानुभव सिद्धः।'*[408] जगत् शिव की चित् शक्ति का परिणाम है। जब ब्रह्मज्ञान द्वारा अविद्या का क्षय हो जाता है, तब जीव 'शिव' हो जाता है। अविद्यारूपी पशुत्व की निवृत्ति के विना जीव 'शिवत्व' की प्राप्ति नहीं कर सकता। अत: मुमुक्षु साधक का एकमात्र ध्येय 'शिवत्व' की प्राप्ति बताया गया है। यहाँ शिवात्मकता ही 'मोक्ष' है।

---

406 शै.भा. २/३/४२

407 वही.

408 शिवार्कमणिदीपिकाव्याख्या, पृ. ८

5.10.1. तत्त्वमसि श्रुतिवाक्य का शैव-सम्मत अर्थ-निर्धारण में रामानुज प्रतिपादित शरीर-शरीरि भाव द्वारा सादृश्य रूप अभेदार्थ का खण्डन

ब्रह्मसूत्रश्रीकण्ठभाष्य पर शिवार्कमणिदीपिकाव्याख्या की भूमिका में 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्यार्थ-निश्चय के सम्बन्ध में आचार्य रामानुज प्रतिपादित 'शरीर-शरीरि भाव' द्वारा सादृश्य रूप अभेदार्थ का शिवार्कमणिदीपिकाकार आचार्य अप्पयदीक्षित द्वारा खण्डन किया गया है। विशिष्टाद्वैत-चिन्तन में जीव के नित्य होने के कारण मुक्ति की अवस्था में भी जीव का जीवत्व बना रहता है, इस कारण से 'तत्' एवं 'त्वम्' में पूर्णत: अभेद नहीं हो सकता, जबकि शैव-चिन्तन में अनवरत 'शिवोऽहं' की भावना द्वारा पाश की निवृत्ति के अनन्तर जीव 'शिव' हो जाता, अत: यहाँ 'तत्' एवं 'त्वम्' के सम्बन्ध में जीवेश्वर में पूर्णत: अभेद स्वीकार किया गया है। इस कारण से 'तत्त्वमसि' महावाक्य के सम्बन्ध में प्रतिपादित आचार्य रामानुज के मत का खण्डन किया गया है।

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के अर्थ-निर्धारण एवं जीवेश्वर-सम्बन्ध के प्रसंग में पूर्वपक्ष का कथन है- *'तत्र हि 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षि' इत्यादिश्रुति 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' (ब्र.सू. २/१/२२) सूत्रेषु प्रत्यगात्मन: पशोर्जीवात्पत्यु: परब्रह्मणोऽधिकत्वेन निरुपितत्वादज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिगुणै-र्न्यूनाधिकभावस्य संप्रतिपन्नत्वाच्च मुमुक्षुभिर्ब्रह्मोपासनं स्वशेषित्वादिप्रकारेण स्वभिन्नतयैव कार्यं न तु स्वात्मतयेति।'*[409]

अर्थात् 'विश्वाधिको रुद्रो महर्षि' श्रुतिवाक्य एवं आत्मत्येवोपासनाधिकरण के 'अधिकं तु भेदनिर्देशात्' सूत्र के आधार पर पशु रूप जीव से पति रूप परब्रह्म (शिव) के अधिक व्यापक होने से एवं अल्पज्ञ-सर्वज्ञत्वादि गुणों के न्यूनाधिक्य भाव से जीवेश्वर में भेद प्रतीत होता है। अत: जीव-ब्रह्म में भेद उपपन्न होने से मोक्ष की इच्छा वाले साधक को स्वशेषित्व प्रकार से ब्रह्म को अपने से भिन्न रूप में मानकर ही ब्रह्मोपासना करनी चाहिए, न कि स्वात्मतया (अपने से अभिन्न मानकर)- ऐसा पूर्वपक्ष का अभिमत है।

इस सम्बन्ध में पूर्वपक्षी के मत के निराकरण हेतु शिवार्कमणिदीपिकाकार का कथन है- *'यद्यपि जीवादधिकमेव शिवाख्यं परं ब्रह्म तथाप्युपासिता 'अहं ब्रह्मास्मि' इति तदुपासीत, यत: पूर्वेऽप्युपासितार: 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' इत्यात्मेत्येवावगच्छन्ति। उपासितुरर्थान्तरत्वेऽपि तानुपासितॄननुगृह्णाति स्वस्वरूपतया परं ब्रह्म, ते च पुन: स्वात्मतया ग्राहयन्ति च परानपि शिष्यान् 'तत्त्वमसि' इत्यादिना।'*[410]

---

409 शिवार्कमणिदीपिकाव्याख्या, भूमिका, पृ. ८

410 वही, पृ. ८-९

यद्यपि जीव से अधिक व्यापक शिव रूप परब्रह्म है, तथापि उपासक 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में उसकी उपासना करते हैं। इससे पूर्व भी उपासक-परम्परा द्वारा 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' इस रूप में आत्मा को ही ब्रह्म मानकर स्वात्म रूप में बोध किया गया। उपास्य के भिन्न होने पर भी उपासक उसको स्व स्वरूपतया परब्रह्म के रूप में ग्रहण करते हैं और अपने शिष्यों को भी उसी रूप में स्वात्मतया 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्यों द्वारा ग्रहण कराते हैं। इसी क्रम में व्याख्याकार का कथन है- *'अत्र 'तत्त्वमस्यादि'वाक्यानाम-भेदार्थत्वप्रदर्शनेन प्रागुक्तं शरीरशरीरिभावकृतापृथक्सिद्धयर्थत्वं प्रत्याख्यातमिति स्पष्टमेव। तदुपपादनार्थमेव 'त्वं वा अहमस्मि' इति जाबालवाक्यमुदाहृतम्।'*[411]

यहाँ तत्त्वमस्यादि वाक्यों के अभेदार्थ कथन से पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित शरीर-शरीरि भाव कृत अपृथक्-सिद्ध रूप अर्थ का प्रत्याख्यान (निराकरण) स्पष्ट रूप से हो जाता है। इस तथ्य के उपपादन के लिए ही 'त्वं वा अहमस्मि' ऐसा जाबालवाक्य कहा गया है।

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष द्वारा प्रतिपादित सादृश्य रूप अभेदार्थ के निराकरण के सम्बन्ध में आचार्य अप्पयदीक्षित का कथन है- *'यदि शरीरशरीरिभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यं तदानीम् 'अहं वै त्वमसि' इति निर्देश एवोपपद्यते। त्वंशब्दनिर्दिष्टे परमेश्वरे स्वशरीरकत्वपर्यन्तस्याहं शब्दस्य वृत्त्युपपत्तेः। 'त्वं वा अहमस्मि' इति निर्देशस्तु नोपपद्यते। अहंशब्दनिर्दिष्टे परमेश्वरशरीररूपे स्वस्मिन्परमेश्वरवाचिनस्त्वं शब्दस्य वृत्त्यनुपपत्तेः। शरीरवाचिनां हि शरीरिपर्यन्तत्वं व्युत्पत्तिसिद्धं न तु शरीरिवाचिनां शरीरपर्यन्तत्वम्। अतो भेदाभेदशंकानिराकरणेनाभेददार्ढ्यार्थं परस्पराभेद एवात्र बोध्यः।'*[412]

'तत्त्वमसि' महावाक्य के सन्दर्भ में शरीर-शरीरि भाव निबन्धन में यदि सामानाधिकरण्य माना जाये तो 'अहं वै त्वमसि' ऐसा निर्देश उपपन्न होता है। 'त्वं' शब्द निर्दिष्ट परमेश्वर में अहं (स्वशरीरकत्व पर्यन्त का बोधक जीव) शब्द की वृत्ति उपपन्न होती है, किन्तु 'त्वं वा अहमस्मि' इस वाक्य में 'अहं' शब्द के निर्देश में त्वं (परमेश्वर) की वृत्ति अनुपपन्न होती है। 'अहं' शब्द निर्दिष्ट परमेश्वर शरीर रूप 'जीव' में परमेश्वरवाची 'त्वं' शब्द की वृत्ति उपपन्न नहीं होती। शरीरवाची का शरीरिपर्यन्त वृत्ति तो व्युत्पत्तिसिद्ध है, किन्तु शरीरिवाची का शरीरपर्यन्तत्व नहीं। इस तथ्य को लौकिक दृष्टान्त द्वारा भी समझा जा सकता है, जैसे- नदियों की प्रवृत्ति समुद्र में उपपन्न हो जाती है, किन्तु समुद्र की नदी में नहीं, क्योंकि 'समुद्र' शब्द के कथनमात्र से उसके स्वरूप (विशालता, व्यापकता) का बोध होता है। अत: 'समुद्र' की परिणति 'नदी' में सम्भव नहीं है, उसी प्रकार शरीरि (ब्रह्म) के कथनमात्र से उसकी सर्वज्ञता, स्वातन्त्र्य शक्ति एवं व्यापकता का बोध होने से उसकी परिणति 'अहं' शब्द निर्दिष्ट 'जीव' में सम्भव नहीं है,

---

411 वही, पृ. ९

412 वही.

इसी कारण से व्याख्याकार ने *'शरीरवाचिनां हि शरीरिपर्यन्तत्वं व्युत्पत्तिसिद्धं न तु शरीरिवाचिनां शरीरपर्यन्तत्वम्'* यह वाक्य कहा। अत: भेदाभेद शंका के निराकरण द्वारा अभेदार्थ की दृढ़ता हेतु जीवेश्वर में परस्पर अभेद का ही बोध करना चाहिए।

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के अर्थ-निर्धारण सम्बन्ध में पूर्व कथित दोनों वाक्यों की एकार्थरूपता का निराकरण करते हुए व्याख्याकार का कथन है- *'न च वाक्यद्वयेऽपि त्वंशब्दौ प्रस्तुतगुणविशिष्टपरमेश्वरविषयौ अहंशब्दौ स्वशरीरकत्वविशिष्टपरमेश्वरविषयाविति वाक्यद्वयमपि एकरूपार्थपरमिति वाच्यम्। तदानीं 'त्वं वा अहमस्मि' 'अहं वै त्वमसि' इति व्यवस्थितयुष्मदस्मच्छब्दपौर्वापर्यास्म्यसिशब्दप्रयोगकृतवाक्यद्वयवैलक्षण्यवैयर्थ्यापत्ते: , एकेनैव वाक्येन स्वान्तर्यामिण: परमेश्वरस्य चाभेदसिद्धौ वाक्यान्तरवैयर्थ्यापत्तेश्च। न चाभेदप्रतिपत्तिदार्ढ्यार्थं वाक्यद्वयं, जीवपरमेश्वरयोरिवान्तर्यामिपरमेश्वरयोर्भेदभ्रान्त्यभावेन तद्दार्ढ्यापादनस्यानपेक्षितत्वात् इत्येवं प्रकारेण तत्र जीवपरमेश्वराभेदार्थकत्वं स्पष्टम्। अतस्तदनुसारेण तत्त्वमस्यादिवाक्यानामप्यभेदार्थकत्वमेव युक्तमित्येवं तदुपपादनं कृतं भवति।'*[413]

अर्थात् 'त्वं वा अहमस्मि', 'अहं वै त्वमसि' इन दोनों वाक्यों में 'त्वं' शब्द प्रस्तुत गुण विशिष्ट परमेश्वर का बोधक तथा 'अहं' शब्द के स्वशरीरकत्व विशिष्ट परमेश्वर (जीव) का बोधक होने से ये दोनों वाक्य एकरूपार्थक हैं अर्थात् इन दोनों वाक्यों की परिणति अन्तत: एक ही अर्थ में होती है-ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों वाक्यों को एकार्थक मानने पर 'त्वं वा अहमस्मि', 'अहं वै त्वमसि' इन वाक्यों में युष्मद्, अस्मद् शब्द के 'अस्मि', 'असि' रूप में पौर्वापर्य की जो व्यवस्था है और उस व्यवस्था द्वारा दोनों वाक्यों की जो विलक्षणता है, वह व्यर्थ हो जायेगी। एक ही वाक्य द्वारा स्वान्तर्यामि (जीव) और परमेश्वर की अभेद सिद्धि मानने पर दूसरा वाक्य व्यर्थ हो जायेगा। अभेद प्रतिपत्ति की दृढ़ता हेतु ये दोनों वाक्य प्रयुक्त हुए हैं- ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। अत: जीव-परमेश्वर की तरह अन्तर्यामि-परमेश्वर में भेद भ्रान्ति के अभाव (अभेद) होने से उस अभेद की दृढ़ता हेतु प्रयास अनपेक्षित है। इस प्रकार इस विवेचन से 'त्वम्' एवं 'तत्' पद बोध्य जीव-परमेश्वर का अभेदार्थकत्व सिद्ध होता है। अत: 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा व्याख्याकार को 'जीवब्रह्मैक्य' रूप अभेदार्थ अभिप्रेत है-

'अतस्तत्त्वमसिवाक्यं जीवब्रह्माभेदपरमित्येव युक्तम्। एतत्सर्वमभिप्रेत्यैव भाष्यकारा: तस्मिन्नधिकरणे 'ते च पुन: स्वात्मतया ग्राहयन्ति परानपि शिष्यान् 'तत्त्वमसि' इत्यादिनेत्ये- तदनन्तरं 'निरवधिकपरमानन्दमयनिष्कलंकशिवत्वप्राप्तिर्हि मुक्ति:। शिवत्वप्राप्तिरात्मन: पशुत्व निवृत्तिमन्तरेण न भवति। पशुत्वनिवृत्तिश्च न तद्भावनां विना। अतो निरन्तरं

---

413 वही.

शिवोऽहमिति भावनाप्रवाहेण शिथिलितपाशतयापगतपशुभावः उपासकश्शिव एव भवति' इति ग्रन्थसन्दर्भेण शिवाभेदभावनां विना न मुक्तिरिति व्यवस्थापयामासुः।'[414]
अर्थात् 'तत्त्वमसि' महावाक्य जीव-ब्रह्म सम्बन्धी अभेदपरता को बताता है। अभेदपरक अर्थ अभिप्रेत होने के कारण ही भाष्यकार द्वारा 'आरम्भणाधिकरण' में *'ते च पुनः स्वात्मतया ग्राहयन्ति परानपि शिष्यान्'* 'तत्त्वमसि' इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा अभेद का कथन किया गया है। इसी अभेदार्थ के क्रम में मुक्ति के स्वरूप को बताते हुए भाष्यकार का कथन है- निर्विशिष्ट (अवयव रहित), परम आनन्दमय, निष्कलंक शिवत्व की प्राप्ति ही मुक्ति है। आत्मा से पशुत्व की निवृत्ति के विना 'शिवत्व' की प्राप्ति नहीं हो सकती। पशुत्व की निवृत्ति शिवत्व की भावना के विना नहीं हो सकती। अतः निरन्तर 'शिवोऽहं' की भावना के प्रवाह द्वारा पाश के शिथिल होने से पशुभाव समाप्त होते ही उपासक साक्षात् 'शिव' हो जाता है। इस कथन द्वारा शिव सम्बन्धी अभेद भावना के विना मुक्ति सम्भव नहीं हो सकती- ऐसा भाष्यकार का मत है। इसी क्रम में व्याख्याकार का कथन है- *'अत एव तदन्यस्य मुमुक्षुध्येयत्वं निषिध्यते 'शिव एको ध्येयश्शिवंकरस्सर्वमन्यत्परित्यज्य' इत्यादिश्रुतिषु इति ग्रन्थेनांशाधिकरणे प्रदर्शितं तत्त्वमसि-वाक्यार्थमवलम्ब्य सशेषित्वादिप्रकारेण स्वभिन्नत्वेन ब्रह्मोपासना कार्येतिशंकामितरपरित्याग-श्रुतिविरोधेन निराचक्रुः।'*[415]
मोक्ष के सन्दर्भ में मुमुक्षु का जो ध्येय है, वह अभेदार्थ में है, उससे भिन्न अन्य अर्थ का निषेध करते हुए श्रुति में कहा गया है- *'शिव एको ध्येयश्शिवंकरस्सर्वमन्यत्परित्यज्य'* अर्थात् मुमुक्षार्थी का एकमात्र ध्येय 'शिव' प्राप्ति होना चाहिये। अतः अन्य सभी का परित्याग करते हुए सतत शिव की भावना से पाश निवृत्ति के अनन्तर जीव-शिव में अभेद हो जाता है। इस प्रकार 'अंशाधिकरण' में प्रतिपादित 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्यार्थ का अवलम्बन कर सशेषित्वादि प्रकार से स्वभिन्नतया ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, ऐसा जो पूर्वपक्ष का अभिमत था, उसका परित्यागश्रुति 'शिव एको ध्येयश्शिवंकरस्सर्वमन्यत्परित्यज्य' से विरोध होने के कारण सिद्धान्तपक्ष द्वारा निराकरण किया गया।
'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के तात्पर्य-निश्चय के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष के मत का परिहार करते हुए 'शिवार्कमणिदीपिका' में कहा गया है- *'तत्त्वमस्यादिवाक्यानां शरीरशरीरिभावार्थकत्वाभावे-ऽप्यारोपितभेदोपासनाविधिपरत्वमस्त्विति शंकाञ्च 'निवृत्तब्रह्मणादिदेहाभिमानमयपशु-भावस्य निरतिशयस्वरूपानन्दसाक्षिस्वप्रकाशशिवरूपपराहंभावापत्तिर्मुक्तिः' इति ग्रन्थेना-*

---

414 वही.

415 वही.

रोपितार्थास्पर्शिन्यां मुक्तबुद्धावप्युपासनाकालाभ्यस्ताभेदभावनाप्रकर्षजवासनादार्ढ्यप्रयुक्त-शिवाहंभावानुवृत्त्युक्त्या निराचक्रुः।'[416]

पूर्वपक्ष द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वमस्यादि श्रुतिवाक्यों के शरीर-शरीरि भावार्थकत्व का अभाव मानने पर भी आरोपित 'त्वम्' (जीव) में भेदोपासना विधिपरत्व तो होता ही है- ऐसी शंका के निवारण हेतु व्याख्याकार का कथन है कि देहाभिमानमय पशुभाव की निवृत्ति होने से निरतिशय, स्वरूपानन्द, साक्षि, स्वप्रकाश शिवरूप 'अहं' भाव की प्राप्ति ही मुक्ति है। इस भाव द्वारा मुक्त बुद्धि में आरोपित भेदोपासना का स्पर्श न होने से एवं उपासना काल में अभ्यस्त अभेद भावना के प्रकर्ष से उत्पन्न अभेद वासना की दृढ़ता से जीव में 'शिवोऽहं' भाव की अनुवृत्ति होती है। अत: इस उक्ति से जीव में आरोपित भेदोपासना की शंका का निराकरण किया गया है।

इस प्रकार 'तत्त्वमसि' महावाक्य के तात्पर्य-निश्चय के सम्बन्ध में पूर्वाचार्य द्वारा प्रतिपादित 'सादृश्य[417] रूप अभेद' का खण्डन करते हुए व्याख्याकार द्वारा 'त्वम्' (जीव) एवं 'तत्' (शिव) में पूर्णत: अभेद का प्रतिपादन किया गया है। अत: 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य 'जीवशिवैक्य' रूप अभेद का बोधक है और इसी अर्थ में भाष्यकार का तात्पर्यार्थ निहित है।

5.10.2. कारण-कार्य भाव द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अनन्यत्व

शैव-चिन्तन में ईश्वर (परम शिव) स्वातंत्र्यादि गुणों से सम्पन्न हैं और जीव अस्वातंत्र्यादि गुणों से युक्त है। अत: 'तत्' एवं 'त्वम्' के सम्बन्ध में ब्रह्मसूत्र के 'आरम्भणाधिकरण' में कहा गया है-

'यद्यपि स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्यादिविरुद्धधर्मसम्बन्धेन जीवेश्वरयोर्विभाग उच्यते। तथाऽपि तयो: कार्यकारणयोरनन्यत्वमव्यतिरिक्तत्वं च सिद्ध्यत्वम्।'[418]

यद्यपि ईश्वर और जीव के स्वातन्त्र्य-अस्वातन्त्र्यादि दो विरुद्ध धर्मों से युक्त होने के कारण दोनों में विभाग (भेद) बताया गया है, फिर भी जीवेश्वर का कार्य-कारण का अनन्यत्व और अव्यतिरिक्तत्व (अभिन्नत्व) तो सिद्ध ही है। इस सम्बन्ध में 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य' (ब्र.सू.२/१/१५) का श्रीकण्ठभाष्य द्रष्टव्य है-

'इह कार्यकारणयो: प्रपञ्चब्रह्मणो: समन्वयसिद्धमनन्यत्वं सन्दिह्यते युक्तं न वा इति। सन्देहस्य चेतनाचेतनत्वपरस्परविरुद्धधर्मसम्बन्धवैलक्षण्यं कारणम्। कथमनयोरनन्यत्वमुपपद्यते? पूर्वाधिकरणे सर्वज्ञत्वादिमत्वेन परमेश्वरस्य भोक्तृत्वाज्ञत्वादिना जीवस्य चोभयोर्विभागो निर्दिष्ट:। चिदचिद्वस्तुनोरत्यन्तविलक्षणत्वादनन्यत्वकथा दूरत एव। न हि कार्यकारणत्वमनन्य-

---

416 वही.

417 किसके सदृश, इस रूप में 'सादृश्य' शब्द किसी अन्य की अपेक्षा रखता है।

418 ब्र.सू.श्रीकण्ठभाष्य, आरम्भणाधिकरण ।

त्वसाधकं, गोमयवृश्चिकादौ सत्यपि तस्मिन् वैलक्षण्यदर्शनात्। घटमृत्पिण्डादिष्वप्यर्थक्रियादि-व्यवहारभेदादभेदो नास्त्येव। अथवा- कार्यकारणयोरत्यन्ताभेदे प्रपञ्चब्रह्मणोरखण्डतया सर्वत्र कर्तृकर्मक्रियादिव्यवहारलोप: स्यात्।'[419]

अर्थात् यहाँ कार्यरूप प्रपञ्च (जगत्) और कारणरूप ब्रह्म का जो 'अनन्यत्व' कहा गया है, वह युक्त है अथवा नहीं? यह सन्देह उपस्थित होता है। ब्रह्म और प्रपञ्च जगत् क्रमश: चेतन, अचेतनत्व धर्मों से युक्त हैं, अत: इनकी परस्पर विरुद्ध धर्म सम्बन्ध की विलक्षणता ही संदेह का कारण है। कैसे इन दोनों में 'अनन्यत्व' उपपन्न होता है? पूर्व अधिकरण में सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त परमेश्वर का और भोक्तृत्व, अज्ञत्वादि गुणों से युक्त जीव का विभाग (भेद) निर्दिष्ट है। चित् एवं अचित् पदार्थों में अत्यन्त विलक्षणता होने से उनमें 'अनन्यत्व' नहीं हो सकता। यद्यपि गोमय से वृश्चिक की उत्पत्ति होने पर भी उनमें अत्यन्त विलक्षणता (भिन्नता) रहती है। अत: कार्य-कारण 'अनन्यत्व' का साधक नहीं हो सकता। घट एवं मृत् पिण्ड में भी अर्थक्रियादि व्यवहार भेद होने से अभेद नहीं है। अथवा कार्य-कारण में अत्यन्त अभेद मानने पर अखण्ड रूप से ब्रह्म के सर्वत्र जगत् में विद्यमान होने के कारण कर्तृ, कर्म, क्रियादि व्यवहार का लोप हो जायेगा-यदि ऐसा पूर्वपक्ष द्वारा संशय उपपन्न किया जाये, तो इस सम्बन्ध में सिद्धान्त पक्ष द्वारा कार्य-कारण में 'अनन्यत्व' की सिद्धि द्रष्टव्य है-

'कारणात् ब्रह्मण: कार्यं जगदनन्यदेव। कथमवगम्यते? आरम्भणशब्दादिभ्य:। यथा 'वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति' 'ऐदात्म्यमिदँ सर्वं तत्सत्यँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" 'विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत्। सर्वो ह्येष रुद्र:' इत्यादिशब्देभ्य:।'[420]

कारण ब्रह्म से कार्य जगत् का 'अनन्यत्व' सिद्ध करते हुए भाष्यकार आचार्य श्रीकण्ठ का कथन है कि कारण वस्तु से कार्य के अभिन्नत्व का बोध कैसे हुआ ? इसमें हेतु प्रस्तुत करते हैं-आरम्भण शब्दादि के कारण, (तदनन्यत्वम्) कार्य की कारण से अनन्यता सिद्ध होती है। जैसा कि श्रुति में कहा गया है- 'मृत्तिका ही सत्य है, घट, शरावादि नाम से उद्भूत विकार समूह भिन्न-भिन्न नाम द्वारा ही पृथक् हुए हैं, वस्तुत: ये मृत्तिका ही हैं', 'इस सृष्टि से पूर्व एकमात्र सत् था', 'उसने प्रजा के निमित्त एक से बहुत होने का संकल्प किया', 'समस्त चराचर जगत् ब्रह्मात्मक है', 'वह सत्य है और तुम वही (ब्रह्म) हो', 'जो विश्व भूत, भुवनादि विविध रूपों में उपपन्न हुआ और वर्तमान में भी हो रहा है, यह सब कुछ रुद्र है' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से कार्य (जीव-जगत्) और कारण ब्रह्म की अभिन्नता सिद्ध होती है।

---

419 वही, श्रीकण्ठभाष्य, २/१/१५

420 वही.

पूर्वपक्ष द्वारा जो कहा गया था- *'न हि कार्यकारणत्वमनन्यत्वसाधकम्'* अर्थात् कार्य-कारण में अनन्यत्व नहीं हो सकता, उसके सम्बन्ध में 'भावे चोपलब्धे:'(ब्र.सू.२/१/१६) में भाष्यकार का कथन है- *'घटादिकार्यभावे च तदेव मृद्द्रव्यं घट इत्युपलभ्यते। तत: कारणादनन्यदेव कार्यम्। तथा वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति श्रुत्याऽपि प्रतिपाद्यते। ... वस्तुतो घटादिकमपि मृत्तिकेत्येव सत्यं प्रामाणिकं मृद्व्यतिरेकेण घटभावादर्शनात्। अत: कारणादनन्यदेव कार्यम्।'*[421]

अर्थात् घटादि कार्य में मृत्तिका युक्त घट उपलब्ध होने से कारण से कार्य का 'अनन्यत्व' सिद्ध होता है। 'मृत्तिका ही सत्य है, घट, शरावादि नाम से उद्भूत विकार समूह भिन्न-भिन्न नाम द्वारा ही पृथक् हुए हैं, वस्तुत: ये मृत्तिका ही हैं', इस श्रुतिवाक्य से इसकी पुष्टि होती है। घटादि कार्य में मृत्तिका ही सत्य है, क्योंकि मृत्तिका के व्यतिरेक से घटाभाव हो जाता है, अर्थात् मृत्तिका से पृथक् घटादि का अस्तित्व न होने से कारण से कार्य की अनन्यता सिद्ध होती है, इसीलिए भाष्यकार द्वारा 'कारणादनन्यदेव कार्यम्' कहा गया। इसी क्रम में भाष्यकार का कथन है-

'मृद्घटयोरिव ब्रह्मप्रपञ्चयोरपि व्याप्यव्यापकभावादनन्यत्वम्। ... 'मृदयं घट' इत्यत्र यथा मृद्व्याप्तिर्घटे दृश्यते तथा ब्रह्मेदं जगदिति ब्रह्मव्याप्तिर्न दृश्यत इति चेत्, सन् घट: सन् पट: इति सर्वत्र दृश्यत एव सद्रूपस्य ब्रह्मणो व्याप्ति:। सच्चिद्रूपेण शिवेन यदि न व्याप्तं जगत् तदा सत्तास्फूर्तिभ्यां विनाकृतं कथमस्ति स्फुरतीति च दृश्येत? अवस्त्वेव भवेत्। अतो मृदा घटादिकमिव कारणेन शिवेन कार्यमिदं व्याप्तं तदनन्यभूतं चेति सिद्धम्।'[422]

अर्थात् मृत्तिका-घट की तरह ही ब्रह्म-प्रपञ्च का भी व्याप्य-व्यापक भाव से 'अनन्यत्व' है। 'मृदयं घट:' यहाँ जैसे घट में मृत्तिका की व्याप्ति देखी जाती है, वैसे ही 'ब्रह्मेदं जगत्' में ब्रह्म-व्याप्ति नहीं देखी जाती- ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि घट, पटादि के 'सत्' होने के कारण 'सत्' रूप में सर्वत्र ब्रह्म-व्याप्ति देखी जाती है। 'सत्' 'चित्' रूप से शिव द्वारा यदि जगत् व्याप्त न होता तो वनस्पति, जीवादि में परिवर्तन एवं स्फुरण नहीं होता और समस्त पदार्थ अवस्तु हो जाता। अत: मृत्तिका-घटादि की तरह कारण रूप शिव द्वारा कार्य रूप जीव-जगत् व्याप्त होने से कारण (तत्) एवं कार्य (त्वम्) का 'अनन्यत्व' सिद्ध होता है। इसी क्रम में कारण (तत्) का कार्य (त्वम्) से अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए 'सत्त्वाच्चापरस्य'(ब्र.सू.२/१/१७) में भाष्यकार आचार्य श्रीकण्ठ का कथन है- *'कार्यस्य कारणे सत्त्वाच्च कारणादनन्यदेव कार्यम्। घटशरावादिकं पूर्वं मृदेवासीदिति हि घटादिकं मृदात्मनोपलभ्यते।'*[423]

---

421 वही, २/१/१६

422 वही.

423 वही, २/१/१७

अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व कार्य रूप जीव-जगत् का कारण रूप ब्रह्म में 'सत्' रूप में विद्यमान होने से कारण से कार्य की 'अनन्यता' है। घट, शरावादि नाम-रूप वाली मृद् निर्मित वस्तुएँ उत्पत्ति से पूर्व मृत्तिका ही थी, इस कारण से मृत्तिका से घटादि की उत्पत्ति देखी जाती है। इसी क्रम में 'पटवच्च'(ब्र.सू.२/१/१९) में भाष्यकार का कथन है-

'यथा संकुचित: सूक्ष्मरूप: पट: प्रसारितो महापटकुटीरूपेण कार्यं भवति, तथा ब्रह्मापि संकुचितरूपं कारणं प्रसारितरूपं कार्यं भवति।'[424]

अर्थात् जैसे संकुचित वस्त्र को प्रसारित करने पर कार्य रूप में उसका विस्तार हो जाता है, वैसे ही ब्रह्म का भी संकुचित रूप कारण और प्रसारित रूप कार्य है। इसी क्रम में 'यथा च प्राणादि'(ब्र.सू.२/१/२०) में कार्य-कारण अनन्यत्व के सम्बन्ध में भाष्यकार का कथन है-

'यथा वायुरेक एव वृत्तिविशेषेण प्राणादिभेदं भजते, तथा ब्रह्मापि शक्तिव्यापारभेदेन सदाशिवादिविश्वरूपभेदं भजते। ततो ब्रह्मण: कारणादनन्यदेव कार्यं जगदिति युक्तम्।'[425]

अर्थात् जैसे एक ही वायु में वृत्ति विशेष द्वारा प्राण, अपानादि भेद होता है, वैसे ही ब्रह्म भी स्वशक्ति व्यापार के भेद से शिव, सदाशिव, विश्वरूपादि भेद को प्राप्त होता है। अत: एक ही तत्त्व की विविध रूपों में प्राप्ति के आधार पर भी कारण से कार्य (जीव-जगत्) की अनन्यता प्रतिपादित होती है। इसी तथ्य का कथन करते हुए श्रीकण्ठभाष्य में कहा गया है-

'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिना कार्यभूतस्य जीवस्य कारणभूतब्रह्मत्वव्यपदेशात् अनन्यत्वमुपपादितम्।'[426] अर्थात् 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि श्रुतिवाक्य द्वारा कार्यभूत जीव का कारणभूत ब्रह्मत्व के कथन से 'त्वम्' (कार्य) एवं 'तत्' (कारण) का अभिन्नत्व सिद्ध होता है।

5.10.3. अंश-अंशी भाव द्वारा तत् एवं त्वम् पदों का अभिन्नत्व

ब्रह्मसूत्र के 'अंशाधिकरण' में 'अंश-अंशी भाव' द्वारा आचार्य श्रीकण्ठ 'तत्' एवं 'त्वम्' पदों का अभिन्नत्व प्रतिपादित करते हैं। इस सम्बन्ध में 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्यमधीयत एके'(ब्र.सू.२/३/४२) सूत्र का शैवभाष्य द्रष्टव्य है- *'परमेश्वर एव बहुविधोपाधिवशाज्जीवभावमुपगतो दृश्यते, यथैकमाकाशं घटाद्युपाधिवशान्नानाकारं दृश्यते परिच्छिन्नं च। तथा हि श्रुति: -'अयमात्मा ब्रह्म' इति वदति। तस्मादीश्वर एवाज्ञानाज्जीव-भावमुपगत इति।'*

---

[424] वही, २/१/१९

[425] वही, २/१/२०

[426] वही, २/१/२१

'अंश-अंशी भाव' के सम्बन्ध में पूर्वपक्ष द्वारा कहा गया है कि परमेश्वर ही नाना उपाधिवशात् जीवभाव को प्राप्त होते हैं। जैसे-एक आकाश घटादि उपाधि से युक्त होकर घटाकाश, महाकाश आदि रूपों से परिच्छिन्न होता हुआ भिन्न-भिन्न आकारों में देखा जाता है, वैसे ही ईश्वर भी अज्ञान से उपहित होकर जीवभाव को प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्ध में पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए सिद्धान्त पक्ष का कथन है-

'जीवात्मा परमेश्वरस्यांशो मूर्त्येकदेश एव। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', 'य आत्मनि तिष्ठन् पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥' इत्यादिषु नानाव्यपदेशात्। यदुक्तं 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिना ब्रह्मण एव जीवत्वमिति, तत्राह– अन्यथा 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिकाद्व्यपदेशात् तयोर्जीवब्रह्मणोर्व्याप्यव्यापकभावेनानन्यत्वम्। अपि च तथैवानन्यत्वमधीयत एके-'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत' इत्यादिना ब्रह्मणोंऽशत्वेऽपि जीवस्य तद्व्याप्ततया तद्व्यपदेशो युक्तः ... तस्माज्जीवो ब्रह्मणोंऽशभूत एव तत्स्वरूपं प्रतिपद्यते।'[427]

अर्थात् मूर्ति के एक देश (भाग) के समान जीवात्मा परमेश्वर का अंश है। 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि', 'य आत्मनि तिष्ठन् पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा', 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥' इत्यादि श्रुतिवाक्यों में उस परमात्मा का नाना प्रकार से व्यपदेश होने से वह 'अंशी' है तथा जीव उसका 'अंश' है। 'अयमात्मा ब्रह्म' इस श्रुतिवाक्य द्वारा ब्रह्म का ही जीवभाव (जीवत्व) बताया गया है। इसी क्रम में 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इन श्रुतिवाक्यों के व्यपदेश से जीव और ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक भाव द्वारा अनन्यत्व (अभिन्नत्व) सिद्ध होता है। इसी क्रम में अथर्वशाखिगण जीव को ब्रह्म का दास, कितव कहकर वर्णन करते हैं, इस रूप में भी ब्रह्म का 'अंश' होने से जीव की ब्रह्म द्वारा व्याप्तता युक्तियुक्त है। अतएव जीव ब्रह्म का अंश होने के कारण उसी रूप में उसके स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है।

जीवेश्वर के मध्य 'अंश-अंशी भाव' के सम्बन्ध में 'मन्त्रवर्णात्'(ब्र.सू.२/३/४३) पर भाष्यकार का मत अवलोकनीय है- *'पादोस्य विश्वा भूतानि' इति मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मणोंऽश एव जीवः। 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। तस्यावयवभूतेन व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥' इति श्रुतिः प्रकृतित्वं मायायास्तद्विशिष्टत्वं महेश्वरस्य तदवयवभूतत्वं सर्वस्य जगतः प्रकटयति। ततो मायिनः परमेश्वरस्यावयवलेशः पुरुषः।'*[428]

---

427 वही, २/३/४२

428 वही, २/३/४३

इस भाष्य में 'पादोस्य विश्वा भूतानि' मन्त्र द्वारा भी ब्रह्म के अंश रूप में ही जीव की सिद्धि होती है। 'मायां तु प्रकृतिं ... व्याप्तं सर्वमिदं जगत्' श्रुतिवाक्य में पुरुष (जीव) को परमेश्वर का अवयव (अंश) बताया गया है। इसी क्रम में 'अपि च स्मर्यते'(ब्र.सू.२/३/४४) में आचार्य का कथन है- *'आत्मा तस्याष्टमी मूर्तिः शिवस्य परमात्मनः। व्यापिकेतरमूर्तिनां विश्वं तस्माच्छिवात्मकम्।' इति स्मरणाच्च शिवस्य मूर्त्येकदेश आत्मा।'*[429]

आचार्य श्रीकण्ठ द्वारा जगत् को शिवात्मक बताते हुए आत्मा को उस शिवरूपी मूर्ति का एकदेश (एकभाग, अंश) माना गया है। 'अंश-अंशी भाव' के सन्दर्भ में जीवेश्वर के स्वरूप एवं गुणों में तारतम्य बताते हुए 'प्रकाशादिवत्तु नैवं परः'(ब्र.सू.२/३/४५) में 'अंशांशि' रूप में अन्ततः अभेद का कथन भाष्यकार द्वारा किया गया है-

'ब्रह्मणोंऽशत्वेऽपि जीवस्य जीवो यत्स्वरूपो यत्स्वभावश्च नैव परमेश्वरः, किन्तु सर्वज्ञत्वादियुक्त एव। कथम्? प्रकाशादिवत्। प्रकाशविशिष्टानां माणिप्रभृतीनां प्रकाशो विशिष्टैकदेशो यथांशः, तद्वज्जीवशरीरतया जीवविशिष्टस्य ब्रह्मणोंऽशो जीवः। ... विशेषणानां विशिष्टैकदेशतया तदंशत्वेऽपि स्वरूपभेदो न विरुद्धः, 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्यादिश्रुतेः।'[430]

अर्थात् ब्रह्म का अंश होने पर भी जीव का जो स्वरूप एवं जैसा स्वभाव है, वैसा परमेश्वर का नहीं, अपितु वह सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त ही है। यह कैसे ज्ञात हुआ? इसमें हेतु देते हैं- प्रकाशादिवत्। जैसे- सूर्यादि के प्रकाश से विशिष्ट मणि आदि का प्रकाश विशिष्ट का एक भाग होने से जिस प्रकार 'अंश' है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का 'अंश' है। विशेषण (जीव) का विशिष्ट के एक भाग द्वारा उसका 'अंश' होने पर भी 'य आत्मनि तिष्ठन्' इस श्रुति द्वारा उनके स्वरूप में कोई विरोध नहीं है। 'अंश-अंशी' के क्रम में 'स्मरन्ति च'(ब्र.सू.२/३/४६) सूत्र में भाष्यकार का कथन है- *'विग्रहं देवदेवस्य जगदेतच्चराचरम्। एतमर्थं न जानन्ति पशवः पाशगौरवात्॥ इत्यादि। ततो ब्रह्मणोंऽश एव जीवः।'*

इस प्रकार भाष्यकार आचार्य श्रीकण्ठ जीवेश्वर के सम्बन्ध में 'अंश-अंशी भाव' द्वारा शैवपरक-चिन्तन के अनुसार श्रुतिवाक्यों को उद्धृत करते हुए जीव को शिव का 'अंश' मानकर अन्ततः उसकी परिणति 'शिव' में बताया है। इस आधार पर जीव (त्वम्) और शिव (तत्) में अभेद का प्रतिपादन किया गया है।

---

429 वही, २/३/४४

430 वही, २/३/४५

5.11. स्वरूपाद्वैत-सम्प्रदाय

ब्रह्मसूत्र पर श्रीपञ्चाननतर्करत्नभट्टाचार्य ने 'शक्तिभाष्य' का प्रणयन किया। इनका दार्शनिक-सिद्धान्त 'स्वरूपाद्वैत' के रूप में विद्वत् समाज में प्रचलित है। 'स्वरूपाद्वैत' का आधार 'सत्ता' की उभयात्मकता है अर्थात् इस चिन्तन में सत्ता द्विरूपेण वर्णित है- 'चिदात्मक' और 'अचिदात्मक'। इनमें से किसी एक को अथवा दूसरे को छोड़कर 'सत्ता' को पूर्ण नहीं कहा जा सकता, इसलिए इनको नित्य-सम्बद्ध बताया गया है। इसी क्रम में 'शक्तितत्त्व' के सम्बन्ध में भाष्यकार द्वारा मंगलाचरण में कहा गया है-

उपनिषदुपगूढं मन्त्रशास्त्रेषु रूढं मुनिवचनसमूढं नित्यविभ्रष्टमूढम्।
समयिमतविशिष्टं यत् सुधास्वादमिष्टं तदिह जगदभीष्टं शक्तितत्त्वं प्रदिष्टम् ॥४॥ (मंगलाचरण)

अर्थात् यह 'शक्तितत्त्व' सम्पूर्ण उपनिषदों में निगूढ़ है, सम्पूर्ण मन्त्रशास्त्र (तन्त्रों) में प्रसिद्ध है, ऋषि-मुनियों के वचन (वाणी) में समाया हुआ है तथा समयिमत विशिष्ट है। यह अमृत के समान मीठा है और सम्पूर्ण संसार का अभिष्ट है, जिसको 'शक्तिभाष्य' में प्रमुख विषय बनाया गया है। यह शाक्तवाद ही 'स्वरूपाद्वैतवाद' के रूप प्रसिद्ध है, जिसके अनुसार सारा प्रपञ्च चिदचित् शिव और शक्ति की स्वात्मसत्ता का विस्तार है। 'शक्ति' को परिभाषित करते हुए कहा गया है- *'शक्तयस्सर्वभावानामचिन्त्या अपृथक्स्थिताः।'*[431] अर्थात् वस्तु में कार्योत्पादनोपयोगी अपृथक्-सिद्ध जो धर्म विशेष है, वही 'शक्ति' है। ब्रह्मसूत्र में इसी शक्तिब्रह्म[432] का निरूपण किया गया है। ब्रह्म और शक्ति का कभी पारस्परिक वियोग नहीं होता।[433] चिद् और अचित् उभयात्मक होते हुए भी उसमें विकार या स्वरूप प्रभाव नहीं होता। यहाँ चिद्-अचित्

---

431 अहिर्बुध्न्य संहिता, २

432 (i) नित्या विलक्षणा सत्ता सा शक्तिर्ब्रह्म चोच्यते।
चिदचिद्द्वयपर्य्याप्ता न तु सा भिद्यते ततः॥
एकैव सा ज्ञानबलक्रियारूपा सनातनी।
चिन्मात्रसत्ताऽचिन्मात्रसत्ता च व्याप्यते तया॥ (श.भा.पृ.१७३)

(ii) *'नित्यसम्बद्धचिदचित्पर्याप्त-सत्ताविशेषः शक्तिरिति ब्रह्मेति परमात्मेत्यादिनामभिश्च व्यपदिश्यते। स चैकः। तद्-व्याप्याश्च नित्यानित्यभेदभिन्नाः शक्तयोऽनन्ताः।'* (श.भा.मुखप्रबन्ध)

433 शक्तिशक्तिमतोर्यद्वदभेदः सर्वदा स्थितः।
न वह्नेर्दाहिका शक्तिर्व्यतिरिक्ता विभाव्यते॥ (विज्ञानभैरव)
अर्थात् जैसे अग्नि की दाहकता अग्नि से भिन्न नहीं होती, वैसे ही पराशक्ति भी शक्तिमान् (शिव) से भिन्न नहीं, अपितु अभिन्न ही है। अतः इस चिन्तन में शिव + शक्ति अथवा चिच्छक्ति उस एक ही परमतत्त्व (ब्रह्म) का नाम है। "तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि" श्रुतिवाक्यों द्वारा इसी नित्य स्वरूप चिदचिन्मयी 'शक्तितत्त्व' को बताया गया है।

उभयात्मक से तात्पर्य है कि शक्ति 'चिदंश' से ज्ञानशक्तियुक्त, निर्विकार, निर्विशेष एवं अपरिणामिनी होकर जगत् का निमित्त-कारण बनती है तथा 'अचिदंश' से क्रियाशक्तियुक्त, परिणामिनी होते हुए उपादान-कारण के रूप में विश्व की अभिव्यक्ति में सहायक होती है।[434] चिद्- अचित् 'शक्ति' के दो स्वरूप हैं, जिनका मूलशक्ति से भेद नहीं है, अपितु उनमें नीरक्षीरवत् अभेद-सम्बन्ध है।[435]

5.11.1. स्वरूपाद्वैत-चिन्तन में तत्त्वमसि महावाक्य विमर्श

शाक्त-चिन्तन में जीव और ब्रह्म में अभेद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जीव वस्तुत: चित् स्वरूप ही है। जैसे एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न दर्पणों में अनेकता को प्राप्त होकर भासित होता है, उसी प्रकार एक ही 'शक्तिब्रह्म' शरीरभेद से जीव रूप को धारण करता हुआ नानात्व को प्राप्त होता है। जीव और ब्रह्म में भेद केवल इतना ही है कि जीवात्मा परिच्छिन्न है और शक्तिब्रह्म अपरिच्छिन्न। शक्ति- भाष्य में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या करते हुए कहा गया है- *'चिदचिदुभयात्मकस्य तस्य सत्यत्वादाह तत् सत्यमिति जीवस्य तत्स्वरूपत्वञ्च दर्शयति तत्त्वमसीत्यनेन 'तत् सत्यं' तत्पदार्थश्चिदचिद्रूपस्तस्य सत्यत्वमपि तदुभयरूपतया। हे श्वेतकेतो! त्वं तदसि चिदचिदुभयात्मकं ब्रह्मासीति जीवस्यापि यत् चिदचिदुभयात्मकत्वं तत्र चित्-प्रतिबिम्बम्, बिम्बादन्यत्, अचित् कार्यम्।'*[436]

अर्थात् चिदचिद् उभयात्मक ब्रह्म की सत्यता को बताकर जीव के 'तत्' स्वरूपत्व को 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा बताते हुए 'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्'(ब्र.सू.१/१/७) में भाष्यकार का कथन है कि 'तत्' पदार्थ (ब्रह्म) चिदचिद् रूप है तथा उसका सत्यत्व भी उभयरूप (चिदचिद्रूप) बताया गया है। हे श्वेतकेतो ! "त्वं तदसि" 'तुम वही हो' अर्थात् चिदचिदात्मक ब्रह्म हो। जीव का जो चिदचिद् उभयात्मकत्व कहा गया है, उसमें 'चित्' का अर्थ है- 'प्रतिबिम्ब', जो बिम्ब (ब्रह्म) से

---

434 *'चिदचिदुभयात्मकं ब्रह्म तस्माच्चिदचिदुभयात्मकं जगदुत्पद्यते, तत्राचिदंश: परिणममान: स्थूलरूपेणाविर्भवति चिदंशश्च प्रतिबिम्बभावमधिगच्छति, न तु तस्यापि परिणाम:, अविक्रियत्वात्।'* (ब्र.सू.श.भा.२/१/२३)

435 पृथग्भूताप्यभिन्नास्ति नीरक्षीरयुतिर्यथा।
चिन्मात्रकोटौ कूटस्थं चैतन्यं केवल: शिव:॥
देवादिस्थावरान्तेषु जीवेष्वन्यत् प्रकीर्तितम्।
बिम्बं कूटस्थचैतन्यं प्रतिबिम्बं तथेतरत्॥
चिन्मात्रसत्ता या प्रोक्ता या चाचिन्मात्रगोचरा ॥
सत्ता तद् द्वयमेवैतन्मूलशक्तेर्न भिद्यते॥ (वही,पृ.१७३)

436 ब्र.सू.श.भा. १/१/७

भिन्न है तथा अचित् का अर्थ है- 'महत्तत्त्वादिस्वरूप त्रिगुणात्मक कार्य', जो कारण प्रकृति से भिन्न है।

इसी क्रम में 'आनुमानिकाधिकरण' में कहा गया है- *'तत्पदञ्च न प्रक्रान्तपरामर्शकं किन्तु ब्रह्मवाचकं ... स च पुरुष: तस्य सत्यत्वम- परिणामिसत्तयास्माभिरप्यभ्युपगम्यते स एवात्मा तस्यैव त्वंपदार्थेन सहाभेदो दर्शित:।'*[437]

अर्थात् 'तत्' पद प्रक्रान्त परामर्शक नहीं है, अपितु ब्रह्म का वाचक है और वह पुरुष है। अपरिणामि सत्ता रूप से ब्रह्म का सत्यत्व भाष्यकार को अभिप्रेत है। ब्रह्म ही आत्मा है और उसका ही 'त्वं' पदार्थ के साथ अभेद दिखाया गया है। इस प्रकार इस अभेदपरक दृष्टि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जीव का 'कार्यानुगमे' परिच्छिन्नत्व है और 'कारणानुगमे' अपरिच्छिन्नत्व है और ये दोनों श्रुति सम्मत हैं।[438]

5.11.2. तत् एवं त्वं पदों के मध्य सम्बन्ध

5.11.2.1. अंश-अंशी भाव सम्बध

जीव और ब्रह्म के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए 'अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके'(ब्र.सू.२/३/४३) में भाष्यकार का कथन है- *'एकस्य परमेश्वर-स्यांशो जीव:, अंशाभिप्रायेण नानात्वम्, अंश्यभिप्रायेण चैकत्वम्... बिम्बाभिप्रायेणैकत्व-श्रुति:, उपाधिभेदप्रयुक्तप्रतिबिम्बभेदाभिप्रायेण नानात्वश्रुति:, सूर्यप्रतिसूर्यकवदिति तात्पर्यम्। प्रतिबिम्बानां मिथो नानात्वस्य दृश्यमानत्वेऽपि, वस्तुगत्या तानि बिम्बान् नातिरिच्यते।'*[439]
इस चिन्तन में ब्रह्म को 'अंशी' और जीव को उसका 'अंश' मानते हुए भाष्यकार द्वारा कहा गया है कि एक परमेश्वर का 'अंश' जीव है, 'अंश' के अभिप्राय से जीव का नानात्व है और 'अंशी' के अभिप्राय से एकत्व है। 'अंश' एवं 'अंशी' में कोई भेद नहीं है। यह गौण प्रयोग है। इसको बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से भी समझा जा सकता है। बिम्ब के अभिप्राय से एकत्व और उपाधिभेद द्वारा प्रतिबिम्बभेद के अभिप्राय से नानात्व का कथन किया गया है। अर्थात् उपाधिभेद से बिम्ब के एक होने पर भी प्रतिबिम्ब अनेक रूपों में भासित होता है। इसको सूर्यप्रतिसूर्यकवत् कहा जा सकता है। उपाधि के कारण ही आत्मा को जल में पड़े सूर्य-प्रतिबिम्ब की उपमा दी जाती है- *'यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो*

437 वही, १/४/१

438 *'कार्यानुगमे जीवस्य परिच्छिन्नत्वं, कारणानुगमे चापरिच्छिन्नत्वमेतद्द्वयमेव श्रौतम्।'* (वही,१/१/७)

439 वही, २/३/४३

देव: क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा।'[440] अर्थात् जैसे यह ज्योति स्वरूप सूर्य स्वत: एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न जलाशयों में भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब होने से अनेक रूप वाला हो जाता है, वैसे ही यह जन्मरहित स्वप्रकाशात्मा उपाधि से विभिन्न क्षेत्रों में अनुवृत्त होने से विविध रूपों में भासित होता है।[441]

जैसे- सूर्य का प्रतिबिम्ब भिन्न- भिन्न स्थलों पर उपाधि भेद से भिन्न-भिन्न आकार वाला होता है, अत: प्रतिबिम्बों का परस्पर नानात्व दृश्यमान होते हुए भी वे बिम्ब से भिन्न नहीं होते। यहाँ जीव और ब्रह्म में आत्यन्तिक भेद नहीं है, किन्तु व्यवहार दशा में उपाधि द्वारा कल्पित भेद तो विद्यमान रहता ही है। इस सम्बन्ध में भाष्यकार का कथन है- *'यथा 'अन्तर्भावात्' जलान्तर्भावात् प्रतिबिम्बरूपेण जलमध्यस्थितत्वात् सूर्यादि: 'वृद्धिह्रासभाक्त्वम्' न त्वेकस्य बिम्बभूतसूर्यस्यतत्सम्बन्ध:, तथैकस्य ब्रह्मणोऽपि बुद्धिरूपोपाध्यन्तर्भावाद् वृद्धिह्रासभाक्त्वम् ... वृद्धिह्रासौ सूर्यपक्षे, जलवृद्धौ प्रतिबिम्बे, वृद्धि संख्याधिक्यम् जलह्रासे संख्याह्रास: आकारस्य वृद्धिस्तद्धासश्च। वृद्धिह्रासशब्दश्चलनमालिन्याद्युपलक्षक:। ब्रह्मपक्षे प्रतिबिम्बे जीवे वृद्धिह्रासपदार्थभूता संख्याधिक्यपुण्यपापे सुखदु:खादयश्च भवन्ति। बिम्बस्थानीये ब्रह्मणि तु नास्ति वृद्धिह्रासयो: सम्बन्ध इति तात्पर्यम्।'*[442]

जैसे जल में स्थित सूर्य-प्रतिबिम्ब जल की वृद्धि होने पर बढ़ता है, जल के क्षीण होने पर क्षीण होता है और जल के कम्पन करने पर कम्पन करता है- इस प्रकार जल के ही धर्मों का अनुसरण करता है। वस्तुत: स्व-स्वरूप से सूर्य में कुछ भी अन्तर नहीं आता, वैसे ही वास्तव में अविकृत, एक रूप, सत् स्वरूप ब्रह्म, देहादि में प्रतिबिम्बित होने से वृद्धि, क्षय आदि को प्राप्त हुआ सा प्रतीत होता है।

इसी क्रम में 'मन्त्रवर्णाच्च'[443] सूत्र का भाष्य द्रष्टव्य है- *'देवीसूक्तमन्त्रवर्णाच्च जीव परमात्मनोंऽश इति सिध्यति। तथाहि 'अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत् विश्वदेवै:। अहं मित्रावरुणा-विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा' इति मन्त्रे रुद्रादीनां मिथोभेदान्नानात्वम्। 'मया सोन्नमत्ति यो विपश्यति य: प्राणिति य ईश्रृणोत्युक्तम्' अत्र मन्त्रे भोजनदर्शनप्राणनश्रवणानां कर्तृत्वस्यैकस्मिन् परमात्मनि परमेश्वरीरूपे प्रतिपादनेन जीवानां पृथक् सत्त्वाभावानुशासनाद्*

---

440 वही, ३/२/१८

441 *'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित:। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।' (वही)* इस श्रुति का तात्पर्य भी वही है। भाष्यकार द्वारा एक ही परमात्मा का उपाधिभेद से अनेक रूपों में कथन किया गया है।

442 वही, ३/२/२०

443 ब्र.सू. २/३/४४

बिम्बभूतस्य परमात्मन एकत्वमंशित्वं च प्रतिबिम्बत्वपर्यवसन्नमंशत्वं नानात्वं च जीवानां सिद्धयति।'[444]

अर्थात् मन्त्रवर्णों से भी जीव परमात्मा का 'अंश' सिद्ध होता है। ''अहं रुद्रेभिर्वसुभि'' इस मन्त्र द्वारा रुद्रों के परस्पर भेद से नानात्व का कथन तथा ''मया सोन्नमत्ति यो विपश्यति" इस मन्त्र में भोजन, दर्शन, प्राणन, श्रवणादि कर्त्तृत्व का एक ही परमेश्वरी रूप परमात्मा में प्रतिपादन द्वारा जीवों का पृथक् सत्वाभाव कथन से बिम्बभूत परमात्मा का एकत्व, अंशित्व और जीवों का प्रतिबिम्बत्वपर्यवसन्न अंशत्व और नानात्व सिद्ध होता है। स्मृति में भी इसी 'अंश-अंशी भाव' का प्रतिपादन किया गया है।[445] जीव-ब्रह्म के 'अंश-अंशी भाव' को अग्निस्फुलिंग दृष्टान्त द्वारा भी समझा जा सकता है। स्वरूप की दृष्टि से उष्णता गुण जैसे अग्नि और विस्फुलिंग में समान है, वैसे ही जीव और ब्रह्म में चैतन्य गुण समान है, अत: अग्निस्फुलिंग के समान जीव, ब्रह्म का अंश है। इस प्रकार 'अंशांशिभाव' द्वारा यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही जीव है। बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने के कारण ही उसकी जीवसंज्ञा है, अन्यथा जीव और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

5.11.2.2. भेदाभेद-सम्बन्ध

श्रुतिवाक्यों में दो प्रकार के (भेदपरक और अभेदपरक) मन्त्र दृष्टिगोचर होने के कारण आचार्य पञ्चाननतर्करत्न भट्टाचार्य जीव और ब्रह्म के मध्य 'भेदाभेद- सम्बन्ध' मानते हैं, जिसमें भेद और अभेद दोनों ही वास्तविक हैं। भेदाभेद की व्याख्या करते हुए भाष्यकार का कथन है कि ब्रह्म बिम्ब स्वरूप है तथा जीव उसका प्रतिबिम्ब होने से दोनों में अभेद है और इन दोनों के बीच उपास्य- उपासक भाव होने से भेद भी है। भेदाभेद के प्रतिपादन में 'नियम्य-नियामक भाव' का कथन करते हुए भाष्यकार का मत है कि अत्यन्त उत्कृष्ट उपाधि से युक्त ईश्वर अत्यन्त निकृष्ट उपाधि से युक्त जीवों का नियमन करता है, इससे जीव और ब्रह्म का भेद सिद्ध होता है और 'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि श्रुतिवाक्यों द्वारा अभेद सिद्ध होता है।

भेदाभेद के सम्बन्ध में पृथ्वी और बीज के दृष्टान्त द्वारा बताया गया है कि जिस प्रकार एक ही पृथ्वी में बोये गये बीजों से चन्दन, तड़ागादि के रूप में अनेक प्रकार का कार्य-वैचित्र्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार एक ही ब्रह्म का जीव, प्राज्ञ रूप से पृथक्त्व और कार्य-वैचित्र्य परिलक्षित होता है। इसी क्रम में उदकसमुद्र दृष्टान्त द्वारा भेदाभेद का प्रतिपादन द्रष्टव्य है- *'विकाराणां*

---

444 वही, भाष्य

445 *'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' इति, 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन' इति च।'* ('अपि च स्मर्यते' ब्र.सू.२/३/४५ का भाष्य)

प्रकृत्यनन्यत्वेऽपि फेनबुद्बुदतरङ्गादीनां मन्योन्यभेदवत्।'[446] अर्थात् जैसे समुद्र से झाग, तरंग, लहर, बुलबुले आदि विकार अनन्य हैं, तो भी उनका अन्योन्य भेद और अभेद आदि व्यवहार उपलब्ध होता है, उसी प्रकार जीव और ब्रह्म के मध्य भी समझना चाहिए। जीव, ब्रह्म से अभिन्न होते हुए भी देहादि उपाधियों के कारण भिन्न भी है। इस प्रकार कारण और कार्य दोनों चिदचिदात्मक होते हुए भी दोनों में भेद दृष्टिगोचर होता है, परन्तु यह विभाग अविद्यामूलक है, अभेद ही वस्तुत: सत् है। (ब्र.सू.श.भा.२/१/१३) में भाष्यकार इस मत की पुष्टि श्रुतिवाक्य से करते हुए- *'यत्र तु द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति'* ऐसा उपक्रम करके *'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्'* मन्त्र द्वारा इसका समाधान करते हैं। इस प्रकार इस चिन्तन में भेद-अभेद दोनों को वास्तविक माना गया है।

5.11.2.3. आश्रयाश्रयि भाव सम्बन्ध

चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म और जीव में यद्यपि पूर्ण अभेद है, तथापि उपास्य-उपासक भाव से दोनों में भेद भी विद्यमान है। ब्रह्म उपास्य है और जीव उपासक है। जीव की संज्ञा अणु है, वह सर्वान्तर्यामी 'ब्रह्म' के अधीन है, किन्तु सर्वान्तर्यामी 'ब्रह्म' जीव के अधीन नहीं है। इस 'आश्रय-आश्रयि भाव' को दूध और आमिक्षा दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है-

'यथा पय आमिक्षा चेति भेदो लोकप्रसिद्धस्तथा अन्तर्यामिजीवयोरपि, यथा च 'पय एव घनीभूतमामिक्षेत्यभिधीयते' इत्यामिक्षाया: स्वरूपप्रबोधनाय पय एवेति व्यपदेशस्तथा जीवस्वरूपप्रबोधनाय स्वरूपजिज्ञासु प्रति अन्तर्यामीति व्यपदेशविशिष्टकथनम्। दधिपयसी आमिक्षापयसी इतिवद् बिम्बप्रतिबिम्बावितिवद् वा जीवात्मपरमात्मानौ वा आत्मानौ वेति प्रसिद्धो भेदो नानुपपन्न:, यथा आमिक्षाया: पय: स्वरूपत्वेऽपि तदधीनत्वं, न त्वामिक्षाधीनत्वं पयस:, यथा प्रतिबिम्बस्य बिम्बातिरिक्तत्वेऽपि बिम्बाधीनत्वं न तु बिम्बस्य प्रतिबिम्बाधीनत्वं, एवं जीवस्य अन्तर्यामिस्वरूपानतिरिक्तत्वेऽपि अन्तर्याम्यधीनत्वं न तु तदधीनत्वमन्तर्यामिण: परमात्मन:, प्रसिद्धश्चाधीनस्योपासकत्वमित्युपास्योपासकभावसिद्धिरप्रत्यूहेति ध्येयम्।'[447]

'अन्तर्य्याम्यधिदेवादिषु तद्धर्म्मव्यपदेशात्'(ब्र.सू.१/२/१८) सूत्र की व्याख्या के सम्बन्ध में आमिक्षा दृष्टान्त द्वारा जीव और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हुए भाष्यकार का कथन है कि दूध और आमिक्षा के समान जीव और ब्रह्म का भेद लोक प्रसिद्ध है। जैसे- दूध ही घनीभूत होने पर आमिक्षा कहलाता है और आमिक्षा के स्वरूप को समझने के लिए दूध के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही जीव के स्वरूप ज्ञान के लिए ब्रह्म का स्वरूप ज्ञान आवश्यक है। जैसे

---

446 ब्र.सू.श.भा. २/१/१३

447 वही, १/२/१८

आमिक्षा दूध का स्वरूप होने पर भी पय के अधीन होता है, न कि पय आमिक्षा के अधीन तथा जैसे- प्रतिबिम्ब, बिम्ब का स्वरूप होने पर भी बिम्ब के अधीन होता है, न कि बिम्ब, प्रतिबिम्ब के अधीन, वैसे ही जीव ब्रह्म का स्वरूप होने पर भी ब्रह्म के अधीन है, न कि ब्रह्म जीव के अधीन। इस प्रकार जीव और ब्रह्म के 'भेद-अभेद' का प्रतिपादन किया गया है। इसी क्रम में भाष्यकार का कथन है कि श्रुति में कहीं भेद और कहीं अभेद का कथन करके अन्तत: अभेद का ही ग्रहण किया गया है, इसको सर्प-कुण्डल दृष्टान्त द्वारा समझा जा सकता है। जैसे- सर्प स्वेच्छानुसार कभी कुण्डली लगा लेता है और कभी सीधा हो जाता है, ब्रह्म भी वैसे ही कभी कारण रूप में रहता है, तो कभी कार्य द्रष्टा, दृश्य रूप में हो जाता है।[448] जैसे- सूर्य और उसका प्रकाश भिन्न रूप से प्रतीत होते हुए भी तेज की दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं, वैसे ही ब्रह्म और जीव परस्पर आश्रय-आश्रयी भाव से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। अत: स्वरूपाद्वैत-चिन्तन में जीव और ब्रह्म के मध्य भेदाभेद का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का गहराई से अध्ययन करने पर यह बात पूर्णत: सत्यता के साथ प्रमाणित होती है कि एक ही सत्य को विद्वज्जन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से व्याख्यायित करते हैं, जिसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'तत्त्वमसि' महावाक्य है। इस श्रुतिवाक्य के व्याख्या-वैविध्य के कारण अर्थभेद भी परिलक्षित होता है। इस अध्याय में आचार्य भास्कर से लेकर आचार्य पञ्चाननतर्करत्न भट्टाचार्य तक ब्रह्मसूत्र पर विरचित दश भाष्यों के आधार पर 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का विश्लेषण किया गया, जिसको अतिसंक्षिप्त (निष्कर्ष) रूप में इस प्रकार कहा जा सकता है-

'तत्त्वमसीति वाक्यं जीवब्रह्मसम्बन्धं निरूपयति। तत्र तस्य त्वम् असीति मध्ववेदान्तिन:। एतेन जीवब्रह्मणोर्भेदो जीवश्च ब्रह्मणोऽस्ति, न तु ब्रह्मेति तेषां निश्चय:। किन्तु जीवचैतन्यं ब्रह्मचैतन्यात् सर्वथा न भिद्यते, संवित्तिस्वरूपप्रकाशत्वादतो द्वैतवेदान्तिनोऽपि एतावता अभेदं प्रतिपादयन्ति। भास्करनिम्बार्क-विज्ञानभिक्षुबलदेव-विद्याभूषणादिद्वैताद्वैतवादिनश्च जीवब्रह्मणोर्भेदाभेदसम्बन्धं स्वीकुर्वन्ति। तत्पदार्थत्वंपदार्थयोश्चैतन्यमभिन्नम्, तयोश्च गुणशक्तिकर्मदेहादयो भिन्ना:। अतएव यादृशौ भेदाभेदौ 'असीति' पदेन लक्ष्यते। भेदांशज्ञाने जहल्लक्षणा अभेदांशज्ञाने चाजहल्लक्षणेति तेषां मतम्। किन्तु कथं भेद: अभेदेन सह संगच्छत इत्यत्र विवादविषय: तस्य समाधानं द्वैताद्वैतवेदान्तिभिर्बहुविधं क्रियते, किन्तु तत्र व्याघातो नाम दोषो वरीवर्ति। अतएव तं निराकर्तुं रामानुजादिविशिष्टाद्वैतवादिनो निरूपयन्ति यत् भेद: अभेदस्य गुण: विशेषणं वा। इत्थं जीव: त्वंपदार्थो वा ब्रह्मण: तत्पदार्थस्य वा विशेषणमस्ति।

---

448 *'अहि: तत्कुण्डलञ्च यथा भिन्नम् अवस्थावतिष्ठमानभावात्, अभिन्नञ्च तयोराश्रयाश्रयितत्वेन, अहे: कुण्डलीभावस्याहिवर्ज्जमन्यत्रासत्त्वात्। तथा ब्रह्मजीवयोरपि जीवत्वं ब्रह्मणोऽवस्थाभेद:।'* (वही,३/२/२७)

किंवा जीवः चिदचिद्विशिष्टः। ब्रह्मापि चिदचिद्विशिष्टम्। अतएव जीवब्रह्मणोरैक्यं विशिष्टत्वमूलकमस्ति। द्रव्यत्वेन भिन्नौ गुणत्वेन च अभिन्नाविति त्वंपदार्थतत्पदार्थौ, तौ च अपृथक्सिद्धाविति विशिष्टाद्वैतवादिनः। किन्तु अपृथक्सिद्धिः कथमनन्यत्वाद् भिद्यत इति अद्वैतवेदान्तिनां प्रश्नः, कथमपि भिद्यते इति विशिष्टाद्वैतवादिनः। न भिद्यते इति अद्वैतिनः। अभेदः भेदनिर्वाहक इति विशिष्टाद्वैतवादिनः। अभेदः शुद्धः भेदस्तु औपाधिक इति अद्वैतवादिनः। अस्मिन् विवादे अभेदस्यैव मुख्यार्थत्वमिति तेषां सामान्यसिद्धान्तः। अतः अद्वैतवेदान्त एव सर्ववेदान्तसंजीवनमिति निष्कर्षः।'[449]

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध को निरूपित करता है। मध्व वेदान्ती 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या 'तस्य त्वम् असि' (तुम उसका हो) के रूप में करते हैं। इस व्याख्या के द्वारा जीव और ब्रह्म का भेद बताया गया है, जिसमें जीव ब्रह्म का अंश है, न कि ब्रह्म-ऐसा द्वैतवादिन् का अभिप्राय है। अतएव संवित्ति स्वरूप प्रकाशकत्व के कारण जीव चैतन्य ब्रह्म चैतन्य से सर्वथा भिन्न नहीं है, द्वैत वेदान्ती भी इस प्रकार के अभेद का प्रतिपादन करते हैं।

आचार्य भास्कर, आचार्य निम्बार्क, आचार्य विज्ञानभिक्षु, आचार्य बलदेव विद्याभूषण आदि द्वैताद्वैतवादि-चिन्तक जीव और ब्रह्म के भेदाभेद सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। 'तत्' एवं 'त्वम्' पदार्थ का चैतन्य अभिन्न है तथा उन दोनों का गुण, शक्ति, कर्म एवं देहादि के तारतम्य से भेद है, इसलिए जिस प्रकार का भेदाभेद 'असि' पद द्वारा लक्षित है, उसमें भेदांश ज्ञान में जहल्लक्षणा और अभेदांश ज्ञान में अजहल्लक्षणा स्वीकार्य है। भेद और अभेद के परस्पर विरुद्ध होने के कारण यह विवाद का विषय है कि ब्रह्म और जीव के मध्य भेद और अभेद एक साथ कैसे रह सकते हैं ?

इस समस्या का समाधान द्वैताद्वैत-वेदान्तिन् द्वारा बहुविध प्रकार से किया गया है, किन्तु वहाँ व्याघात नामक दोष उपस्थित होता है, अतएव उसका निराकरण करते हुए रामानुजादि विशिष्टाद्वैतवादिन् का कथन है कि भेद, अभेद का गुण है अथवा विशेषण है। इस प्रकार जीव, ब्रह्म का अथवा 'त्वं' पदार्थ, 'तत्' पदार्थ का विशेषण है। अथवा जीव चिदचिद्विशिष्ट है और ब्रह्म भी चिदचिद्विशिष्ट है, अतएव जीव और ब्रह्म का ऐक्य विशिष्टत्वमूलक है। 'त्वं' पदार्थ एवं 'तत्' पदार्थ द्रव्यत्व की दृष्टि से भिन्न एवं गुणत्व की दृष्टि से अभिन्न हैं और दोनों का अपृथक्-सिद्धत्व ही विशिष्टाद्वैतवादिन् को अभिप्रेत है, किन्तु अपृथक्सिद्धि अनन्यत्व होने के कारण कैसे भिन्न है ? यह अद्वैत-वेदान्तिन् का प्रश्न है। किसी भी प्रकार भेद उत्पन्न हो सकता है, ऐसा विशिष्टाद्वैतवादिन् का मत है। भेद नहीं हो सकता, ऐसा अद्वैतवादिन् का मत है। अभेद, भेद

---

449 संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास, वेदान्त खण्ड, पृ.२०

का निर्वाहक होता है, ऐसा विशिष्टाद्वैतवादिन् का अभिमत है। अभेद शुद्ध है और भेद तो औपाधिक है, ऐसा अद्वैतवादिन् का कथन है। इस विवाद में अभेद का ही मुख्यार्थत्व (अभेद-सिद्धि) उनका सामान्य सिद्धान्त है। अत: अद्वैत-वेदान्त ही सभी वेदान्त की संजीवनी है, ऐसा निष्कर्षत: कहा जा सकता है।

अद्वैतवाद के विना 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य की पदार्थयोजना न्यायसंगत नहीं हो सकती, ऐसा ग्रन्थकार का मत है- *'अद्वैतवादं विना तत्त्वमसीति वाक्यस्य शब्दार्थयोजना पदार्थयोजना वा न न्यायसंगता भवतीति अस्मादृशानां मतम्। अत: तत्पदार्थस्य त्वंपदार्थस्य च जहदजहल्लक्षणया ब्रह्मात्मैक्यरूपोऽर्थो निश्चित:। तत्पदार्थस्य वाच्यार्थ: ईश्वर:, त्वंपदार्थस्य वाच्यार्थश्च जीव:, किन्तु जीव: ईश्वराद् भिद्यते, अतएव तयोरैक्ये विरोध:। स च लक्षणाबीजम्। जहदजहल्लक्षणया त्वंपदार्थस्य लक्ष्यार्थ: आत्मा तत्पदार्थस्य लक्ष्यार्थ: ब्रह्म। 'अयमात्मा ब्रह्म' इति श्रुते: तयोरैक्यं प्रतिपादितम्। अतएव तत्त्वमसि, त्वं ब्रह्म असि वेति आदेश:। सोऽहं ब्रह्मेति अनुभवश्च तत् त्वमसीति आदेशात् भवतीति सर्ववेदान्तसिद्धान्त:। ब्रह्मैव परमार्थ:। ब्रह्मसाक्षात्कारश्च सत्यसिद्धिरिति सर्ववेदान्तमतनिष्कर्ष:।'*[450]

'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य के तात्पर्य-निश्चय के सम्बन्ध में आचार्य शङ्कर के परवर्ती भाष्यकारों के मतों को प्रस्तुत करते हुए ग्रन्थकार अन्तत: उसका निष्कर्ष 'अभेद-सिद्धि' में करते हैं। इस क्रम में 'तत्त्वमसि' महावाक्य की वाक्यार्थ-संगति अद्वैतवाद की दृष्टि से करते हुए ग्रन्थकार का मत है कि अद्वैतवाद के विना 'तत्त्वमसि' वाक्य की शब्दार्थयोजना अथवा पदार्थयोजना न्यायसंगत नहीं हो सकती। अत: 'तत्' पदार्थ एवं 'त्वं' पदार्थ का जहदजहल्लक्षणा द्वारा ब्रह्मात्मैक्य रूप अर्थ-निश्चय किया गया है। 'तत्' पदार्थ का वाच्यार्थ ईश्वर तथा 'त्वं' पदार्थ का वाच्यार्थ जीव है, किन्तु जीव, ईश्वर से भिन्न होने के कारण दोनों के ऐक्य में विरोध उपपन्न होता है, जिसका परिहार लक्षणा द्वारा किया गया है। जहदजहल्लक्षणा द्वारा 'त्वं' पदार्थ का लक्ष्यार्थ आत्मा एवं 'तत्' पदार्थ का लक्ष्यार्थ ब्रह्म है। 'अयमात्मा ब्रह्म' इस श्रुति से दोनों का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है। अतएव 'तुम वही हो' अथवा 'तुम ब्रह्म हो'- ऐसा आदेश 'तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य द्वारा निर्दिष्ट है। 'वह मैं हूँ', ऐसी ब्रह्मात्मक अनुभूति 'तत्त्वमसि' आदेश से होती है, यह सर्व वेदान्त सिद्धान्त है। ब्रह्म ही परमार्थ है और ब्रह्मसाक्षात्कार सत्य-सिद्धि, यह सभी वेदान्त मत का निष्कर्ष ह

---

450 वही, पृ. २०

षष्ठ-अध्याय

वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ एवं भारतीय समाज पर उसका प्रभाव

षष्ठ-अध्याय

वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ एवं भारतीय समाज पर उसका प्रभाव

वेदान्त दर्शन अपनी पृथक्-पृथक् दार्शनिक दृष्टि के कारण एकरूपता के बावजूद भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। वैदिक ऋषियों द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा से दृष्ट श्रुतियों का आश्रय पाकर परमार्थ को प्रतिष्ठित करने वाली वेदान्त की दो विचारधाराएँ विकसित हुईं। एक ने जागतिक सच्चाईयों से पृथक् सतत एक जैसा रहने वाले सत्, चित् एवं आनन्द के रूप में सत्य को देखना चाहा। दूसरी विचारधारा ने वैश्विक सत्य को भी परमार्थ से श्लिष्ट करके इस विशेष के साथ परमार्थ को देखने का प्रयत्न किया। प्रथम विचारधारा का सम्बन्ध शांकर वेदान्त से है और दूसरी विचारधारा का सम्बन्ध आचार्य रामानुज से लेकर अन्य उत्तरकालिक वेदान्त सम्प्रदायों से है, ये दोनों विचारधाराएँ सत्य के सम्बन्ध में रखने वाले दृष्टि-वैभिन्य के कारण निर्विशेष एवं सविशेष विचारधारा के रूप में प्रचलित रही हैं।

सविशेषवादी विचारधारा ने परमार्थ के साक्षात्कार हेतु एक महत्त्वपूर्ण साधन को जन्म दिया, जो भक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। सबसे पर रहने वाला सत्य विशेषों से सर्वथा रहित है। वैसे परमार्थ को पर रूप में रखने की दृष्टि से निर्विशेषवाद की महत्ता कम नहीं है, किन्तु जगत् को भी समाहित करने एवं उपासना को अधिक महत्त्व देने के कारण सविशेषवादी विचारधारा का विस्तार जनमानस में अधिक हुआ। इस विचारधारा में वेदों के देववाद, पुराणों के अवतारवाद और उपनिषदों के आत्मवाद इन तीनों का मणिकाञ्चन समावेश है। यहाँ परमार्थ सत् अवतारीय गुणों से युक्त होने के कारण सांसारिक वस्तुओं की तरह समय-समय पर दृष्ट भी होता रहा है। जो सच्चाई विविध प्रकार की विशेषताओं से विशिष्ट होगी, अवतार के माध्यम से जिसका यश, गुण एवं लीलाएँ जगत् में प्रसारित होंगे, निश्चय ही उसकी प्राप्ति कीर्तन, भजन

एवं उपासना से सम्भव हो सकेगी। इसी कारण से सविशेषवादी विचारधारा में सत्यान्वेषण के साधन रूप में भक्ति को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया।

6.1. तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति के प्रति आचार्य शङ्कर की दृष्टि

शङ्कराचार्य ने जिस काल में भाष्य लेखन का कार्य किया, तत्कालीन समाज की प्रवृत्ति अवैदिकता की ओर हो रही थी। इसका मुख्य कारण वैदिक कर्मकाण्ड में हिंसा की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही थी तथा पण्डित वर्ग स्वेच्छाचारी एवं अनाचारी होता जा रहा था। अत: पारमार्थिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी एवं वैज्ञानिक प्रयोग पद्धति पर आधारित वैदिक ज्ञान की उपेक्षा करके समाज सुधारवादी बौद्ध धर्म की ओर उन्मुख हो रहा था। आचार्य शङ्कर के प्रादुर्भाव काल में अनेकानेक मत-मतान्तर एवं दर्शन विषयक भ्रान्त धारणाएँ समाज में प्रचलित हो गयी थी।

ऐसे समय में आचार्य शङ्कर ने भाष्य लेखन के माध्यम से वैदिक साहित्य पर की जाने वाली समस्त आपत्तियों का निराकरण वैदिक साहित्य को ही उद्धृत करके किया। काल विपर्यय के कारण बुद्धि का क्रमिक ह्रास होता है, जिसके परिणामस्वरूप जनमानस की स्वाभाविक प्रवृत्ति सरल, प्रवाहमयी साहित्य की तरफ होती है, इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए आचार्य शङ्कर ने अर्थ एवं भाव के अनुसार शब्दों का चयन करते हुए प्राञ्जल, प्रवाहमयी शैली में दर्शन के गम्भीर विषयों का प्रतिपादन किया।

6.2. भाष्य लेखन का प्रयोजन

आचार्य शङ्कर द्वारा प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लेखन का मुख्य प्रयोजन वैदिक कर्मकाण्ड में अनुचित रूप से व्याप्त हिंसा एवं पाखण्ड से उद्विग्न होकर भौतिकता की ओर उन्मुख हुए जन समुदाय को पुन: नि:श्रेयसकरी वैदिकता की ओर आकृष्ट करने के साधन के रूप में निर्मित किया गया। तत्कालीन समाज में खिन्न एवं भौतिकतावाद के समर्थक केवल युक्तियों के आधार पर भौतिकता का समर्थन कर रहे थे, ऐसी परिस्थितियों में आचार्य शङ्कर भी केवल युक्ति द्वारा जन समुदाय को आकृष्ट करने का प्रयास करते तो उनका कथन मात्र एक अन्य वाद बनकर सिमट जाता, किन्तु उन्होंने वैदिक साहित्य से प्रमाण उद्धृत करते हुए उसके आधार पर भौतिकतावाद का खण्डन एवं वैदिक विचारधारा का मण्डन किया।

भाष्यकार द्वारा भाष्य रचना का मुख्य उद्देश्य सूत्र में विद्यमान संक्षिप्त एवं गम्भीर तथ्यों का उद्घाटन कर अर्थ सम्प्रेषणीयता का समावेश करते हुए भाष्य-ग्रन्थों में निहित सिद्धान्तों को अधिकाधिक लोगों द्वारा ग्राह्य बनाना होता है। किसी ग्रन्थ अथवा सिद्धान्त की लोकप्रियता इस तथ्य पर निर्भर करती है, कि उसके सिद्धान्त कितने सरल एवं स्पष्ट हैं। जो भाष्य अर्थ प्रकाशन में जितना स्पष्ट होगा, समाज में उतना ही ग्राह्य होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि भाष्य रचना चित्रकाव्य की तरह नहीं होती, जिनमें केवल शब्दवैचित्र्य द्वारा रमणीयता का समावेश किया जा सके, अपितु अर्थगौरव की दृष्टि से समृद्ध होना भाष्यों के उत्कृष्टता का हेतु है।

6.3. भाष्य-पद्धति की विशिष्टता

वैदिक मान्यताओं के औचित्य प्रतिपादन हेतु आचार्य शङ्कर श्रुतियों एवं स्मृतियों से प्रमाण उद्धृत करके उसकी तर्क संगत युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। इस क्रम में आपाततः प्रतीत होने वाले विरोध का पूर्वापर प्रसंग एवं व्याकरण के उपयोग द्वारा विरोध का परिहार करते हुए समन्वय स्थापित करते हैं। उन्होंने जिस अर्थ को युक्ति से सिद्ध किया, उसी की प्रामाणिकता में अनेकानेक श्रुतियों एवं स्मृतियों का भी उद्धरण देते हैं।

आचार्य शङ्कर ने भाष्य लेखन के क्रम में सूत्रों में निहित गूढार्थ के प्रतिपादन हेतु अनेकानेक पद्धतियों का उपयोग करते हुए गम्भीर अर्थों का उद्घाटन करते हैं। इस क्रम में भाष्यों में प्रयुक्त 'दार्शनिक-पद्धति' के कारण समाज का वह वर्ग भी शाङ्करभाष्य का समर्थक बन गया, जो श्रुति एवं स्मृति प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करता था। इसका मुख्य कारण यह रहा कि 'दार्शनिक-पद्धति' में युक्ति एवं तर्क प्रक्रिया को विशेष रूप से महत्त्व दिया गया है। तर्क यथार्थ ज्ञान के निश्चय में सहायक होता है। यहाँ तर्क तत्त्वज्ञान नहीं है, अपितु तत्त्वज्ञान प्राप्ति का साधन है। आचार्य शङ्कर सिद्धान्त प्रतिपादन में ऐसी तर्क-प्रक्रिया का आश्रय लिया जो श्रुतिसम्मत एवं सनातन थी।

अर्थ प्रकाशन के सन्दर्भ में सूत्रों के अनुसार प्रतिपद व्याख्या करते हुए एक अध्याय में कुछ कह दिया तथा दूसरे में पूर्वस्थापित सिद्धान्त के विरूद्ध कथन कर दिया, ऐसी विसङ्गति शाङ्करभाष्य में देखने को नहीं मिलती, अपितु समस्त भाष्य में 'अद्वैत-सिद्धान्त' का ही

दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया गया है। यदि कहीं किञ्चित मात्र भी विरोध की प्रतीति होती है, तो उस शब्द की व्याख्या पर विशेष बल देकर प्रमाण पूर्वक उसकी अद्वैत-सिद्धान्तानुकूल प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। शाङ्करभाष्य में कहीं भी स्वयुक्ति विरूद्धत्व की प्रतीति नहीं होती है।

शाङ्करभाष्य के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने भाष्य का प्रणयन 'शास्त्रार्थ-शैली' में किया है। आचार्य शङ्कर अपने मन्तव्य की स्थापना करते समय पूर्वपक्ष की ओर से अनेकानेक सम्भावित आरोप पूर्णनिष्पक्षता के साथ सिद्धान्त पर आरोपित करके तदनन्तर उत्तरपक्ष के रूप में क्रमश: उसका निराकरण करते हुए सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करते हैं।

ग्रन्थारम्भ में ही वर्ण्य-विषयवस्तु का सारांश रूप में सम्बन्ध-भाष्य के द्वारा अथवा उपोद्घात के माध्यम से परिचयात्मक भाष्य प्रस्तुत करना भाष्य-पद्धति की प्रमुख विशेषता है, जिससे विषयावगति में अत्यन्त सहायता मिलती है। शाङ्करभाष्यों में सर्वत्र परिचयात्मक उपोद्घात-पद्धति का प्रयोग किया गया है। उनके समस्त भाष्य ग्रन्थों के आरम्भ में ग्रन्थ की विषयवस्तु का व्यापक एवं पर्याप्त परिचय उपलब्ध होता है। उन्होंने ग्रन्थारम्भ में ही नहीं अपितु अध्याय, सूत्र एवं श्लोक से पूर्व भी सन्दर्भ रूप में वर्ण्य वस्तु का संकेत प्राय: सर्वत्र ही किया है।

आचार्य शङ्कर के प्रादुर्भाव काल में जो अनेकानेक मत-मतान्तर एवं दर्शन विषयक भ्रान्त धारणाएँ समाज में प्रचलित हो रही थी उसके निवारण हेतु भाष्यकार ने 'आलोचनात्मक-पद्धति' का उपयोग किया, क्योंकि अनेक मत-मतान्तर एवं दर्शन विषयक भ्रान्त धारणाओं के गुण-दोषों का विश्लेषण किये बिना स्वसिद्धान्त (अद्वैतमेव परं तत्त्वम्) की स्थापना सम्भव नहीं थी। अत: तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक आचार्य भगवत्पाद के भाष्य में जो सैद्धान्तिक आलोचना का स्वरूप है, वह पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष की पूर्ण परीक्षा के पश्चात् स्वमन्तव्य का प्रतिपादन करने वाली है। अत: भाष्यकार द्वारा पूर्वपक्षियों के प्रबल तर्कों की श्रुतिवाक्यों के उद्धरण से विरोध का परिहार किया गया है।

अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण तथा विरुद्ध मतों के निराकरण हेतु एवं जनमानस की बुद्धि का विषय बनाने हेतु आचार्य शङ्कर भाष्य में दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषयभूत

अनेकानेक दृष्टान्तों का उपयोग करते हैं। उन्होंने दैनिक अनुभव के अनेकानेक अनुभूत तथ्यों एवं लोकव्यवहार के तत्त्वों को दृष्टान्त की विषयवस्तु बनाकर अद्वैत-विचारधारा में वैशद्य का समावेश किया। भाष्यों में अनायास एवं नैसर्गिक रूप से लोकव्यवहार की शिक्षा देने वाले अनुपम वाक्यों एवं दृष्टान्तों के समन्वय से शाङ्करभाष्य जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ।

6.4. अद्वैत-विचारधारा का भारतीय समाज पर प्रभाव

पूर्ण रूप से यदि भाष्य को जनमानस के प्रवाहित करना अभिष्ट हो तो सामान्य जनों के दैनिक व्यवहार की अनुभूतियों को सिद्धान्त प्रतिपादन में साधनता प्रदान करना अत्यन्त आवश्यक है। सामान्य वर्ग की इस मानसिकता से आचार्य शङ्कर पूर्णरूप से परिचित थे और इस तथ्य से भी भली-भाँति परिचित थे कि क्लिष्ट भाषा अर्थ सम्प्रेषण में बाधक होती है। यदि भाष्यों की भाषा प्रसाद गुण से सम्पन्न नहीं होगी, तो वह जनमानस में कदापि लोकग्राह्य नहीं हो सकती। इन बातों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सरल एवं प्राञ्जल भाषा को अपने सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का माध्यम बनाया। भाष्य में छोटे-छोटे एवं शीघ्र अर्थबोधक वाक्यों का प्रयोग करते हुए योगियों के लिए भी दुर्विज्ञेय, अत्यन्त गम्भीर विषय को अतीव सरलता से बोधगम्य बनाकर जनसामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया है।

आचार्य शङ्कर ने भाष्य को अधिकाधिक सरल, स्पष्ट एवं लोकप्रिय बनाने हेतु लोक व्यवहार से ही साधन सामग्री को ग्रहण किया। इस क्रम में उन्होंने सामान्य से सामान्य जन भी दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में जिन तथ्यों की साक्षात् अनुभूति करता है, उन अनुभव के विषयभूत रज्जु-सर्प दृष्टान्त, शुक्तिका-रजत दृष्टान्त, तन्तु-पट दृष्टान्त, घटाकाश-महाकाश दृष्टान्त, मृत्तिका-घट इत्यादि बहुविध दृष्टान्तों के माध्यम से वेदान्त के गम्भीर तथा गूढ़-रहस्यों को सामान्य जन मानस की भूमि पर उतार कर उन्हें अनायास ही बोधगम्य बनाया।

शाङ्कर भाष्य में अर्थ गाम्भीर्य प्रचुर मात्रा में समाहित है। ऋषियों की वाणी के समान उनके भाष्यों की भाषा अर्थानुगामिनी है। भाषा में शब्द एवं अर्थ का सामंजस्य, विषयानुकूल हृदयग्राही शब्द योजना, वर्ण्य विषय एवं वर्णन के माध्यम में एकरूपता भाव एवं भाषा में घनिष्ट सम्बन्ध, कोमलकान्त पदावली से युक्त, उदात्त वर्णन शैली एवं स्वल्प शब्दों द्वारा विपुलार्थ प्रकाशन का सामर्थ्य सन्निहित है।

आचार्य शङ्कर ने सिद्धान्तों के सरलीकरण, स्पष्टीकरण एवं प्रामाण्य हेतु निरुक्तकार के निर्वचन सम्बन्धी उन नियमों का अनुसरण किया है, जिसमें कहा गया है कि किसी न किसी समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए। इस कथन का अभिप्राय यह है कि शाङ्कर भाष्य में क्लिष्ट शब्दों को किसी न किसी युक्ति से स्पष्ट करते हुए उसे जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण हेतु श्रुतिप्रामाण्य, स्मृतिप्रामाण्य, तर्कप्रक्रिया आदि का प्रमुख रूप से आवलम्बन करते हुए गूढातिगूढ भावों की अभिव्यक्ति भी लालित्ययुक्त पदों के द्वारा करते हैं। उनकी भाषा में प्राय: प्रसाद एवं माधुर्य गुण तथा वैदर्भी एवं पाञ्चाली रीति का प्रयोगाधिक्य देखने को मिलता है। इसी कारण से भामतीकार ने शाङ्कर भाष्य में प्रयुक्त भाषा को प्रसन्न गम्भीर एवं गङ्गा प्रवाह के समान निर्मल बताया।

इस प्रकार वैदिक कर्मकाण्ड में व्याप्त हिंसा की बढ़ती जा रही प्रवृत्ति तथा स्वेच्छाचारी एवं अनाचारी पण्डित वर्ग के स्वभाव के कारण जो भारतीय समाज वैदिकता से दूर बौद्ध विचारधारा की ओर उन्मुख हो रहा था। आचार्य शङ्कर द्वारा प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लेखन के कारण पुन: भारतीय समाज की प्रवृत्ति अवैदिकता की तरफ से वैदिकता की ओर हुई।

6.5. आचार्य शङ्कर का वैश्विक दृष्टिकोण

वर्तमान परिदृश्य में उपभोगवादी दृष्टिकोण के कारण जहाँ एक ओर भौतिक सम्पन्नता बढ़ी है, वहीं दूसरी ओर भ्रष्टाचार, कलह, अशान्ति तथा समाज में अराजकता का माहौल व नैतिक मूल्यों का ह्रास होने से समाज विखर रहा है। भौतिकतावादी दृष्टि के कारण ही समाज में भ्रष्टाचार, हिंसा, आतंक जैसी समस्याएँ तथा जाति, धर्म-सम्प्रदाय के कारण वर्ग-संघर्ष, परस्पर तनाव व मानसिक अशान्ति का वातावरण हो गया है। नैतिक मूल्यों के ह्रास होने से समाज में व्यक्ति (Self Identity) की प्रधानता तथा भावनात्मक पक्षों की कमी के कारण असहिष्णुता, स्वार्थपरता तथा अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षाभाव बढ़ता जा रहा है, जिससे वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक, मानवीय, वैश्विक तथा पर्यावरण सम्बन्धी अनेकानेक समस्याएँ प्रबल रूप से बढ़ रही हैं। विश्वशान्ति और विश्वबन्धुत्व का भाव तथा समाज में सामञ्जस्य स्थापित करने और मानव कल्याण के लिए वैश्विक-चिन्तन की अत्यन्त आवश्यकता है।

यह शाश्वत सत्य है कि एकाङ्गिक दृष्टिकोण का परिणाम सदैव एकाङ्गिक ही होता है। जगत् के नियमानुसार एकतरफा विकास अधिक समय तक नहीं चल सकता। सीधी रेखा में होने वाली गति का जैसे एक प्रारम्भ विन्दु होता है, वैसे ही एक निर्धारित अन्त भी होता है। चक्रवत् गति ही सतत और चिरन्तनीय होती है। वैदिक ऋषियों द्वारा अपने जीवन प्रणाली में वैविध्यपूर्ण अनेक घटनाओं, अनुभवों और परिस्थितियों का विवेचन करते हुए पार्थिव जीवन में भी पूर्णता और अमृतत्त्व की अनुभूति की गयी थी।

वर्तमान समस्याओं के निदान हेतु आचार्य शङ्कर का वैश्विक चिन्तन टूटते हुए समाज को संगठित करने में एक सशक्त माध्यम बन सकता है। इस चिन्तन में सम्पूर्ण जगत् चेतनमय और ईश से व्याप्त है। जगत् में जो कुछ भी है, वह ईश्वर प्रणीत है। अत: त्यागभाव से उसका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि जिस वस्तु में स्वत्व होता है, उसमें राग होता है, और जिसमें राग होता है, उसे पाने की कामना और प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति से जन्म होता है, जो दु:ख का कारण होता है। किन्तु जब *"तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:"*[i] का भाव जागृत हो तो किसी वस्तु के प्रति राग नहीं होता। अत: व्यक्ति उपलब्ध वस्तु में ही सुख का अनुभव करता है। मनुष्य जीवन सीमित है, अत: मानव जीवन के लक्ष्य (मोक्ष प्राप्ति) को छोड़कर भौतिक वस्तुओं के पीछे भागना व्यर्थ है।

अत: मानव को पाशविक बन्धन से मुक्त होने, सामाजिक कर्तव्यों के प्रति जागरूक बनाने एवं धर्म, जाति, वर्ण, सम्प्रदाय आदि से पृथक होकर एक आदर्श मानव समाज की स्थापना करने में आचार्य शङ्कर की चिन्तन प्रणाली एक सशक्त माध्यम का कार्य करती है। आज के परिप्रेक्ष्य में उठने वाली समस्त समस्यायें चाहे वह सामाजिक हो, राजनैतिक हो, ऐतिहासिक हो, अथवा वैज्ञानिक हो इन समस्त समस्याओं का समाधान वैदिक विचारधारा पर आधारित आचार्य शङ्कर की चिन्तन प्रणाली द्वारा किया जा सकता है।

सभी प्राणियों में दु:ख निवृत्ति पूर्वक आनन्द प्राप्ति की नैसर्गिकी अभिलाषा रहती है। इसको दृष्टिगत रखते हुए वैदिक परम्परा द्वारा अपने जीवन प्रणाली में वैविध्यपूर्ण अनेक घटनाओं, अनुभवों और परिस्थितियों का विश्लेषण करके मानव जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरूषार्थों का निर्धारण किया गया है, जिनमें मोक्ष को परम पुरूषार्थ के रूप में माना गया

है- *'संसारनिवृत्तिरपवर्ग इह प्रयोजनं विवक्षितम्।'*[451] अद्वैत वेदान्त में मानव का लक्ष्य एवं उसका वास्तविक स्वरूप विषयक चिन्तन प्रधान रहा है। इस दिशा में मानव जीवन को समुन्नत करने में केवल एकमात्र धर्म ही साधन है। अर्थ और काम धर्म से नियन्त्रित होना चाहिए, क्योंकि *'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता:।'*[452] कर्म और अकर्म के स्वरूप के विषय में विद्वज्जन भी क्लिष्टता का अनुभव करते हैं।

वैदिक वाक्य अनन्त हैं, किन्तु उनका पर्यवसान साक्षात् या परम्परया एक ही पद में होता है, वह है 'अद्वितीय ब्रह्म'। जीव को उसके वास्तविक स्वरूप से परिचित कराने में वेदान्त चरितार्थ है। व्यक्ति तथा समाज का यही एकमात्र ध्येय होना चाहिए। इसी में दोनों का आत्यन्तिक हित है, इसके अतिरिक्त अन्य सब बातें आर्त अर्थात् दु:ख या विनाश से पीड़ित हैं।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर का व्यापक चिन्तन सबमें समभाव रूप ऐक्य दर्शन द्वारा समरसता का सन्देश देते हुए न केवल अपने-पराये के भेद को मिटाता है, अपितु हिंसा, कलह, कूटनीति, दुर्व्यवहारों आदि अराजक, अशान्तिदायक तत्त्वों का भी नाशक है। वेदान्त के अनुशीलन से जीवन में जो शान्ति एवं सुख मिलता है, वह अन्य किसी पद्धति से नहीं। साम्प्रदायिक एवं वैश्विक समस्या प्रधान युग में भी वेदान्त की उपादेयता सर्वत्र मुग्धभाव से स्वीकार्य है।

आचार्य शङ्कर का सिद्धान्त धर्म जाति से ऊपर उठकर मानव को मानव होने का बोध कराने के साथ ही स्वस्वरूपावबोध द्वारा आत्मशक्ति को पहचानने की ऊर्ध्वगामी प्रेरणा देता है- *'अमृतत्वकामस्य ब्रह्मज्ञानं विधीयते।'* ब्रह्मावगति ही परम पुरूषार्थ है। इस प्रसंग में आचार्य शङ्कर *'विज्ञानसहितम् अनुभवयुक्तं ज्ञानम्'*[453] कहकर अनुभवात्मक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। उस विज्ञान सहित ज्ञान द्वारा व्यक्ति आत्मवत् समभाव रूप एकत्व को देखता है। यहाँ अनुभवात्मक ज्ञान से आचार्य का तात्पर्य है- 'ज्ञान को आत्मसात करना'। *'अनुभव: तु हि अन्त्यं प्रमाणम्'* के अनुसार अनुभव ज्ञान की पराकाष्ठा का अपर अभिधान है।

---

451 ब्र.सू.शां.भा.भामतीटीका

452 गीता, ४/१६

453 गीता.शां.भा. ९/१

आचार्य शङ्कर के अनुसार अद्वैतभावरूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करना ही जीवन का लक्ष्य नहीं है, अपितु ब्रह्मज्ञान के अनन्तर उसका अनुभव करना और जीवन में उसके अनुसार आचरण करने पर उसकी सार्थकता सिद्ध होती है। *'अनुभूति पर्यन्तं ज्ञानम्'* कहकर आचार्य ने ज्ञान को शुष्क तर्क की परिधि से निकालकर व्यक्तिगत अनुभव से जोड़ा। यदि ज्ञान जीवन में न उतर सके तो ऐसे ज्ञान से क्या लाभ? फलत: आत्मज्ञान आत्मानुभूति है- *'प्रमाणजनितज्ञानचक्षुष: ते विविक्तदृष्टय: एनं पश्यन्ति।'*[454] अर्थात् प्रमाण जनित ज्ञानचक्षु से युक्त विवेक दृष्टि वाला व्यक्ति आत्मा का अनुभव करते हुए मूलतत्त्व की अनुभूति कर सच्चे अर्थों में *'आत्मवत् सर्वभूतेषु'* की भावना से युक्त होकर समस्त प्राणिजगत् को आत्मवत् देखता है। इससे बढ़कर मानवतावाद का और कोई आधार नहीं हो सकता।

चिन्तन की व्यापकता द्वारा *'आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्त्ये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते।'*[455] कथन के अनुसार अपने-पराये के भेद को मिटाकर मानवमात्र के भीतर चैतन्य को अपनी ही आत्मा के समान देखने का सर्वात्म्यभाव जागृत होने से घृणा, द्वेष, शत्रुता, हिंसक प्रतिस्पर्धा, वर्बर अमानवीयता इत्यादि आसुरी प्रवृत्तियों का समूल विनाश स्वत: ही सम्भव हो जाता है।

इस प्रकार वैदिक ज्ञान एवं आचार्य शङ्कर के एकत्ववादी चिन्तन की जितनी आवश्यकता वैदिक काल में थी, उतनी ही नहीं, प्रत्युत उससे भी अधिक आवश्यकता आज के समाज के लिए है। वैदिक-चिन्तन प्रणाली के अनुसार आचरण करने से मानव जाति की ही नहीं, अपितु चराचर जगत् की समस्त समस्याओं का निदान सम्भव है।

6.6. प्रकृति और मनुष्य के बीच समरसता

आचार्य शङ्कर की चिन्तन-परम्परा में एकाङ्गिक-चिन्तन के विपरीत सम्बद्धता के सिद्धान्त द्वारा अनेकात्मक सृष्टि एक ही परमतत्त्व की अभिव्यक्ति है। सृष्टि की प्रत्येक वस्तु अन्य सभी वस्तुओं से आन्तरिक रूप से सम्बद्ध है तथा परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित है। इसमें सह-अस्तित्व की भावना द्वारा मनुष्य और प्रकृति के बीच सन्तुलन का सन्देश देते हुए त्यागपूर्वक जीवन यापन कर प्रकृति को सुरक्षित रखने की कामना की गयी है। पर्यावरण की सुरक्षा होने

---

454 गीता.शां.भा. १५/१०

455 ब्र.सू.शां.भा.भामतीटीका

से मनुष्य सुरक्षित हो सकता है। अत: आचार्य शङ्कर की चिन्तन प्रणाली वैश्विक-दृष्टिकोण द्वारा *'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'* के भाव से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए आने वाली पीढ़ी के अस्तित्व को ध्यान में रखकर धर्म आधारित विकास (Sustainable development) का कार्य करती हुई समग्र मानवता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है।

इस प्रकार आचार्य शङ्कर अपने व्यापक चिन्तन प्रणाली द्वारा समरसता का भाव जागृत करते हुए विशाल राष्ट्र व विश्व को एकता के सूत्र में आबद्ध कर समाज में व्याप्त जटिलताओं, दुराग्रहों व पूर्वाग्रहों को दूर करते हुए मानव को मोह-माया, राग-द्वेषादि से ऊपर उठाकर प्रेम, सद्भाव, सौहार्द्र, शान्ति व आन्तरिक एकता का सन्देश देते हैं, जो मानव मात्र के लिए सर्वथा तथ्यपरक परम उपादेय व सर्वजन ग्राह्य है।

6.7. सामाजिक-समस्या और उसका समाधान

वर्तमान परिदृश्य में उपभोगवादी दृष्टिकोण के कारण अत्याधुनिक भौतिकतावादी विकास की दौड़, वैश्वीकरण, भ्रष्टाचार, युद्ध व संघर्ष की भयावहता, हिंसा, आतंक, वर्ग-संघर्ष आदि के रूप में अनेकानेक समस्याएँ प्रबल रूप से मनुष्य के सामने उपस्थित हैं। आज समाज धर्म, सम्प्रदाय, जाति-पाँति की उलझनों में उलझा हुआ तथा भौतिकता मात्र में डूबने के परिणामत: अशान्ति, तनाव एवं मानसिक विषादों से ग्रस्त मानव का जीवन नरकीय व यन्त्रणात्मक हो गया है।

इन सभी समस्याओं का स्थायी समाधान तभी सम्भव है, जब हम वेदान्त के वैश्विक दृष्टिकोण द्वारा सृष्टि में सृजित प्रत्येक चेतन-अचेतन तत्त्व को ईश्वरीय कृति के रूप में अपने समान समझें। हमारा *'सर्वे भवन्तु सुखिन:'* का विस्तृत दृष्टिकोण हो, जिसमें मानवमात्र के प्रति कल्याण की पवित्र भावना निहित है।

6.8. वर्तमान परिप्रेक्ष्य में वेदान्त की उपादेयता

आचार्य शङ्कर वर्तमान युग की भौतिक समृद्धि की चकाचौंध में उलझे प्राणियों के लिए आत्मस्वरूपबोधादि सिद्धान्तों के माध्यम से मानव को एकाङ्गिक सङ्कीर्ण चिन्तन प्रणाली से पृथक कर जीवन के वास्तविक स्वरूप (परम लक्ष्य) की दिशा में उन्मुख कर आध्यात्मिक

एवं आत्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त करते हैं, जिससे मानव-मानव में एकता, समत्व, सौहार्द्र, शान्ति, विश्वबन्धुत्व व वसुधैव-कुटुम्बकम् का भाव जागृत होता है। यह चिन्तन सर्वात्म्यभाव की व्यापक विचारधारा द्वारा व्यक्ति को मैं, मेरा, धर्म, समाज, जाति-पाँति की सङ्कुचित परिधियों से ऊपर उठाकर मानव को मानवमात्र के स्वरूप चैतन्य की अनुभूति कराता है। अत: यह नैतिक सन्देश आज के युग में विश्व मानवता के कल्याण, विश्वशान्ति एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना के पवित्र उद्देश्य की पूर्ति हेतु मानवमात्र द्वारा अनुकरणीय है।

आचार्य शङ्कर मानवमात्र के प्रति *'अयं निज: परोवेति'* की गणना से ऊपर उठकर सबमें समभाव रूप ऐक्य का सन्देश देते हुए भौतिक जगत् की क्षणभंगुरता और नाशवान स्वरूप को बताकर मनुष्य को इस जगत् से मोह एवं अहंकार नहीं करना चाहिए। व्यक्ति को राग-द्वेष, आसक्ति तथा इस बाह्य भौतिकता से निर्लिप्त रहते हुए *'भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति'*[456] के रूप में आत्मैकत्वभाव का अनुभव करते हुए *'सर्वे भवन्तु सुखिन:'* के विस्तृत दृष्टिकोण द्वारा वैश्विक हित और समस्त मानवता के कल्याण के लिए अनवरत प्रयत्न करना चाहिए। अद्वैत सिद्धान्त व्यक्ति में आन्तरिक एकता, प्रेम, सद्भाव, मानसिक सन्तुष्टि व आध्यात्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर वर्तमान सामाजिक, मानवीय एवं वैश्विक समस्याओं के निदान का एकमात्र उपाय है।

स्वस्थ समाज के निर्माण की दिशा में आचार्य शङ्कर का यह सकारात्मक चिन्तन व्यक्ति को परिच्छिन्न सीमाओं, बन्धनों और सङ्कीर्ण विचारों से अलग कर जीवन यापन के उच्च आदर्शों तथा मानव हृदय के परिष्कार की दिशा में व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उठने वाली सामाजिक, मानवीय और वैश्विक समस्याओं के निदान तथा सम्पूर्ण मानवता के उद्धार के लिए यह सञ्जीवनी तुल्य मार्ग है। इस चिन्तन प्रणाली में निहित मन्तव्य, कथ्य एवं सन्देशों को समष्टि कल्याण हेतु एक बार फिर से समझने और जन-जन तक पहुँचाने एवं प्रसारित करने की आवश्यकता है। आचार्य शङ्कर का समग्र चिन्तन *'यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे'*

---

[456] केन.उ. २/५

की भावना से समन्वित होकर व्यक्ति के व्यापक स्वरूप का बोध कराता हुआ *'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'* की भावना को जीवन्त करता है।

6.9. भक्ति परक दृष्टिकोण से वैष्णव-सम्प्रदायों का अवलोकन

आचार्य शङ्कर के अनन्तर उत्तरवर्ती वेदान्त सम्प्रदाय किसी न किसी रूप में भगवान् विष्णु में परमार्थ दर्शन करता है, इसीलिए इसे 'वैष्णव-वेदान्त' के रूप में अभिहित किया गया है। अपनी सविशेषात्मक और भक्तिपरक विशेषताओं के कारण वैष्णव-वेदान्त के दार्शनिक विचारधारा ने दक्षिण से उत्तर, पूर्व से पश्चिम तक सम्पूर्ण भारतवर्ष के दार्शनिक चिन्तन को प्रभावित किया। वैष्णव-भक्ति आन्दोलन का प्रभाव केवल भारत में ही नहीं, अपितु जावा, बालि, मलेशिया, कम्बोडिया आदि देशों की साहित्यिक रचनाओं एवं ललित कलाओं पर भी पड़ा।

आठवीं शताब्दी से लेकर अभी तक सनातन एवं पौराणिक परम्परा के अनुकूल भक्ति एवं उपासनापरक जो साहित्य प्रणीत हुए, उनमें वैष्णव दार्शनिक चिन्तन सर्वत्र अनुस्यूत है। तमिलनाडु, आसाम, गुजरात, बिहार, उड़ीसा, बङ्गाल, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश का भक्तिपरक साहित्य वैष्णव-विचारधारा से ओतप्रोत है।

वेदान्त के वल्लभादि विचारधारा में *'कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने'* भाव के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण को ही एक मात्र परमाराध्य (परमतत्त्व) के रूप में मानते हुए उनके अनन्त स्वरूप, लीला विग्रह एवं विराट् व्यक्तित्व की अंतरंग प्रेरणा के आधार पर वैष्णव-दर्शन में भिन्न-भिन्न चिन्तन-प्रणाली एवं साधना-पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्हें दार्शनिक क्षेत्र में द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि नामों से अभिहित किया गया है।

भगवान् कृष्ण की क्रीडा स्थली व्रज, गोकुल एवं वृन्दावन में विद्यमान वल्लभ, निम्बार्क आदि भिन्न-भिन्न मतावलम्बी भक्तों की उपस्थिति के कारण और इनकी रचनाओं के माध्यम से धार्मिक महत्त्व की प्रतिष्ठा प्रवर्धित हुई। वैष्णव-दर्शनों में निम्बार्क, वल्लभ, चैतन्य एवं हितहरिवंश सम्प्रदाय राधा-कृष्ण की उपासना पर विशेष रूप से बल देते हैं। इन सम्प्रदायों ने

अपनी उपासना-पद्धति में सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य-भाव को प्रधानता दी। हितहरिवंशीय-सम्प्रदाय, चैतन्य विचारधारा की तरह मधुरामृतसिक्त स्वरूप का उपासक है, किन्तु उसकी यह उपासना शक्ति स्वरूपा भगवती राधारानी के माध्यम से है, अर्थात् राधा इनकी मुख्य उपास्य हैं, श्रीकृष्ण की उपास्यता तो राधारानी के कारण बनती है। जहाँ चैतन्य विचारधारा में भगवान् श्रीकृष्ण को विषय माना गया है और राधा को आश्रय, वहीं राधावल्लभीय चिन्तन में राधा को विषय और श्रीकृष्ण को आश्रय रूप में स्वीकार किया गया है।

निम्बार्क तथा राधावल्लभ मत राधा-विग्रह कृष्ण की उपासना के पक्षपाती रहे हैं। राधावल्लभीय-परम्परा में राधारानी का ही प्रामुख्य है। वृन्दावन स्थित गौडीय सन्तों और आचार्यों का सम्बल प्राप्त कर राधा-कृष्ण की युगलोपासना वृन्दावन क्षेत्र में प्रभावशाली रूप से जन-जन में व्याप्त हुई। इस मत के प्रबुद्ध सन्तों और आचार्यों ने युगलोपासना की शास्त्रविहितता प्रमाणित करके इसका औचित्य परिनिष्ठित किया।

भगवान् कृष्ण के साथ राधारानी के स्वरूप की महत्ता, जो व्रज क्षेत्र में इस समय प्रतिष्ठित हुई, निश्चय ही यह बाद में विकसित हुए कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के लिये सहायक सिद्ध हुई। राधावल्लभीय चिन्तन धारा के कई भक्त आचार्यों और सन्तों का सम्बन्ध चैतन्य विचारधारा से था। चैतन्य-मत के आचार्यों से प्रभावित होने का ही यह परिणाम था कि हितहरिवंश मत को गौडीय सम्प्रदाय का एक शाखा मान लिया गया। गौडीय भक्त आचार्यों और सन्तों से प्रभावित राधावल्लभीय आचार्यों में अब श्रीहरिव्यास जी का नाम नि:संकोच पूर्वक लिया जाता है। इसके सैद्धान्तिक चिन्तन, भक्ति-भावना एवं रहन-सहन के मूल में चैतन्य तथा इसके अनुयायी गोस्वामी आचार्यों का वर्चस्व निहित है।

परमात्मा कृष्ण की उपासना शक्ति राधारानी श्रीकृष्ण की ऐसी शक्ति हैं, जो इन्हें भी उपकृत करती हैं। *राधिकोपनिषद्* में राधा और कृष्ण एक-दूसरे के उपासक के रूप में अभिहित किये गये हैं। लीला के प्रयोजन से एक ही तत्त्व का दो रूपों में प्राकट्य हुआ- *'कृष्णेन आराध्यते इति राधा। येयं राधा यश्च कृष्णो ... क्रीडार्थं द्विधाऽभूत।' (राधिकोपनिषद्)।* प्रभु कृष्ण की लीला का आश्रय राधारानी हैं। भगवती राधिका परब्रह्म श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति ही नहीं, अपितु वे स्वयं भी श्रीकृष्णमय हैं, क्योंकि लीला के सम्पादन के लिये एक ही तत्त्व अपने को

राधा और कृष्ण के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार वैष्णव आचार्यों ने शरणागति, सेवा, समर्पण, प्रपत्ति आदि का महत्त्व बताकर जन-समुदाय को प्रभु की कृपा प्राप्त करने का सत्परामर्श दिया।

6.10. अचिन्त्यभेदाभेद विचारधारा का उद्भव एवं भारतीय समाज पर प्रभाव

चैतन्य वेदान्त की दार्शनिकता अचिन्त्यभेदाभेद के रूप में दर्शन जगत् में विख्यात है। यह अचिन्त्य तत्त्व चैतन्य परम्परा के दार्शनिक मूल्यों का परमाधार है। इस सम्प्रदाय का आविर्भाव महाप्रभु चैतन्य से हुआ। इसके अनुयायी सनातन गोस्वामी, रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी आदि के सहयोग से पल्लवित होकर यह विचारधारा बङ्गाल, उड़ीसा एवं मथुरा-वृन्दावन के समन्वित परिवेश में विकसित हुई। १६वीं शताब्दी के आरम्भ में आविर्भूत होने के अनन्तर भी १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आचार्य बलदेव विद्याभूषण के महनीय योगदान से इसे वेदान्त दर्शनानुकूल शास्त्रीय वैशिष्ट्य से मण्डित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अचिन्त्य की भूमि पर विकसित दार्शनिक विचारधारा, श्रीकृष्ण का पूर्ण ब्रह्मत्व, शक्ति की व्यापक प्रतिष्ठा, भक्ति का विशद शास्त्रीय समीक्षा, गोपिकाओं और राधारानी का अद्वितीय भक्त्यात्मक एवं शक्त्यात्मक स्थान एवं स्वकीया-परकीया भाव इत्यादि तात्त्विक स्थापनाएँ गौडीय वेदान्त को विशिष्टता प्रदान करती हैं।

चैतन्य महाप्रभु द्वारा जिस वैष्णव विचारधारा की स्थापना हुई, उसका प्रभाव मुख्य रूप से बङ्गाल, उड़ीसा, बिहार एवं उत्तर भारत के जनमानस पर पड़ा। महाप्रभु के समय में न केवल भारत अपितु बृहत्तर भारत में भी वैष्णव दर्शन एवं धर्म व्याप्त रहा। आचार्य गौराङ्गेश्वर चैतन्य के साहित्यिक योगदान से बङ्गाल, उड़ीसा और उत्तर प्रदेश में विद्यमान वैष्णव आचार्यों एवं सन्तों ने चैतन्य के भक्ति आन्दोलन एवं गौडीय मत के दार्शनिक-सिद्धान्तों से निश्चित रूप से अवगत हुए।

अचिन्त्य सम्प्रदाय पूर्वी भारत के वैष्णव चिन्तन में अति चर्चित और प्रभावशाली तो रहा ही, इसके साथ ही साथ व्रजमण्डल में प्रतिष्ठित निम्बार्क, वल्लभ तथा हितहरिवंशीय वैष्णव सम्प्रदायों में भी इसकी विशिष्ट भूमिका रही। यह निर्विवाद सत्य है कि गौडीय भक्ति आन्दोलन के पूर्व मथुरा एवं वृन्दावन का क्षेत्र निम्बार्क तथा वल्लभ के धार्मिक एवं भक्ति सम्बन्धी

विचारों के प्रचार-प्रसार का प्रमुख स्थल बना हुआ था, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के वृन्दावनीय यात्रा से व्रज भूमि के अनेक स्थानों का पुनरूद्धार हुआ और कीर्तन, भजन तथा मधुरोपासना की प्रतिष्ठा जनमानस में बढ़ी।

कृष्ण चैतन्य ने जिस भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ बङ्गाल में किया उसको विस्तार देने में नित्यानन्द का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। नित्यानन्द और चैतन्य को बङ्गाल में निताई एवं निमाई नाम से भी जाना जाता है। महाप्रभु चैतन्य की भक्ति सम्बन्धी विचारधारा का बङ्गाल के साथ ही साथ उड़ीसा में भी व्यापक प्रभाव रहा। उत्कल प्रान्त में महाप्रभु के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर अनेक सन्तों और महात्माओं ने उनका अनुयायित्व स्वीकार किया। चैतन्य महाप्रभु की साधना स्थली जगन्नाथपुरी रही है। उनके यहाँ निवास करने के कारण पुरी तथा समीपवर्ती क्षेत्रों में गौडीय मतानुयायी वैष्णवों की संख्या में वृद्धि हुई। महाप्रभु चैतन्य एवं इनके अनुयायियों के सम्मिलित प्रयास से वैष्णवेतर धार्मिकों का भी रूझान वैष्णव धर्म की ओर बढ़ा। अनेक बौद्ध धर्मानुयायी भिक्षुओं ने वैष्णव धर्म को अङ्गीकार किया।

6.11. आचार्य बलदेव का अचिन्त्य-परम्परा में योगदान

साहित्यिक एवं धार्मिक दृष्टि से सम्पन्न वृन्दावन में वल्लभ, निम्बार्क आदि वैष्णव सम्प्रदायों के सगुणोपासक सन्त अपनी उपासना-पद्धति, आचार-संहिता एवं भक्ति को जनमानस में प्रचारित एवं प्रवाहित करने में संलग्न थे। भक्ति के प्रचारक वैष्णव सन्तों के प्रभाव एवं वैचारिक मत-वैभिन्य के कारण चैतन्य मत की कीर्ति मलिन होती दिख रही थी। व्रज और इसके आसपास के क्षेत्रों में भी लोगों में चैतन्य मत के धार्मिक विचारों के प्रति अपेक्षित निष्ठा का अभाव दृष्टिगोचर हो रहा था। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक वातावरण भी इस मत के उत्कर्ष में बाधक माना जा रहा था। चैतन्यमत का ब्रह्मसूत्रभाष्य न होने के कारण वह वेदान्त की विचारधारा से बहिष्कृत सा प्रतीत हो रहा था। अत: उत्कर्ष एवं अपकर्ष के इस संक्रमण काल में ऐसे व्यक्तित्व की आवश्यकता थी, जो चैतन्य मत को वृन्दावन में पुन: प्रतिष्ठित कर सके।

आचार्य बलदेव द्वारा जो चैतन्य परम्परा में मध्व को प्रतिष्ठा देने का प्रश्न है, इसके कई कारण हो सकते हैं। आचार्य विद्याभूषण का काल संक्रमण का था। इनके समय में चैतन्य मत की साम्प्रदायिक स्थिति सन्तोष जनक नहीं थी। इसका एक प्रबल कारण क्षेत्रीयताओं का प्रभावी होना था। इसके प्ररिणाम स्वरूप गौडीय मत का ऐतिहासिक क्रम विखरने की स्थिति में था।

आचार्य बलदेव का सम्भवत: यह विचार रहा हो कि मध्व के साथ इसे संयुक्त कर देने से गौडीय वैष्णवों में उत्पन्न होने वाली संकीर्ण क्षेत्रीय भावनाओं का प्रशमन हो सकेगा। माध्व मत का इसको ऐतिहासिक प्रश्रय मिलने से वृन्दावन और बङ्गाल के आचार्यों को कोई आपत्ति न होगी। ऐसी स्थिति में इसे बङ्गाल, उत्तर प्रदेश (वृन्दावन) के साथ ही साथ दक्षिण भारत के राज्यों से भी जुड़ जाने का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा। इस प्रकार चैतन्य मत का विस्तार सम्भव हो सकेगा।

माध्व विचारधारा वेदान्त की एक महत्त्वपूर्ण शाखा थी, अत: इससे सम्बद्ध हो जाने पर गौडीय मत को एक विशेष प्रकार की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा प्राप्त होगी, जो गौडीय वेदान्त को वह पारस्परिक स्थान दे सकती है, जिसके अन्तर्गत वैष्णव वेदान्त के चार सम्प्रदाय अभिगण्य हैं। इन चार वैष्णव सम्प्रदायों के अन्तर्गत गौडीय वेदान्त के समाहित होने पर सामान्य जन का इसके प्रति उपेक्षाभाव समाप्त हो सकेगा। अन्य वैष्णव सम्प्रदायों की भाँति इसे भी एक ऐतिहासिक वैष्णव मत होने का गौरव मिल सकेगा।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में चैतन्य मत एक पृथक् वैष्णव दर्शनान्दोलन के रूप में उद्भूत होकर स्वतन्त्र रूप से भारतीय जनमानस में अपना विस्तार करता है। बलदेव विद्याभूषण द्वारा एक आचार्य एवं भक्त के रूप में, अहंकार रहित भाव से पूर्ण समर्पण के साथ इस उत्तरदायित्व का निर्वाह किया। अपने पाण्डित्य से वृन्दावन में तथा यहाँ से बाहर जा-जाकर अन्य सम्प्रदायों को पराजित करके गौडीय मत को जीवन्त किया। इसी क्रम में राजस्थान में आचार्य बलदेव के वैदुष्य से गौडीय सम्प्रदाय को प्रतिष्ठा मिली। आचार्य बलदेव ने ब्रह्मसूत्र पर गोविन्दभाष्य, उपनिषदों एवं गीता पर भाष्य का प्रणयन कर गौडीय मत को वेदान्त की धारा में प्रतिष्ठित किया। अन्य स्वतन्त्र ग्रन्थों के निर्माण से इन्होंने गौडीय वेदान्त को समृद्ध किया। आचार्य बलदेव ने अपने पाण्डित्य से न केवल वैष्णवों को अपनी ओर आकृष्ट किया, अपितु चैतन्य मतानुयायी साधुओं, आचार्यों एवं उपासकों को अन्य मतावलम्बी साधुओं की भाँति समाज में आदर मिलने का मार्ग भी प्रशस्त किया।

भारतीय जनमानस में यह प्रवाद फैला था कि भगवान् विष्णु (नारायण) की पूजा का विधान शास्त्रीय है, किन्तु श्रीकृष्ण की पूजा को श्रुति सम्मत नहीं माना जा सकता।

आचार्य बलदेव ने नारायण एवं श्रीकृष्ण की अभेदता निरूपित करते हुए गोविन्द पूजा को शास्त्र सम्मत सिद्ध किया। गौडीय दर्शन में राधा एवं भगवान् श्रीकृष्ण की युगल मूर्ति पूजा को

श्रुति सम्मत माना गया था। इसको भी पारम्परिक पण्डितों एवं आचार्यों ने श्रुति विरुद्ध प्रतिपादित करने का प्रयास किया था, किन्तु आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने युक्ति एवं श्रुतिनिष्ठ प्रमाणों से इसे शास्त्रानुकूल सिद्ध किया, जिसके परिणामस्वरूप मन्दिरों में भगवान् श्रीकृष्ण एवं राधारानी की युगल मूर्ति स्थापना को प्रश्रय मिला और गौडीय विचारधारा के सन्तों के प्रति हेय भावना समाप्त हुई। इसके साथ ही साथ ऐसे सन्तों को मन्दिरों एवं धार्मिक मठों के उच्च पदों पर अलङ्कृत होने का मार्ग भी प्रशस्त हो गया। अपनी प्रतिभा शक्ति से आचार्य विद्याभूषण ने वृन्दावन और बङ्गाल के गौडीय मतानुयायियों को एक सूत्र में बाँधने का प्रशंसनीय कार्य किया। चैतन्य मत में सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और दार्शनिक दृष्टि से आचार्य बलदेव का प्रयास स्तुत्य है।

6.12. अचिन्त्यभेदाभेद का साहित्यिक योगदान

आचार्य गौराङ्ग चैतन्य के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण बङ्गाल, उड़ीसा तथा व्रज मण्डल में विशाल वैष्णव-साहित्य का प्रणयन हुआ। महाप्रभु चैतन्य के भक्ति आन्दोलन के प्रभाव से बङ्गाल और उड़ीसा में जो वैष्णव-साहित्य समृद्धि को प्राप्त हुआ, उसकी सरलता, मधुरता, भक्ति रस की सरसता की अपनी एक अलग विशिष्टता है। इसके साथ ही इस साहित्य में वर्णित कृष्ण की मधुर लीला एवं महाप्रभु के भक्तिपरक उपदेश भी समाहित है।

चैतन्य विचारधारा से प्रभावित होकर रचा गया पद साहित्य अन्य भाषाओं की अपेक्षा एक मिश्रित भाषा में निर्मित हुआ, जिसको कालान्तर में व्रजबोली के रूप में अभिहित किया गया। व्रजबोली के साहित्यक वैभव, व्यापकता और समृद्धि की दार्शनिक पृष्ठभूमि का श्रेय चैतन्य दर्शन को जाता है।

पदावली साहित्य के पदों में निहित भक्ति रस की जो मधुर धारा प्रवाहित हो रही है, उस धारा में आध्यात्मिक-चिन्तन का जो रूप प्राप्त होता है, वह गौडीय वेदान्त का है। जयदेव, विद्यापति तथा चण्डीदास प्रभृति की रचनाओं को महाप्रभु चैतन्य के समय में ही बङ्गाल में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। महाप्रभु के प्रभाव से इन भक्त कवियों के गीतात्मक पदों का बङ्गाल के जनमानस में व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ। विद्यापति मैथिली थे, किन्तु बङ्गाल में उनको जो ख्याति प्राप्त हुई, इसमें चैतन्य विचारधारा और उनके अनुयायियों का विशेष योगदान रहा।

6.13. अचिन्त्यभेदाभेद का सांस्कृतिक योगदान

महाप्रभु चैतन्य के भक्ति आन्दोलन से बङ्गाल, उड़ीसा तथा उत्तर भारत में सांस्कृतिक एकता एवं तादात्म्य की भावना का उदय हुआ। चैतन्य मतानुयायी वृन्दावनीय गोस्वामियों ने न केवल दार्शनिक और भक्ति रस के शास्त्रीय विचारों से वृन्दावन तथा मथुरा के भक्त सन्तों और आचार्यों के प्रेरक सिद्ध हुए, अपितु अपने आचार-विचार, रहन-सहन से भी वैष्णव सन्त तथा भक्त के आदर्श रूप की ओर जनमानस का ध्यान आकृष्ट हुआ। गौडीय सन्तों और आचार्यों का सादा रहन-सहन, उनका वैतृष्ण्यभाव, उनका भावप्रधान उत्कट ईश्वर प्रेम, उनकी निरभिमानता तथा प्रभु नाम संकीर्तन की आसक्ति इत्यादि गुण व्रज क्षेत्र में रहने वाले निम्बार्क, वल्लभ तथा राधावल्लभीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों के लिए निश्चित रूप से प्रेरणा स्रोत स्वरूप है। गौडीय वैष्णवों की देशव्यापी सांस्कृतिक एकता ने भारतीय समाज को संगठित एवं एक सूत्र में आबद्ध करने का कार्य किया।

चैतन्य विचारधारा में व्याप्त व्यापक दृष्टिकोण ने संस्कृत, बङ्गाली, उड़िया, मैथिली एवं व्रजबोली सदृश भाषाओं को समाहित किया, साथ ही साथ सङ्गीत को भी समृद्धि का अवसर प्राप्त हुआ। चैतन्य विचारधारा के विकास क्रम में अनेक ललित कलाओं के उत्कर्ष का उपयुक्त वातावरण निर्मित हुआ। सङ्गीत तथा नृत्य भक्ति आन्दोलन का प्रमुख साधन था। इससे बङ्गाल में प्रचलित कलाओं को भी बल मिला। बङ्गाल का पारम्परिक लोक नाट्य 'जात्रा' महाप्रभु चैतन्य के व्यक्तित्व से निश्चय ही समाज में गौरव को प्राप्त हुआ। प्रभु चैतन्य ने इसे स्वीकार करके लोक में चली आ रही परम्परागत कलाओं के संरक्षण तथा विकास की ओर जनमानस का ध्यान आकृष्ट किया।

गौडीय वैष्णव परम्परा के अन्तर्गत जिन साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन हुआ, गीतात्मकता उनकी प्रमुख विशेषता रही। दार्शनिक तथ्यों को समाज में रागबद्ध सरल, प्रवाहमयी गेय शैली में प्रस्तुत किया जाता था। इस विचारधारा का उद्भव बङ्गाल में हुआ, किन्तु विकास का उपयुक्त क्षेत्र उड़ीसा तथा व्रज भूमि में मिला। उद्भव एवं विकास की विविध क्षेत्रीय विशेषताओं के कारण इस मत की धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक और दार्शनिक भूमि अधिक उदात्त एवं व्यापक बन पायी। अपनी उदारता एवं सांस्कृतिक व्यापकता के कारण इस मत ने अपनी विशेष आचार संहिता प्रतिष्ठित किया।

6.14. अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय का मूर्ति निर्माण एवं चित्रकला पर प्रभाव

मूर्तिकला के क्षेत्र में 16वीं शताब्दी में बङ्गाल तथा उडीसा में विष्णु के स्थान पर राधा-कृष्ण की मूर्ति निर्माण की प्रक्रिया तेज हुई और मन्दिर निर्माण में भी वृद्धि हुई। रसिकेश्वर कृष्ण एवं मधुरेश्वरी राधिका के लीला वृत्तान्तों ने तत्कालीन चित्रकला को प्रभावित किया। चित्रकारों ने अपनी तूलिका द्वारा राधा-कृष्ण की लीलाओं के चित्राङ्कन में जो माधुर्य और सारस्य की सृष्टि की उसका प्रमुख कारण चैतन्य विचारधारा का उन पर प्रभाव कहा जा सकता है। मध्यकालीन चित्रकला में मुख्यत: 'कांगड़ा-शैली' वैष्णव विचारधारा से प्रभावित है। वैष्णव भक्ति का समाज में प्रभाव एवं वैष्णव भक्तों के भावों को चित्रांकित करने के कारण यह चित्रकला अधिक हृदयंगम हुई।

चैतन्य महाप्रभु तथा इस विचारधारा के वैष्णवाचार्यों ने वैष्णव मन्दिरों का अन्वेषण, उनकी पुन: प्रतिष्ठा आदि कार्यों के प्रति अत्यधिक तन्मयता दिखाकर वैष्णव धर्म को अभिनव शक्ति प्रदान किया। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय की मान्यताओं ने साहित्य के साथ-साथ चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला एवं संगीत सदृश ललित कलाओं पर भी अपना प्रभाव स्थापित किया।

6.15. अचिन्त्य विचारधारा द्वारा समाज में समानता के भाव का विस्तार

इस व्यापक एवं उदार विचारधारा में समाज के प्रत्येक जाति के लोगों को प्रविष्ट होने का अवसर प्राप्त हुआ। महाप्रभु ने अपने दर्शन को ऊँच-नीच, स्पृश्यास्पृश्य जैसी विसङ्गतियों से दूर रखा। इनके मत में हरिभक्त वैष्णव की कोई जाति नहीं होती। इन्होंने स्वयं अपने विषय में कहते थे कि ना तो मैं ब्राह्मण, न क्षत्रिय, न वैश्य और न ही शूद्र हूँ, किन्तु स्वयं प्रकाशमान्, परमानन्द, अमृत सिन्धु भगवान् श्यामसुन्दर के चरणकमलों का दास हूँ।

चैतन्य विचारधारा की इस उदात्त दृष्टिकोण ने समाज के शोषित एवं निम्नवर्गीय लोगों को बल प्रदान किया एवं उनके लिए भी मुक्ति का सरलतम मार्ग प्रशस्त किया। महाप्रभु ने हरिजन, यवनों तथा अन्य निम्नवर्गीय अछूतों का उद्धार किया और उनको अपने संकीर्तन मण्डल का सदस्य बनाया। आचार्य चैतन्य के मत में ऊँच-नीच, जाति-कुजाति का निर्धारण केवल जन्मगत वैशिष्ट्य से नहीं हो सकता। इसमें जीव द्वारा सम्पादित कर्मों की महती भूमिका होती है। अधम से अधम जीव भी भक्ति द्वारा अपने को महान बना सकता है। सच्चे वैष्णव के गुण एवं

कृष्णभक्ति जिसमें विद्यमान हो वह आदरणीय है। प्रभु की भक्ति करने में सवर्णी और अवर्णी दोनों का समान अधिकार है। भक्ति में जाति-पाति एवं कुल का विचार अकरणीय है, इनका विचार भक्ति में बाधक सिद्ध होता है। अचिन्त्यभेदाभेद-सम्प्रदाय के आचार्यों ने समाज के हर वर्ग को अपना कर 'सर्वभूतहितेरत:' 'सर्वभूतसम:' जैसी उक्तियों को चरितार्थ करते हुए भक्ति के माध्यम से समाज में भाईचारे का संदेश प्रवाहित किया।

6.16. अचिन्त्यभेदाभेद का भक्ति परक योगदान एवं जनमानस पर उसका प्रभाव

गौडीय मत में कैवल्य प्राप्त्यर्थ ईश्वरानुकम्पा की अत्यन्त आवश्यकता बताई गयी है। इनके अनुसार ब्रह्मविद्या का भी उदय तभी हो सकता है, जब जीवात्मा को ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त हो। ब्रह्मविद्या (ब्रह्मज्ञान) चैतन्य मत में भक्ति से पृथक् नहीं अङ्गीकार्य है। ज्ञानयुक्त उपासना ही ब्रह्मविद्या है- *'विद्याशब्देन इह ज्ञानपूर्विका भक्तिरूच्यते।'*[457] गौडीय मत ज्ञान के अस्तित्व में भक्ति की सत्ता का अभिधान करता है।

भक्ति मोक्ष का सर्वश्रेष्ठ साधन है। भगवदनुग्रह, जो जीवात्मा को सर्वोच्च श्रेय की प्राप्ति कराने वाला है, वह भगवदुपासना द्वारा सुलभ है। उपासना मनुष्य को मुक्ति के योग्य बनाकर ब्रह्मलोक तक पहुँचाने का मार्ग भी प्रशस्त करती है।[458] गौडीय मतानुसार कैवल्य लाभ और ब्रह्म साक्षात्कार के अन्य समस्त उपायों में भक्ति से सुलभ, सरल, मधुर एवं श्रेयस्कर कोई दूसरा उपाय नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त अन्य साधनों में वह पूर्णता भी नहीं प्राप्त होती, जो भक्ति में विद्यमान है। यह दुर्लभ होती हुई इतनी सरल है कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी इससे अपना कल्याण कर सकता है। इसकी उपयोगिता हर काल, हर देश तथा हर वर्ग के व्यक्ति के लिये है।

भाष्यकार बलदेव विद्याभूषण की दृष्टि में *'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म'* तथा *'सोऽहमस्मि'* इत्यादि महावाक्यों के श्रवणादिक अनुष्ठान के अनन्तर प्राप्त होने वाला ब्रह्मात्मैक्य प्रबोध भक्ति का ही अंग है। अनुरागाधिक्य के कारण उपासक जीव उपास्य ब्रह्म के साथ तादात्म्य की

---

457 ब्र.सू.गो.भा. ३/३/४८

458 वही, ४/२/१७

अनुभूति करने लगता है- *'सोऽहमिति भावोऽपि पूर्वोपदिष्टाया भक्ते: प्रकारविशेषो भवतीति।... रागाद्भयाच्च गाढावेशेसति सोऽहमिति भावोऽभ्युदेति।'(ब्र.सू.गो.भा. ३/३/४६)*

भगवान् के गुणों का ध्यान, चिन्तन और जपादि युक्त उपासना से सांसारिक भय निवृत्ति होती है। भक्ति एक ऐसा श्रेयस्कर एवं समर्थ साधन है, जिसके द्वारा ईश्वर हर प्रकार से तथा हर रूप में सुलभ है। भक्ति ईश्वर की अन्तरङ्ग शक्ति है। गौडीय दर्शन का ईश्वर और उसकी प्राप्ति का साधन दोनों आनन्द प्रधान है। सच्चे भक्तियोग से ईश्वर साक्षात्कार जितनी शीघ्रता से सम्भव है, उतना अन्य किसी मार्ग से नहीं। ईश्वर प्राप्ति हेतु समर्पण भाव अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार गौडीय दर्शन के भक्ति परक विचारों पर दृष्टिपात करने पर कई तथ्य सामने आते हैं। यहाँ उपासना केवल नि:श्रेयस प्राप्ति का साधन मात्र नहीं है, अपितु स्वयं नि:श्रेयस रूप भी है। यह परमार्थत: साध्य स्वरूप होती हुई भी जीवों के कल्याण के लिये साधन रूप में प्रतीत होती है। भक्ति विलक्षण रूप से सबका हित सम्पादित करने का कार्य करती है। उसके स्वरूप की सबसे अधिक विचित्रता यह है कि वह जिस ईश्वर से उत्पन्न होती है, जिस पर आश्रित है, उसका भी कल्याण करने का सामर्थ्य रखती है। यह आनन्द ब्रह्म का व्यक्त रूप है। उपासना का उत्तरोत्तर विकास उपासक में सूक्ष्मता की सृष्टि करता है। चैतन्य मत में भक्ति की प्राप्ति के लिये आचरण की शुद्धता, यम-नियमादि साधनों एवं ज्ञान की भी उपयोगिता स्वीकार्य है, किन्तु इनको भक्ति का साधन मात्र माना गया है। सभी साधनों का प्रयोजन तथा सबका सार उपासना को ही सिद्ध किया गया है।

6.17. संकीर्तन-भक्ति

अचिन्त्य विचारधारा में भक्ति के साधनों में संकीर्तन पर अधिक बल देकर कीर्तन-भक्ति द्वारा जन-सामान्य को आकृष्ट करके कृष्ण भक्ति की दिशा में प्रेरित किया गया। चैतन्य की कीर्तन-भक्ति ने न केवल चेतन प्राणियों को प्रभावित किया, अपितु जड़ पदार्थों एवं पशु-पक्षियों को भी भक्ति के रंग में रञ्जित करने में सफल रही-

गच्छन् वृन्दावनं गौरो व्याघ्रे मैण्खगान् वने।

प्रेमोन्मत्तान् सहोन्नृत्यान् विदधे कृष्णजल्पित:॥

-(चैतन्य चरितावली, मध्यलीला)

संकीर्तन चैतन्य के भक्ति आन्दोलन तथा उनकी उपासना का महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। वृन्दावनदास कृत 'चैतन्य भागवत'(१/१) में चैतन्य महाप्रभु को संकीर्तन का जनक माना गया है। इस मत में अन्त:करण की शुद्धि तथा उपासना के चरमोत्कर्ष तक पहुँचाने का सामर्थ्य हरि कीर्तन में विद्यमान है। मानवीय मूल्यों के उत्कर्ष की दृष्टि से भी यह उपयोगी है। आचार्य गौरेश कृत 'शिक्षाष्टक' में संकीर्तन के महत्त्व को प्रतिपादन करते हुए कहा गया है-

चैतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणं श्रेय: कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम्।

आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतं स्वादनं सर्वात्मस्वपनं परं विजयते श्रीकृष्ण-संकीर्तनम्॥

- (शिक्षाष्टक, श्लोक सं. १)

अर्थात् मन रूपी दर्पण को निर्मल करने वाला, भवताप का शमन करने वाला, परमश्रेय तक ले जाने वाला, आनन्दवर्धक, पूर्णामृत का आस्वादक तथा भक्ति रस से अन्त:करण को आप्लावित करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण के संकीर्तन की जय हो।

इनकी दृष्टि में मानवता का चरम अभ्युदय इसी में है कि मानव अभिमान रहित होकर दूसरों को सम्मान देता हुआ हरि कीर्तन हेतु स्वयं को समर्पित कर दे-

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुता।

अमानिना मानदेना कीर्तनीय: सदा हरि:॥

- (शिक्षाष्टक, श्लोक सं.३)

चैतन्य महाप्रभु के पूर्व अन्य सम्प्रदाय के आचार्यों ने कीर्तन के उपासनात्मक रूप को न तो इस प्रकार महत्त्व दिया और न ही इसके प्रचार-प्रसार में समर्पित भाव से भूमिका का निर्वाह किया। अत: भक्ति के क्षेत्र में कीर्तन को भारत और विश्व के अन्य देशों में प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय अचिन्त्यभेदाभेद-सम्प्रदाय के आचार्यों को जाता है।

6.18. अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय की भक्ति का वैदेशिकों पर प्रभाव

अचिन्त्यभेदाभेद की वैचारिक उदात्तता एवं भक्ति रस से आप्लावित संकीर्तन-भक्ति ने विश्वव्यापी प्रतिष्ठा प्राप्त किया। इसने न केवल भारतीयों, अपितु वैदेशिकों को भी प्रभावित किया। *'हरे कृष्ण'* कीर्तन मण्डल विदेशों में व्यापक रूप से सक्रिय हुआ। श्री एस. सी. भक्ति वेदान्त स्वामी ने *'अन्तर्राष्ट्रीय कृष्ण भावनामृत सङ्घ'* की स्थापना द्वारा अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों में कीर्तन भक्ति का व्यापक स्तर पर प्रचार-प्रसार किया। *'हरे कृष्ण'* महामन्त्र की विश्व स्तर पर महत्ता प्रतिपादित करने और कीर्तन को जनमानस में व्याप्त करने में *'अन्तर्राष्ट्रीय कृष्ण भावनामृत सङ्घ'* का प्रयास प्रशंसनीय रहा है। इस संस्था ने न केवल वैदेशिकों को भक्ति रस से आप्लावित किया, अपितु गौडीय विचारधारा से सम्बद्ध अनेकानेक ग्रन्थों के प्रकाशन कार्य से साहित्यिक जगत् को समृद्ध बनाया। इस सङ्घ ने चैतन्य विचारधारा से सम्बद्ध ग्रन्थों को कैलिफोर्निया, न्यूयार्क, लन्दन आदि अनेक देशों में *'भक्ति वेदान्त बुक ट्रस्ट'* द्वारा प्राप्ति की व्यवस्था कराके गौडीय विचारधारा को सम्पूर्ण विश्व में प्रतिष्ठित करने का सराहनीय कार्य किया। इस प्रकार संकीर्तन-भक्ति ने सम्पूर्ण विश्व को आप्लावित किया। वर्तमान समय में भी चैतन्य मतीय संकीर्तन-भक्ति अपना वैशिष्ट्य बनाये हुए है।

इस प्रकार अचिन्त्यभेदाभेद सम्प्रदाय के आचार्यों ने 16वीं शताब्दी के प्रारम्भ में भक्ति साहित्य का जैसा सुचिन्तित, सरस माधुर्य युक्त बौद्धिक रूप विश्व के समक्ष प्रस्तुत किया, वैसा व्यापक स्वरूप अन्य विचारधारा में कम ही देखने को मिलता है। एक ओर भक्त आचार्यों की सरस, सहज और प्रवाहमयी पदावली ने लोक भाषा को जीवन्त शक्ति प्रदान किया, वहीं दूसरी ओर व्याकरण, अलङ्कार आदि विभिन्न शास्त्रीय विषयों को भी हरिमय भाव से समृद्ध किया।

6.19. निम्बार्क-वेदान्त का भारतीय-समाज पर प्रभाव

निम्बार्क-सम्प्रदाय ने भारतीय जनमानस को प्रभावित किया। निम्बार्क विचारधारा से वृन्दावन में सखी-सम्प्रदाय का आविर्भाव हुआ। इसके प्रवर्तक निम्बार्क-सम्प्रदाय के आचार्य स्वामी हरिदास थे। इन्होंने बाद में राधाकृष्ण के युगलभाव की अपनी विशिष्ट उपासना की। निम्बार्क विचारधारा का भारतीय समाज पर प्रभाव के कारण ही एक अन्य राधावल्लभीय-

सम्प्रदाय उद्भूत हुआ। इसके प्रवर्तक स्वामी हितहरिवंश जी थे, जो कृष्ण की अपेक्षा राधा को अधिक महत्त्व देते थे। इन्होंने 'राधासुधानिधि' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया, जिसमें रसिकों की प्रेमाभक्ति का निरूपण है। रीवांनरेश विश्वनाथ सिंह महाराज का राधावल्लभीय-सम्प्रदाय में विशेष आस्था थी। इस मत के आधार पर उन्होंने 'ब्रह्मसूत्र' पर 'राधावल्लभीयभाष्य' का प्रणयन किया। इस विचारधारा से प्रभावित होकर उन्होंने आध्यात्मरामायण पर एक टीका भी लिखी। रसिक सम्प्रदायों में राधावल्लभीय-सम्प्रदाय अधिक प्रचलित है। निम्बार्क-सम्प्रदाय का प्राणस्वरूप यह रसिक सम्प्रदाय चैतन्य विचारधारा और वल्लभ विचारधारा से भी जुड़ा हुआ है।

इस प्रकार वृन्दावन में निम्बार्क ने जो भक्ति उपासना की ज्योति जलाई वह आज भी अनेक रूपों में समाज में प्रचलित है। उसका प्रभाव राजस्थान के किशनगढ़ की चित्रकला में भी समाहित है। निष्कर्ष रूप में कहा जाये तो लेखन में, संगीत में, कला, धर्म और संस्कृति इन सभी क्षेत्रों को उन्होंने प्रभावित किया है। व्रज संस्कृति में जितना योगदान वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु और अन्य आचार्यों का है, उतना ही योगदान आचार्य निम्बार्क एवं उनके अनुयायियों का भी है। इन्होंने आपनी विचारधारा द्वारा सामाजिक समस्याओं का समाधान करते हुए समाज को एक सूत्र में जोड़ने का कार्य किया है।

6.20. वल्लभ-वेदान्त का भारतीय-समाज पर प्रभाव

लीलार्थ सृष्टिवाद की अवधारणा से युक्त आचार्य वल्लभ के चिन्तन में पुष्टि-मार्गीय भक्ति का प्रतिपादन, प्रभु के विग्रह स्वरूप श्रीनाथ जी को सेव्य मानना, शरणागति एवं समर्पण द्वारा सच्चिदानन्द को प्रसन्न करना, अहङ्कार, मोह, ममता का त्याग कर भगवदीय बनना, भगवान् का विशेष अनुग्रह प्राप्त कर उनकी लीला में प्रवेश करना एवं परमात्मा का सायुज्य लाभ करना आदि ऐसे सिद्धान्त हैं, जिनका अनुशरण सहजता एवं सुगमता पूर्वक किया जा सकता है। अत: इन्हीं सब कारणों से पुष्टि-मार्गीय विचारधारा जन-समुदाय में सर्वाधिक उपादेय, व्यावहारिक, लोकप्रिय एवं जनमानस में ग्राह्य हुई।

'एकं ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' के भाव को लेकर शङ्कराचार्य ने निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना की। वल्लभ मत के अनुसार तत्कालीन समाज में देश, काल एवं परिस्थिति से परे पहुँचकर निरपेक्ष

ब्रह्म से एकात्मकता प्राप्त करने की शक्ति जन-साधारण में नहीं थी। व्यावहारिक जगत् के लिए ऐसे सहज एवं सरल मार्ग की आवश्यकता थी, जो बुद्धि के साथ-साथ हृदय को भी रस-सिक्त कर कर्म में प्रवृत्त कर सके एवं जिस पर साधारण एवं अल्पज्ञ प्राणी भी चलकर परमानन्द की प्राप्ति कर सके।

आचार्य वल्लभ ने समय की ज्वलन्त आवश्यकता को समझकर जन-समुदाय के समक्ष श्रीकृष्ण प्रेम का दृढ़ आलम्बन प्रदान करते हुए वेदान्त में निहित ज्ञान को जन-सामान्य के लिए बोधगम्य बनाया। उनका शुद्धाद्वैत रूपी अमृत चतुर्विध भक्तों के मानस में प्रवाहित हुआ। माया रहित शुद्ध ब्रह्म को भगवान् श्रीकृष्ण के अभिधान का परिवेश देकर वल्लभाचार्य ने युग-युगान्तर से प्रभु-विरह में भटकते जीवों को उनका गन्तव्य दिखाया एवं मनोजगत् में उठने वाली अकारण मर्मान्तक वेदना का निदान कर भगवत्प्रेम के रूप में उसका शोधन किया। भगवान् श्रीकृष्ण के पावन चरित्र लीला की मार्मिक अनुभूतियों से जनमानस रस-सिक्त हो उठा। इस प्रकार की भक्ति रूपी लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति प्रथम बार यथार्थ के धरातल पर सम्भव हुई।

वल्लभ-वेदान्त के भक्तिमय दिव्य उपदेश के वशीभूत होकर भटकता जीव समुदाय अनन्य-भाव से कृष्णार्पित हो गया। अनन्यभाव से श्रीकृष्ण के चरणों में स्वयं को लगाकर भक्तों ने कर्म-बन्धन में भी उस परमानन्द का अनुभव किया, जिसे ज्ञानी, तपी एवं योगी जीवन-मुक्ति की अवस्था में भी प्राप्त नहीं कर पाते। भगवदनुग्रह की प्राप्ति को अकारण बताकर वल्लभ ने बाह्य साधनों की निरर्थकता सिद्ध करते हुए सरल हृदय एवं प्रेम-भाव को महत्ता प्रदान किया। जीव सच्चिदानन्द की दिव्यानुभूति में निमग्न होकर पुष्टि को प्राप्त करता है। वल्लभ-विचारधारा में इस जगत् को भगवान् श्रीकृष्ण का आधिभौतिक रूप मानते हुए इसे प्रभु का कार्य माना है। यह सम्पूर्ण जगत् श्रीकृष्ण का लीला क्षेत्र है-

सर्वा लीला: पुष्टि मध्ये प्रविशन्तीति मे मति:।

अत: सृष्टिस्तुनिखिला कृष्णार्थेति विनिश्चय:॥

भगवान् का एक नाम प्रविष्टाप्रविष्ट भी है। वे ही प्रत्येक पदार्थ में प्रवेश कर उसे पुष्ट करते हैं, अतिक्रमण करते हैं और सभी रूपों को अपने में समाहित कर लेते हैं। परमात्मा समय-समय पर नाना रूपों में अवतार लेकर अपने भक्तों का रक्षण करते हैं। यह रक्षाकरण लीला ही पुष्टि

है। इस भक्ति में भगवान् को प्राप्त करना, उनका लीला सहचर बनना और उनके प्रति पूर्ण समर्पण ही पुष्टि-मार्गीय भक्ति का लक्ष्य है। पुष्टि-मार्गीय सेवा-पद्धति में "अष्टयाम-सेवा" का विधान कर मानवीय चेतना को अहर्निश भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में संलग्न किया। प्रभु के साथ नित्य संयोग के विधान से पुष्टि-मार्गीय भक्ति में दिव्य रूपान्तरण का सर्वाधिक अवकाश दिया, जिसके अनन्तर भक्त की दृष्टि समत्व बुद्धि से युक्त होकर निज-पर भेद से रहित हो जाती है। उसके लिये जगत् में सब कुछ कृष्णमय हो जाता है।

इस घोर कलियुग में अन्य साधनों के दूषित हो जाने तथा ज्ञान-निष्ठा अत्यन्त कठिन एवं जन-सामान्य के लिए दु:साध्य होने से वल्लभाचार्य द्वारा भगवद् आज्ञा से जीवों के कल्याणार्थ पुष्टि-मार्ग की उद्भावना करते हुए *'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो ब्रजाधिप:'* भावानुसार ब्रजाधिप श्रीकृष्ण का सर्वदा सर्वभाव से सेवा करना ही जीव का एक मात्र धर्म स्वीकार किया गया है। भौतिकतावादी युग में भी मात्र आन्तरिक भाव परिवर्तन से पुष्टि-मार्गीय शाश्वत् प्रेम एवं सेवा भावना का रहस्य समझा जा सकता है। भौतिक साधन प्राप्त होने पर उसे भगवान् का ही साधन मानकर उन्हीं की सेवा में उनका नियोजन करना तथा साधन प्राप्त न होने पर भगवद् इच्छा को ही सर्वोपरि मानकर कुण्ठा और हीनता को उत्पन्न नहीं होने देना ही इस युग में पुष्टि-मार्ग के अनुपालन का आधार बन सकता है। प्रेमा-भक्ति का बढ़ते हुए भौतिकतावाद से कहीं विरोध नहीं है। केवल अपनी मनोवृत्ति को भौतिक आकर्षण से हटाकर आनन्ददाता परमात्मा में लगाना पुष्टि-मार्गीय भक्त के लिए सहज एवं सरल है।

पुष्टि-मार्ग प्रेम के विशुद्ध धरातल पर अवस्थित है तथा इस चिन्तन में भाव-प्रधान सेवा-पद्धति होने के कारण पुष्टि-भक्ति आडम्बर शून्य एवं जन-सामान्य के लिए सहज रूप से अनुकरणीय है। पुष्टि-भक्ति मनुष्य को लौकिकी एवं वैदिकी गति से ऊपर उठाकर अलौकिक गति का मार्ग प्रशस्त करती है। पुष्टि-मार्ग समाज में गरिमा स्थापित करते हुए परिजनों में भगवद्-दृष्टि का भाव स्थापित करने का निर्देश देता है। इस मत में साक्षी भाव से लौकिक कर्तव्यों एवं व्यवहार को सम्पादित करने का आग्रह किया गया है। यहाँ संयम, सदाचार एवं नैतिकता पर आधारित जीवनचर्या को महत्त्व दिया गया है। मोह, ममता, राग, द्वेषादि का परित्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण में अहर्निश अनुरक्ति बढ़ाने का भक्त को निर्देश दिया गया है। राग, भोग एवं श्रृंगारपरक मनोवृत्तियों को भगवान् की ओर उन्मुख कर समर्पित जीवन जीने की शिक्षा दी

गयी है। नवधा भक्ति से ऊपर उठकर प्रेम लक्षणा भक्ति को महत्त्व देते हुए पुष्टि-मार्ग प्राणी मात्र को भगवत्प्रेम का सन्देश देते हुए सभी धर्मों का परित्याग कर भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में आकर सर्वथा निश्चिन्त होने का आश्वासन देता है।

पुष्टि-मार्गीय चिन्तन के अनुसार अपने आत्मीय परिजनों में भगवद् दृष्टि रखने से लौकिक मोह की, धन-सम्पत्ति को भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा का साधन मानने से लोभ की, भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति हार्दिक प्रेम होने से काम की, सम्पूर्ण जगत् को भगवान् का रूप मानने से क्रोध की एवं साधनों पर से स्वामित्व भाव हटाने से अहंकार की निवृत्ति और प्रेमभाव युक्त सेवा द्वारा समर्पण सिद्धि हो जाती है। अत: समस्त भौतिक संसाधनों को और स्वयं को भगवान् का मानने का पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्त अत्यन्त वैज्ञानिक, सहज, सरल एवं व्यावहारिक है।

पुष्टि-मार्गीय भक्ति में जाति, वर्ण अथवा धर्म के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया गया है। यह चिन्तन समाज के प्रत्येक वर्ग के लिए सदा ग्राह्य एवं उपादेय है। अत: आचार्य वल्लभ ने पुष्टि-मार्गीय भक्ति की स्थापना करते हुए भारतीय समाज के सभी वर्णों एवं जातियों के सदस्यों को मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया।

संगीत, कला तथा साहित्य के क्षेत्र में उनके मत का युगान्तकारी प्रभाव पड़ा। इस विचारधारा के समाज में प्रचलित होने के कारण हिन्दी तथा गुजराती में प्रचुर भक्तिसाहित्य का सर्जन हुआ। संस्कृत साहित्य में भी उनका प्रभाव वल्लभ-सम्प्रदाय के बाहर भी प्रवाहित हुआ। चैतन्य-और वल्लभ इन दोनों सम्प्रदायों का उद्भव और विकास परस्पर सहयोग से हुआ है। इन दोनों सम्प्रदायों में मधुरा-भक्ति या रसिक सम्प्रदाय का जो विकास हुआ है, उससे संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य अत्यन्त प्रभावित हुआ है। इसके अतिरिक्त शुद्धाद्वैत के क्षेत्र में वल्लभाचार्य का प्रभाव आज तक बना हुआ है।

भारतीय समाज आज भी वल्लभ द्वारा स्थापित पुष्टि-मार्गीय भक्ति का अनुशरण करता हुआ कृष्णमय भक्तिरस से आनन्दित होता हुआ मुक्तिमार्ग की दिशा में अग्रसर हो रहा है। वर्तमान समय में वल्लभ-सम्प्रदाय सनातन धर्म का एक अनिवार्य अंग बन गया है। उत्तर भारत में उसका पूर्ण तादात्म्य कृष्णभक्ति से हो गया है। उसका आनन्दवाद वल्लभोत्तर समस्त वेदान्त का सामान्य मत हो गया है। उत्तर भारत की संत-परम्परा पर उसका अमिट प्रभाव है।

6.21. ज्ञान और भक्ति-मार्ग का लक्ष्य-भेद

ज्ञान-मार्ग में भक्ति को चित्त शुद्धि का साधन माना गया है। यहाँ ब्रह्मानन्द की प्राप्ति अथवा मोक्ष को साध्य और भक्ति को साधन के रूप में माना गया है, जबकि भक्ति-मार्ग का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। भक्ति-मार्ग का लक्ष्य मोक्ष नहीं, अपितु ईश्वर के साथ लीला करना ही परमश्रेय माना गया है। जिन्हें भगवान् के दिव्य प्रेम की अनुभूति हो जाती है, उन्हें मुक्ति की आकांक्षा लेशमात्र भी नहीं रहती। भक्ति-मार्ग में मुक्ति का तात्पर्य लौकिक प्रारब्ध की निवृत्ति से है। भक्त अपना अस्तित्त्व भगवान् के लिए ही बनाये रखना चाहता है, यही उसका सुदृढ़ स्नेह है। भक्त का लक्ष्य भगवान् श्रीकृष्ण के रस स्वरूप की प्राप्ति है, जबकि ज्ञानी का लक्ष्य अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति मात्र होता है। वस्तुत: रस स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण परम ब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम का भक्ति-मार्गीय स्वरूप है, जो भावगम्य है, जबकि अक्षर ब्रह्म उसी पूर्ण पुरुषोत्तम का ज्ञान-मार्गीय स्वरूप है, जिसमें रस स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की तुलना में आनन्दांश की किञ्चित् न्यूनता होती है।

वल्लभाचार्य ने ऐसे भक्तों को श्रेष्ठ बताया है, जो अपने आराध्य के लिए सब कुछ त्याग देता है, उसका मन केवल भगवान् श्रीकृष्ण के चिन्तन, मनन एवं निदिध्यासन से ही ओतप्रोत रहता है और जो अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं अन्त:करण से भगवान् के आनन्द में निमग्न रहता है। भक्ति का चरमोत्कर्ष प्रगाढ़ आनन्द में ही होता है। कर्म-निष्ठा से चित्त शुद्धि, ज्ञान-निष्ठा से सर्वज्ञता एवं भक्ति-निष्ठा से भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इस सबसे बढ़कर शुद्ध-पुष्टि-भक्ति का फल भगवद्-स्वरूप की प्राप्ति है। यह पुष्टि-भक्ति का चरमोत्कर्ष है, जहाँ जीव प्रभु के स्वरूप को प्राप्त कर स्वयं भगवद्-स्वरूप हो जाता है-

'पुष्टि-मार्ग: स एव यत्र फलं स्वयमेव साधनम्।' (ब्रह्मवाद, २२-२३)

इस प्रकार शुद्धाद्वैत दर्शन एवं पुष्टि-मार्ग विशुद्ध-प्रेम एवं भावनामय होने से किसी युग विशेष के लिए ही उपयोगी न होकर शाश्वत एवं चिरन्तन है। दूसरे शब्दों में पुष्टि-मार्ग सामयिक न होकर शाश्वत, सार्वकालिक, सार्वभौमिक, सहज एवं सरल मार्ग है।

6.22. चैतन्य महाप्रभु और माध्व मत का भारतीय-समाज पर प्रभाव

उपासनाभेद और पदार्थभेद से दर्शनभेद होता है। चैतन्य के उपास्यदेव श्रीराधाकृष्ण हैं और माध्व मत के उपास्यदेव विष्णु (हरि) हैं। माध्व मतानुयायी सायुज्य-मुक्ति को ही परम-पुरुषार्थ मानते हैं, किन्तु चैतन्य मतानुयायी उसको तुच्छ समझते हैं। सायुज्य-मुक्ति द्वारा केवल वैकुण्ठलोक की प्राप्ति होती है, गोलोक या नित्य वृन्दावन की नहीं। चैतन्य मत अचिन्त्यभेदाभेद है, जो द्वैतवाद तथा भेदवाद का वैसे ही खण्डन करता है, जैसे अद्वैतवाद और अभेदवाद का।

6.23. स्वरूपाद्वैत-विचारधारा का भारतीय-समाज पर प्रभाव

भारतीय संस्कृति का स्वरूप समन्वयात्मक रहा है। समन्वय की इस प्रवृत्ति का जो क्रमिक विकास भारतीय दर्शनों में प्रस्फुटित हुआ है उसकी पूर्णता स्वरूपाद्वैत विचारधारा में हुई है। इस समन्वय को दो दृष्टि से भाष्यकार द्वारा स्थापित करने का प्रयास किया गया है-

1. अधिकारी भेद से सिद्धान्त-भेद का समन्वय।
2. मूल सत्ता के आधार पर प्रतीयमान जीव और जगत् के भेद का समन्वय।

'चित्' और 'अचित्' को मूल सत्ता का ही स्वरूप मानकर जो समन्वय स्वरूपाद्वैतवाद में किया गया है उसमें उक्त दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का पूर्ण समावेश हो जाता है। निश्चय ही यह एक अपूर्व उद्भावना है, जिससे परस्पर दो विरोधी विचारधाराओं का पूर्ण समाधान हो जाता है। स्वरूपाद्वैतवाद अपनी इसी विशिष्टता के कारण दार्शनिक जगत् में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

आचार्य शङ्कर ने जहाँ लौकिक और अलौकिक दो सत्यों की कल्पनाएँ की, वहाँ श्री पंचानन ने 'सत्ता' को 'चिदचिद्' मान कर इस समस्या का वास्तविक समाधान प्रस्तुत किया। सत्ता एक ओर 'चित्' होने से अपरिणामिनी है। इस धरातल पर कहीं कोई जगत् की स्थिति नहीं है। इस दृष्टि से शङ्कराचार्य के पारमार्थिक सत्य की पूर्णतया रक्षा हो जाती है।

सत्ता का दूसरा पक्ष 'अचित्' होने से परिणामी है और जगत् उस सत्ता का परिणाम है। सृष्टि के कण-कण में 'मां' का दर्शन करने वाला उपासक सृष्टि को मिथ्या किस आधार पर मान सकता है। अत: यह सृष्टि मिथ्या नहीं है। इस प्रकार आचार्य शङ्कर के व्यावहारिक प्रत्यक्ष को अधिक

यथार्थवादी परिधान में प्रस्तुत कर श्री पंचानन तर्करत्न ने वेदान्त विचारधारा में निश्चित रूप से एक मौलिक योगदान दिया।

जगत् को असत् किन्तु प्रपञ्च को जो सत्य मानते हैं अथवा जो चिदचिद्विशिष्ट कहकर जगत् की सत्ता को सत् मानते हैं, वैष्णव-विचारधारा के उन सभी सम्प्रदायों को आचार्य पंचानन तर्करत्न के सत्ता विषयक इस चिन्तन से पूर्ण तृप्ति होती है। चिदचिद् दोनों से परे केवल सत्ता पर आधार रखने के कारण विरोधी मतों की जहाँ एक ओर तृप्ति होती है, वहीं दूसरी ओर सत्ता की एकता के कारण अद्वैत तत्त्व का निर्मल स्वरूप वैचारिक मतभेद का पूर्ण समाधान करता है।

6.24. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में स्वरूपाद्वैत-विचारधारा

स्वरूपाद्वैत विचारधारा में शक्ति-उपासना से तात्पर्य किसी प्रतिमा विशेष की उपासना से नहीं है, अपितु अपने से अधिक शक्तिशाली देवादि अदृश्य शक्तियों के सम्मुख मनुष्य सदैव श्रद्धा से अवनत रहा है, इसी भाव में उपासना का तात्पर्य निहित है। इस दृष्टि से वर्तमान युग को हम शक्ति युग कहें तो अतिशयोक्ति न होगी। शक्ति के अन्वेषण में अनवरत लगे हुए वैज्ञानिक नित-नूतन अविष्कार कर राष्ट्र को एक महाशक्ति के रूप में स्थापित करने में लगे हुए हैं। अत: समय की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए शक्ति-प्रधान दर्शन को प्रस्तुत कर भाष्यकार ने निश्चय ही एक मार्ग प्रशस्त किया।

स्वरूपाद्वैत विचारधारा की यह अनन्य विशेषता है कि इसमें प्रथम बार जगत् के मूल में व्याप्त भगवती महाशक्ति को, जिसे शङ्कराचार्य ने 'माया' तथा भौतिक विज्ञान में Force अथवा Energy की संज्ञा से अभिहित किया, उसको दर्शनशास्त्र में प्रमुख स्थान दिया गया। उपासना के क्षेत्र में भक्त जन मातृभाव से उपासना कर शीघ्र ही *'परमसाम्यं'* की अवस्था प्राप्त कर सकता है और यही इस दर्शन का लक्ष्य है।

आचार्य शङ्कर ने जहाँ केवल संन्यासी को मोक्ष का अधिकारी माना है, वहीं आचार्य पंचानन ने गृहस्थ को भी मोक्ष का अधिकारी मानते हुए यह मार्ग प्रशस्त किया कि शक्ति की उपासना करते-करते सभी जन भगवती की कृपा का लाभ प्राप्त कर सकते हैं और शक्ति की वह कृपा ही मोक्ष स्वरूपा है। यहाँ अधिकारी के सम्बन्ध में गृहस्थ और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। यहाँ

'शमदमादि' का पालन केवल संन्यासी ही नहीं, अपितु गृहस्थ के लिये भी अत्यन्त आवश्यक है।

स्वरूपाद्वैत चिन्तन में संन्यासी को निष्काम कर्म करने की दिशा में उन्मुख करते हुए आचार्य पंचानन ने कर्म संन्यास एवं कर्मयोग का सुन्दर समन्वय स्थापित किया है। ज्ञान, भक्ति एवं कर्म के पारस्परिक विरोधों का परिहार कर, एक-दूसरे की उपयोगिता बताते हुए समन्वय की दिशा में प्रयास किया गया है। *'स्त्री शूद्रो नाधीयाताम्'* उक्ति के अनुसार हरिजन एवं स्त्री को शिक्षा से वंचित किया गया था, जिसको ध्यान में रखते हुए भाष्यकार ने शक्तिभाष्य के 'प्रदानाधिकरण' में स्त्रियों को भी ब्रह्म-विद्या का अधिकार प्रदान करते हुए पूर्वोक्त सामाजिक दोष का परिहार करते हैं।

स्वरूपाद्वैत-विचारधारा आधुनिक युग की धार्मिक, सामाजिक एवं दार्शनिक समस्याओं का समाधान कर जन-समुदाय को शक्ति-उपासना की दिशा में प्रवृत्त करता हुआ समाज के सभी वर्गों के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

इस प्रकार वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ और उस पर आधारित भाष्यकारों का चिन्तन एवं उनकी जीवन दृष्टि का प्रभाव भारतीय समाज पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। वेदान्त की आचार्य परम्परा द्वारा भाष्य लेखन के माध्यम से समाज में व्याप्त तत्कालीन विसंगतियों एवं भ्रान्त धारणाओं को दूर करते हुए समाज को एकता के सूत्र में जोड़ने का प्रयास किया गया।

उपसंहार

उपसंहार

भारतीय ज्ञान परम्परा में वैदिक ऋषियों द्वारा स्वानुभव जन्य ज्ञान को आगामी पीढ़ी के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु बहुविध-व्याख्या पद्धतियों का उपयोग करते हुए संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकादि ग्रन्थों का प्रणयन किया गया, किन्तु मेधा-शक्ति के क्रमिक ह्रास के परिणामस्वरूप इन ग्रन्थों में निहित ज्ञान के अवबोध में क्लिष्टता के कारण परवर्ती आचार्य-परम्परा द्वारा ऋषि प्रदत्त ज्ञान के विश्लेषण एवं अर्थ-निर्धारण के निमित्त वैदिक व्याख्या-पद्धतियों के अनुकरण द्वारा भाष्य, वार्तिक, टीका, प्रकरण आदि के रूप में व्याख्या-पद्धतियों का विकास करते हुए वैदिक-वाङ्मय में निहित ज्ञानराशि का उत्तरोत्तर विस्तार किया गया। इसी क्रम में वैदिक ज्ञान को साधारणातिसाधारण जन के लिए बोधगम्य बनाने हेतु भाष्यकारों द्वारा सरल-सुबोध भाषा, कोमलकान्त पदावली से युक्त हृदयग्राही शब्द योजना, उदात्त वर्णन शैली एवं स्वल्पातिस्वल्प शब्दों द्वारा विपुलार्थ प्रकाशन हेतु अनेकविध व्याख्या-पद्धतियों का विकास किया गया।

विभिन्न दार्शनिक-विचारधाराओं का गहराई से अध्ययन करने पर यह बात पूर्णत: सत्यता के साथ प्रमाणित होती है कि एक ही सत्य (सत्ता) को विद्वज्जन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से व्याख्यायित करते हैं। इस सन्दर्भ में वेदान्त का प्रत्येक सम्प्रदाय अपनी-अपनी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि रखते हैं। तत्त्वमसि महावाक्य के सन्दर्भ में वेदान्त के दार्शनिक-चिन्तन का केन्द्र विन्दु 'जीवेश्वर-सम्बन्ध' है अर्थात् ईश्वर से आविर्भूत पदार्थों में अभेद है या भेद है अथवा भेदाभेद ? इन तीन वादों में वेदान्त की सम्पूर्ण दार्शनिक-परम्परा केन्द्रित है। इन्हीं अभेद, भेद और भेदाभेद के आधार पर भाष्यकार ईश्वर, जीव और जगत् की व्याख्या करते हैं। भाष्यकारों के अपने-अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण के कारण ही वेदान्त-परम्परा में अभेद और भेदाभेद को भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। 'अद्वैत' की व्याख्या के सन्दर्भ में कुछ आचार्य 'निर्विशेष-अद्वैत' मानते हैं, कुछ 'विशिष्ट-अद्वैत' में विश्वास रखते हैं, कुछ 'शुद्ध-अद्वैत' के रूप में, कुछ 'शिवाद्वैत' के रूप में, तो कुछ 'शक्तिविशिष्ट-अद्वैत' के रूप में उसकी व्याख्या करते हैं। इसी प्रकार 'भेदाभेद' की व्याख्या के सन्दर्भ में भी भाष्यकारों में वैलक्षण्य दिखाई देता है।

ब्रह्म, जीव तथा जगत् के सम्बन्ध में सामञ्जस्य स्थापित करना भाष्यकारों के लिए अत्यन्त चुनौतिपूर्ण समस्या रही है। भाष्यकारों द्वारा अपने-अपने दृष्टिकोण से इस समस्या के समाधान

का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध में शङ्कराचार्य ने ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त चराचर जीव, जगत् की सत्ता को तात्त्विक रूप से स्वीकार नहीं किया। उनके अनुसार ब्रह्म ही जीव है, ब्रह्म ही जगत् है। इस चिन्तन में जब एक ही सत्ता है, दूसरी है ही नहीं, तब उसके सम्बन्ध विषयक कोई समस्या ही नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध के लिए न्यूनतम दो तत्त्व (सत्ता) आवश्यक हैं। इस क्रम में आचार्य भास्कर, आचार्य निम्बार्क, आचार्य बलदेव विद्याभूषण और आचार्य विज्ञानभिक्षु ब्रह्म, जीव और जगत् की वास्तविक सत्ता स्वीकार करते हुए भी अद्वैतवादी बने रहना चाहते हैं, अत: उन्हें इस समस्या का सामना करना पड़ा, अत: इन आचार्यों ने भेदाभेद के रूप में इस समस्या का समाधान करने का प्रयास किया।

भेदाभेद का यह सिद्धान्त ऊपर कथित सभी आचार्यों द्वारा स्वीकृत है, किन्तु चिन्तन-भेद के कारण भेदाभेद की व्याख्या भी भाष्यकारों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से की गयी है। इस कारण से आचार्य भास्कर के भेदाभेद को 'औपाधिक-भेदाभेद', आचार्य निम्बार्क के भेदाभेद को 'स्वाभाविक-भेदाभेद', आचार्य बलदेव विद्याभूषण का भेदाभेद-सिद्धान्त 'अचिन्त्य-भेदाभेद' तथा आचार्य विज्ञानभिक्षु का भेदाभेद 'अविभक्त-भेदाभेद' के रूप में दार्शनिक-जगत् में विख्यात है।

भास्कराचार्य ने जीव और ब्रह्म में भेद और अभेद दोनों को स्वीकार किया, किन्तु उनके अनुसार भेद औपाधिक है तथा अभेद वास्तविक है। भेद मात्र संसारी की अवस्था में रहता है, उपाधि के नष्ट होने पर प्रलय व मोक्ष काल में जीव ब्रह्म रूप ही हो जाता है। जैसे-घट से अवच्छिन्न आकाश घट रूपी उपाधि के कारण भिन्न प्रतीत होता है तथा घट के नष्ट होते ही घटाकाश, महाकाश की भिन्नता समाप्त हो जाती है, वैसे ही संसारोपाधि के नष्ट होते ही जीव और ब्रह्म में अभेद हो जाता है। अत: उपाधि के आधार पर जीवेश्वर-सम्बन्ध की व्याख्या करने के कारण इनका सिद्धान्त 'औपाधिक-भेदाभेद' कहलाता है। आचार्य निम्बार्क ने जीव और ब्रह्म के भेद और अभेद दोनों को यथार्थ स्वीकार किया है। ब्रह्म नियन्ता तथा जीव नियम्य होने के कारण दोनों में भेद तथा जीव, ब्रह्म के अधीन और अन्तर्गत होने के कारण दोनों में अभेद है। अत: भेद-अभेद दोनों को यथार्थ मानने के कारण इनका चिन्तन 'स्वाभाविक-भेदाभेद' कहलाता है। आचार्य बलदेव भी ब्रह्म और उसकी शक्तियों में भेद-अभेद दोनों को वास्तविक मानते हैं, किन्तु दोनों की स्थिति एक साथ कैसे सम्भव हो सकती है ? इसका समाधान 'अचिन्त्यत्व' के आधार पर करते हैं अर्थात् भेद और अभेद दोनों की एक साथ स्थिति 'अचिन्त्य' है, इस कारण से इनका सिद्धान्त 'अचिन्त्य-भेदाभेद' कहलाता है। आचार्य विज्ञानभिक्षु भी जीवेश्वर में भेदाभेद मानते हैं, किन्तु उनका भेदाभेद न तो निम्बार्क के समान 'स्वाभाविक' है और न ही आचार्य बलदेव के समान 'अचिन्त्य' अपितु 'विभाग-अविभाग' रूप है।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि वेदान्त-परम्परा में शंकराचार्य के परवर्ती भाष्यकार 'भेदाभेद' का आश्रय लेते हुए जीवेश्वर की व्याख्या करते हैं। वे ब्रह्म और जीव में भेद व अभेद दोनों प्रकार का सम्बन्ध मानते हुए यह बताने का प्रयास करते हैं कि द्वैत और अद्वैत परक श्रुतिवाक्यों का परस्पर कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और जीव में भेद और अभेद दोनों विद्यमान हैं।

वेदान्त की चिन्तनधारा में ईश्वर और जीव के सम्बन्ध में विचार करने पर भिन्न-भिन्न मत दृष्टिगोचर होते हैं। आचार्य मध्व के अनुसार जीव, ईश्वर का 'अंश' होने पर भी उससे सर्वदा भिन्न है। आचार्य निम्बार्क के मत में जीव, ईश्वर का 'अंश' है, किन्तु ईश्वर में और जीव में भेद और अभेद दोनों है। आचार्य रामानुज के अनुसार ईश्वर जीवों को अपने अन्तर्गत धारण करता है और अपनी इच्छा से जीव के ज्ञान स्वरूप का संकोच एवं विस्तार करता है। भास्कर के अनुसार जीव का स्वभाव ईश्वर से तादात्म्य है तथापि उपाधियों के द्वारा वह उससे भिन्न प्रतीत होता है। विज्ञानभिक्षु के मत में जीव, ईश्वर से नित्य भिन्न होने पर भी उसके सजातीय होने के कारण सदा ही उससे अविभक्त रहता है। वल्लभाचार्य के मत में जीव, ईश्वर का 'अंश' होने के कारण उससे एकरूप है। आविर्भाव एवं तिरोभाव के कारण ईश्वर जीव के रूप में प्रतीत होता है।

इस प्रकार भाष्यकारों द्वारा अद्वैत और भेदाभेद की भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गयी है और इस व्याख्या-भेद का प्रभाव 'तत्त्वमसि' महावाक्य के अर्थ-निर्धारण पर भी पड़ा है, जिसके कारण व्याख्या-भेद से अर्थ-भेद परिलक्षित होता है।

प्रस्थानत्रयी पर भाष्य करते हुए आचार्य शङ्कर शास्त्र, श्रुति सम्मत तर्क एवं अनुभव इन तीनों का उपयोग करते हुए पूर्वपक्ष का खण्डन एवं सिद्धान्तपक्ष की स्थापना करते हैं। सामान्यतया हम देखते हैं कि तर्क बौद्धिक क्षमता का वर्धन करता है। बुद्धि के द्वारा वह निश्चय करता है कि उसका ज्ञान प्रमाण पुरस्सर है अथवा नहीं। शास्त्र उस ज्ञान के स्वरूप का उद्घाटन करता है। नित्यता, अनित्यता का दिग्दर्शन कराने वाला शास्त्र होता है, साथ ही शास्त्र प्रवृत्ति और निवृत्ति का भी साधन होता है। अनुभव ज्ञान की पराकाष्ठा का अपर अभिधान है। ज्ञान को आत्मसात करना ही अनुभव है। अनुभवात्मक ज्ञान को वेदान्त-परम्परा में सर्वश्रेष्ठ मानते हुए यह बताया गया है कि वेदान्त दर्शन केवल विचार की प्रणाली ही नहीं, अपितु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत् के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण है। यह चिन्तन प्रणाली सम्पूर्ण मानव-जाति तथा मानवता के उद्धार के लिए 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना को जागृत करती है।

वेदान्त की खोज शुद्ध रूप से आत्मपरक होती है। साधक अपनी आत्मा से अपना तादात्म्य खोजने का प्रयास करता है। अपरोक्षानुभूति प्राप्त सिद्ध ज्ञानी पुरुष जीव और ईश्वर का तात्त्विक तादात्म्य उद्घोषित करते हैं। इस तादात्म्य से ब्रह्म और समस्त नामरूपों की एकता सिद्ध होती है। यही अर्थ तत्त्वदर्शी ऋषियों के अनुभव के अनुकूल है। अत: साक्षी आत्मा (त्वम्) और सर्वात्मा ब्रह्म (तत्) दोनों में तादात्म्य है और 'तत्त्वमसि' महावाक्य का लक्ष्यार्थ भी यही है।

वेदान्त-चिन्तन के अनुसार अज्ञान की निवृत्ति द्वारा परमानन्द की प्राप्ति (स्वस्वरूपावबोध) मानव जीवन का परम ध्येय है। परमतत्त्व के साक्षात्कार के अनन्तर भेदबुद्धि समाप्त हो जाती है, उस अवस्था में व्यक्ति पूर्णता का अनुभव करता है।[459] ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में यह सारा जगत् ब्रह्ममय हो जाता है। उसकी सारी क्रियाएँ परमार्थमयी हो जाती हैं। उसकी बुद्धि में द्रष्टा, दृश्य और दृष्टि का भेदभाव ही नहीं रहता है। वह निश्चल, निर्बाध और सर्वाधार चिदानन्द की असीम सत्ता में लीन हो जाता है।[460] इस प्रकार आध्यात्मिक-चिन्तन सम्पूर्ण मानव जाति और चराचर जगत् को धारण किये हुए है। जीवन और जगत् की विविधता को दृष्टिगत रखते हुए वैदिक ऋषियों ने आध्यात्मिक एवं आत्मिक उत्थान का मार्ग प्रशस्त कर सम्पूर्ण मानव जाति तथा मानवता के उद्धार के लिए वैश्विक-दृष्टि द्वारा मानव समाज और समुदाय के मध्य परस्पर समन्वय, सहयोग और समरसता के भाव को प्रवाहित किया। यह चिन्तन व्यक्ति को सङ्कुचित परिधि से ऊपर उठाकर मानवीय मूल्यों की तथा जीवन यापन के उच्च आदर्शों को स्थापित करते हुए मानव हृदय के परिष्कार की दिशा में व्यापक दृष्टि प्रदान कर *'सर्वे भवन्तु सुखिन:'* के भाव को जागृत करता है।

आचार्य शङ्कर ब्रह्म को निर्विशेष मानते हैं, किन्तु ब्रह्मसूत्र पर भाष्य करने वाले अन्य सभी परवर्ती भाष्यकारों द्वारा ब्रह्म को सविशेष माना गया है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म किसी भी अवस्था में विशिष्टता रहित नहीं होता। अधिकारी निर्णय के सम्बन्ध में कतिपय विशिष्ट योग्यता से युक्त पात्र ही अद्वैत-चिन्तन के अधिकारी हैं, जबकि परवर्ती भाष्यकारों के चिन्तन में भक्ति-मार्ग का द्वार सभी वर्ग, समुदाय के लिए समान भाव से खुला है।

मध्व-चिन्तन में शक्ति एवं शक्तिमान् में भेद स्थापित कर विद्वत्-समुदाय द्वारा मान्य अभेदपरक-सिद्धान्त का परिहार किया गया। इस मत में नित्य संसारी जीवों को मध्यम कोटि

---

459 'भिद्यते हृदय ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥' मु. उ. २/२/८

460 'तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:।' ईश. उ. ७

का मानते हुए उन्हें मुक्ति का अधिकारी न मानना दर्शन की दृष्टि से चिन्तन की दुर्बलता है। मुक्तावस्था में आनन्द के तारतम्य से भेद बना रहना इस चिन्तन की नवीनतम उद्भावना है, जिसका प्रतिपादन अन्य भाष्यों में प्राय: देखने को नहीं मिलता।

जीव को ईश्वर की शक्ति के रूप में स्वीकार करना निम्बार्क मत की विशिष्टता है। निम्बार्क-चिन्तन में 'अंश' का अर्थ 'शक्ति' है। जीव को अणु मानते हुए उसे व्यापक गुण लक्षण वाला मानना भी द्वैताद्वैत का निजी वैशिष्ट्य है, किन्तु वल्लभ मत के अनुसार आनन्दांश के आविर्भाव होने से जीव के अणुत्व में विभुत्व का संचार होना अधिक युक्ति-युक्त कहा जा सकता है। आत्मानन्द एवं भगवद्भाव के परमानन्द के भेद का उद्घाटन करते हुए भक्ति-मार्ग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी निम्बार्क विचारधारा में किया गया है।

श्रीकृष्ण के मधुर एवं ऐश्वर्यमय दोनों स्वरूपों को भक्ति का आलम्बन मान कर रागानुगा एवं मर्यादा दोनों प्रकार की भक्ति का निम्बार्क-सम्प्रदाय में समावेश किया गया है। अन्य वैष्णव आचार्यों की तरह निम्बार्क ने भी शरणागति को ही भक्ति के मुख्य साधन के रूप में स्वीकार किया है। इस चिन्तन में भगवान् के लीला बिहारी रूप एवं उनकी मधुर लीलाओं का विशेष महत्व दिया गया है, जबकि आचार्य रामानुज एवं मध्व के चिन्तन में भगवान् की लीला का विशद विवेचन उपलब्ध नहीं होता।

निम्बार्क-सम्प्रदाय में श्रीराधा को गुरु स्थानीय मानकर श्रीकृष्ण से भी अधिक महत्त्व दिया गया है। चैतन्य-चिन्तन में माधुर्य-भक्ति की प्रधानता है। इस मत में नाम संकीर्तन को भक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन माना गया है।

आचार्य वल्लभ के चिन्तन में भागवत-पुराण का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। पुष्टि-मार्गीय सिद्धान्त के उद्भ्रम एवं विकास के मूल में भागवत ही है। अत: शुद्धाद्वैत-मत में उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र के साथ ही भागवत को भी प्रमाण की कोटि में माना गया है। इस चिन्तन में श्रीकृष्ण ही एकमात्र पर ब्रह्म हैं, उनकी कृपा प्राप्त करने में ही जीवन की सार्थकता है। पुष्टि-मार्ग भगवत् कृपा का ही अवतरण है। अहङ्कार एवं मोह का त्याग कर पुष्टि-मार्ग का अनुशरण करने वाला ही भगवत् कृपा का अनुभव कर सकता है। इस क्रम में भक्त परमात्मा से प्रगाढ़

स्नेह करता हुआ लीला-रस का आस्वादन करता है। उसे अद्वैत, द्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत आदि विचारधाराओं में भी प्रभु की रहस्यमयी लीला का ही समावेश दृष्टिगोचर होता है।

मानव जीवन की पूर्णता भगवान् को प्राप्त करने में है। शास्त्रों में भगवद्-प्राप्ति के तीन साधन बताये गये हैं, जिनमें कर्म-मार्ग को आधिभौतिक, ज्ञान-मार्ग को आध्यात्मिक एवं भक्ति-मार्ग को आधिदैविक साधन माना गया है। लौकिक फल की सिद्धि के लिए आसक्ति पूर्वक किया गया कर्म बन्धन का कारण बन जाता है, किन्तु भगवदर्थ अथवा प्रभु-प्रीत्यर्थ किया गया कर्म समर्पण भाव को सुदृढ बनाने के कारण सार्थक एवं उपादेय हो जाता है। सांसारिक दु:ख एवं अविद्या की निवृत्ति के लिए ज्ञान-मार्ग का अनुशरण कर आध्यात्मिक-चिन्तन करना उपादेय होते हुए भी तब तक अपूर्ण रहता है, जब तक उसका पर्यसान भगवद्-प्रेम में नहीं हो। वल्लभ-मत में कर्म एवं ज्ञान की उपादेयता होने पर भी भक्ति ही परमात्म-प्राप्ति का सुलभ साधन है। भक्ति-मार्ग में शरणागति, सेवा एवं समर्पण की भावना मुख्य है तथा समर्पण में *'त्वदीयं वस्तु गोविन्द: तुभ्यमेव समर्पये'* की अहर्निश भावना आवश्यक है। शरणागति के सन्दर्भ में जो भक्त अपने नाम, गुण, जाति एवं समस्त लौकिक उपाधियों के प्रति ममत्व का त्याग कर सच्चिदानन्द की शरण में जाता है, भगवान् उस शरणागति को स्वीकार कर अपना पोषण प्रदान करते हैं। *''पोषणं तदनुग्रह:''* इस भागवत वाक्य के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्तों का अनुग्रह पूर्वक पोषण प्रदान करते हैं। अनुग्रह प्राप्ति के अनन्तर यह जगत्, जगत् नहीं रहता, ब्रह्ममय हो जाता है। सर्वत्र, सृष्टि के सभी रूपों में आनन्द कन्द भगवान् श्रीकृष्ण नटनागर की अलौकिक लीला ही दिखाई देती है।

वैष्णव-वेदान्त में भगवान् श्रीकृष्ण परमतत्त्व हैं तथा यह जान लेना ही भगवत्-तत्त्व का ज्ञान है। जो भी तत्त्व-ज्ञान है, चाहे वह सांख्य वर्णित तत्त्व-ज्ञान हो, चाहे आत्म-ज्ञान हो अथवा ब्रह्म ज्ञान ही क्यों न हो, भगवत्-तत्त्वज्ञान के अभाव में नीरस एवं शुष्क है। *"रसो वै स:"* श्रुति वाक्य के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम, सच्चिदानन्द एवं रस-स्वरूप हैं। उनकी कृपा सर्वोपरि है। पुष्टि-मार्ग में ब्रह्म-सम्बन्ध प्रक्रिया भगवान् श्रीकृष्ण को वरण करने की प्रक्रिया है। समस्त वेद, शास्त्र एवं पुराणों का सार यही है कि- *'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो*

ब्रजाधिपः' भावानुसार ब्रजाधिप भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वदा सर्वभाव से सेव्य, वरेण्य एवं भजनीय हैं, उन्हें केवल प्रेमा-भक्ति द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

चेतना का उच्चतम विकास ही अमृतत्व है, जिससे साधक को ब्रह्मानुभूति होती है तथा इसी से वह आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक त्रिविध दु:खों से सदा-सदा के लिए निवृत्त होकर सांसारिक जन्म-मरण के कुचक्र से निकलकर परम प्रकाश, ज्योति स्वरूप परमानन्द मोक्ष की प्राप्ति करता है। मुक्ति के सम्बन्ध में आचार्य रामानुज प्रपत्ति को, निम्बार्क शरणागति को, चैतन्य तथा वल्लभ सर्वात्मना समर्पण पर विशेष रूप से बल देते हैं।

"उपनिषद् महावाक्य की व्याख्या-पद्धतियाँ एवं अर्थ-निर्धारण (ब्रह्मसूत्रभाष्यों के विशेष सन्दर्भ में)" इस शोध-प्रबन्ध को छ: अध्यायों में व्यवस्थापित किया गया है, जिसमें प्रथम अध्याय "विषय की शोधार्हता, प्रविधि एवं परियोजना" है। इस अध्याय में प्रस्तुत शोध-कार्य के विषय-क्षेत्र एवं उद्देश्य को बताते हुए इससे सम्बन्धित पूर्ववर्ती शोध-कार्यों से प्रस्तुत शोध-कार्य की विशिष्टता को बताया गया है।

इस क्रम में "वैदिक व्याख्या-पद्धति परम्परा" यह द्वितीय अध्याय का विषय है। इस अध्याय में यह बताया गया है कि ऋतम्भरा-प्रज्ञा से दृष्ट स्वानुभवजन्य ज्ञान को जन-सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु वैदिक ऋषियों द्वारा अनेकविध-पद्धतियों का विकास किया गया, जिसमें अनुव्याख्यान-पद्धति, निर्वचन-पद्धति, सूत्र-पद्धति, पुराण-पद्धति एवं व्यत्पत्ति विवेचन पद्धति प्रमुख हैं, जिनके माध्यम से वैदिक-परम्परा द्वारा ज्ञान को आगामी पीढ़ी के लिए प्रस्तुत किया गया।

"ब्रह्मसूत्रभाष्यों की व्याख्या-पद्धतियाँ" यह तृतीय अध्याय का विषय है। इस अध्याय में यह बताया गया है कि ऋषि-परम्परा द्वारा सृष्टि के गम्भीर एवं रहस्यमय भावों को अतिसंक्षिप्त एवं प्रौढशैली का आश्रय लेते हुए बीजरूप में निबद्ध किया गया, किन्तु कालक्रम से मेधाशक्ति के क्रमिक ह्रास होने के कारण बीजरूप में निहित प्रौढ़-रचनाएँ जब अध्येताओं को दुरूह प्रतीत होने लगी तथा समाज इस चिन्तन के अध्ययन-अध्यापन से विमुख होने लगा, तब आचार्य-परम्परा द्वारा अर्थ के विशदीकरण, स्पष्टीकरण एवं जनमानस में लोकप्रिय बनाने हेतु शास्त्रार्थ-पद्धति में भाष्यों का प्रणयन, उपोद्घात-पद्धति, तर्क-पद्धति, आलोचनात्मक-पद्धति, दृष्टान्त-पद्धति, न्याय-पद्धति एवं लक्षण-परिभाषा-पद्धति आदि अनेकानेक व्याख्या-पद्धतियों का उत्तरोत्तर विकास किया गया, जिसके परिणाम स्वरूप अत्यन्त क्लिष्ट एवं अवबोध में दुरूह

प्रतीत होने वाली रचनाओं के अर्थ-संप्रेषणीयता में वृद्धि हुई और वैदिक-चिन्तन के अध्ययन-अध्यापन के प्रति समाज की पुन: प्रवृत्ति हुई।

"उपनिषच्छाङ्करभाष्य एवं ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में महावाक्यों का अर्थ- निर्धारण" यह चतुर्थ अध्याय का विषय है। इस अध्याय में आचार्य शङ्कर कृत् छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, ब्रह्मसूत्र भाष्य एवं प्रकरण ग्रन्थों के आधार पर तत्त्वमसि श्रुतिवाक्य का अद्वैतपरक अर्थ-निर्धारण किया गया है। "अन्य ब्रह्मसूत्रभाष्यों में महावाक्यों का अर्थ-निर्धारण" यह पंचम-अध्याय का विषय है। इस अध्याय में भास्करभाष्य से लेकर शक्तिभाष्य पर्यन्त तत्त्वमसि महावाक्य का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करते हुए अर्थ-निर्धारण किया गया है। "वैदिक व्याख्या-पद्धतियाँ एवं भारतीय समाज पर उसका प्रभाव" यह षष्ठ अध्याय का विषय है। इस अध्याय में वैदिक व्याख्या-पद्धतियों एवं भाष्यकारों की व्याख्या-पद्धतियों का भारतीय समाज पर जो प्रभाव है, उसको बताया गया है।

इस प्रकार इस शोध-प्रबन्ध में तत्त्वमसि महावाक्य के विवेचन से यह स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि एक ही महावाक्य को आधार बनाकर भाष्यकारों द्वारा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से व्याख्यायित किया गया है। 'स आत्मा तत्त्वमसि' श्रुतिवाक्य का अर्थ कहीं 'तस्मै त्वम् असि' कहीं 'तस्मात् त्वम् असि' कहीं 'तस्य त्वम् असि' और कहीं 'तस्मिन् त्वम् असि' के रूप में किया गया है। इसी क्रम में 'तत्' पद को कहीं सर्वज्ञत्वादि विशिष्ट चैतन्य, कहीं चिदचिद् से विशिष्ट चैतन्य, कहीं अंशी के रूप में, कहीं शरीरी के रूप में, कहीं शेषी के रूप में, कहीं आश्रय के रूप में, कहीं अतत् के रूप में और कहीं शिव के रूप में व्याख्यायित किया गया है। इस प्रकार 'तत्' के भिन्न-भिन्न अर्थ, 'त्वम्' के भिन्न-भिन्न अर्थ और दृष्टिकोण भिन्न होने से 'तत्' और 'त्वम्' के सम्बन्ध भी भिन्न-भिन्न प्राप्त होते हैं और ये सभी अर्थ विद्वत् समाज में मान्य हैं तथा समाज में उसके लाखों अनुयायी हैं, जिनकी आस्था इस पर टिकी हुई है।

तत्त्वमसि महावाक्य सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन के सम्बन्ध में यदि विचार किया जाये कि एक दार्शनिक (भाष्यकार) समाज में क्या योगदान दे सकता है? वस्तुत: एक चिन्तक समाज के समक्ष एक नवीन चिन्तन को प्रस्तुत करता है और उस चिन्तन से समाज का निर्माण होता है। उस चिन्तन द्वारा समाज में व्याप्त विसंगतियों एवं भ्रान्त धारणाओं को दूर करते हुए समाज को एक दिशा देने का प्रयास किया जाता है।

इस क्रम में भाष्यकारों के भाष्य-लेखन के प्रयोजन पर विचार किया जाये तो यह स्पष्ट होता है कि वैदिक-चिन्तन को समझने में पूर्व आचार्यों द्वारा की गयी व्याख्या से समाज कठिनता का अनुभव कर रहा है तथा समाज को एक नई-व्याख्या की आवश्यकता है। इस दृष्टिकोण से आचार्यों द्वारा भाष्य-लेखन से पूर्व इन बिन्दुओं पर हमेशा ध्यान रहता था कि चिन्तन नवीन हो, किसी पूर्व आचार्य द्वारा न कहा गया हो और समाज के लिए उपयोगी हो, जिसके माध्यम से वैदिक-चिन्तन को समझने में समाज सहजता का अनुभव करे- इन सारे तथ्यों को ध्यान में रखते हुए आचार्य द्वारा भाष्य का प्रणयन किया जाता था।

भाष्यकारों के भाष्य-लेखन पर देश, काल और तत्कालीन परिस्थिति का पूर्णत: प्रभाव रहा है। इस क्रम में तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए आचार्य शङ्कर के परवर्ती भाष्यकारों ने यह अनुभव किया कि ज्ञानमार्ग का अनुशरण करते हुए वैदिक-चिन्तन को समझने तथा निर्गुण ब्रह्म विषयक चिन्तन, मनन और निदिध्यासन करने में समाज कठिनता का अनुभव कर रहा है। समाज का एक सामान्य व्यक्ति दिनभर श्रम करने के अनन्तर निर्गुण ब्रह्म पर ध्यान केन्द्रित करने की अपेक्षा सगुण ब्रह्म विषयक भक्ति में सहजता का अनुभव कर सकता है। अत: समाज की दृष्टि से इन सभी तथ्यों को ध्यान में रखते हुए वेदान्त की भाष्य-परम्परा में ज्ञानमार्ग के स्थान पर भक्तिमार्ग और निर्गुण ब्रह्म के स्थान पर सगुण ब्रह्म विषयक चिन्तन के आधार पर ब्रह्मसूत्र की व्याख्या हेतु भाष्य का प्रणयन किया गया। तत्कालीन समस्याओं के समाधान हेतु वैष्णव-भाष्यकारों द्वारा अपने-अपने चिन्तन के अनुसार उत्तरोत्तर विकास करते हुए वैदिक-चिन्तन के प्रति समाज को दिशा देकर एक सूत्र में व्यवस्थापित करने का प्रयास किया गया।

परिशिष्ट

आचार्य शङ्कर की कृतियाँ

भाष्य-ग्रन्थ

1. ब्रह्मसूत्रशारीरकभाष्यम्
2. ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्
3. तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्
4. केनोपनिषद्भाष्यम्
5. ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्
6. छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्
7. कठोपनिषद्भाष्यम्
8. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्
9. प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्
10. मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्
11. श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यम्
12. श्रीविष्णुसहस्रनामभाष्यम्
13. सनत्सुजातीयभाष्यम्
14. श्रीनृसिंहतापनीयोपनिषद्भाष्यम्
15. माण्डूक्यकारिकाभाष्यम्

प्रकरण-ग्रन्थ

1. शतश्लोकी
2. कौपीनपञ्चकम्
3. यतिपञ्चकम्

4. सिद्धान्तपञ्जरम्

5. अद्वैतपञ्चरत्नम् (अद्वैतपञ्चकम् या आत्माद्वैतपञ्चकम्)

6. आत्मबोध

7. अद्वैतानुभूति

8. अद्वैतरसमञ्जरी

9. अपरोक्षानुभूति

10. निर्वाणषट्कम् (आत्मषट्कम् या चिदानन्दषट्कम्)

11. केवलोऽहम्

12. पञ्चरत्नम्

13. पञ्चरत्नमालिका या निरञ्जनाष्टकम्

14. विज्ञाननौका (स्वरूपानुसंधानम्)

15. आर्यपञ्चकम्

16. जीवन्मुक्तानन्दलहरी

17. गुर्वष्टकम्

18. परापूजा

19. प्रपञ्चसार

20. चर्पटपञ्जरिका (द्वादशमञ्जरी, द्वादशपञ्जरिका, मोहमुद्गर:)

21. निर्गुणमानसपूजा

22. प्रौढानुभूति

23. तत्त्वोपदेश

24. प्रश्नोत्तररत्नमालिका

25. ब्रह्मनामावलीमाला (ब्रह्मज्ञाननामावली)

26. निर्वाणमञ्जरी

27. प्रात:स्मरणस्तोत्रम्

28. धन्याष्टकम्

29. मणिरत्नमाला

30. मठाम्नाय

31. ब्रह्मानुचिन्तनम् (आत्मानुचिन्तनम्)

32. मनीषापञ्चकम्

33. सदाचार

34. सहजाष्टकम्

35. स्वात्मनिरूपणम् (अनुभूतिरत्नमाला)

36. दशश्लोकी (निर्वाणदशकम्)

37. ज्ञानसंन्यास

38. सारतत्त्वोपदेश

39. वेदवेदान्ततत्त्वसार

40. वाक्यवृत्ति

41. योगतारावली

42. लघुवाक्यवृत्ति

43. बालबोधिनी

44. चिदानन्दात्मकस्तोत्रम्

45. महावाक्यमन्त्रम्

46. महावाक्यविवरणम् (महावाक्यदर्पणम्)

47. महावाक्यविवेक

48. अष्टश्लोकी

49. द्वादशमहावाक्यविवरणम्

50. पञ्चीकरणप्रकरणम्

51. प्रबोधसुधाकर

52. दक्षिणामूर्तिस्तोत्रम्

53. वाक्यसुधा

54. परमहंससंध्योपासनम्

55. गायत्रीपद्धति

56. त्रिपुष्टिकरणम्

57. दशनामाभिधानम्

58. सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह

59. केरलाचारसंग्रह

60. सामवेदमन्त्रभाष्यम्

61. वज्रसूच्युपनिषत्सार

62. हरितत्त्वमुक्तावली

63. जीवब्रह्मैक्यस्तोत्रम्

64. मायापञ्चकम्

65. शतश्लोकी

66. वेदान्तकेशरी

67. संन्यासपद्धति

68. नवरत्नमाला,

69. सर्वप्रयत्नमाला

70. मन्त्रमातृकापुष्पमाला

71. विवेकचूडामणि

72. ज्ञानगीता

73. आनन्दलहरी

74. उपदेशसाहस्री

75. सौन्दर्यलहरी

76. त्रिपुरी

77. तत्त्वबोधः।

स्तोत्र-ग्रन्थ

शिव-स्तोत्र

1. शिवाष्टक
2. द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्रम्
3. दक्षिणामूर्त्यष्टकम्
4. शिवपञ्चाक्षरस्तोत्रम्
5. कालभैरवाष्टकम्
6. शिवपादादिकेशान्तस्तोत्रम्
7. दक्षिणामूर्तिवर्णमाला
8. शिवज्ञानकारिका।

शक्ति-स्तोत्र

1. अम्बाष्टक
2. त्रिपुरसुन्दर्यष्टक
3. ललितापञ्चरत्न
4. राजराजेश्वरीस्तोत्र
5. मीनाक्षीस्तोत्र
6. मीनाक्षीपञ्चरत्न
7. बालपञ्चरत्न
8. त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा
9. त्रिपुरसुन्दरीवेदपाठ
10. अन्नपूर्णास्तोत्र
11. मातङ्गीस्तोत्र
12. देवीभुजङ्गप्रयात
13. देवीपञ्चरत्न

14. देवीस्तुति
15. गौरीदशक
16. भवान्यष्टक
17. भवानीभुजङ्गप्रयात
18. दुर्गापराधभञ्जनस्तोत्र
19. तारापञ्झटिका
20. गिरिजादशक
21. कालिकास्तोत्र
22. काल्यपराधञ्जनस्तोत्र
23. शारदाभुजङ्गप्रयात
24. कामाक्षीस्तोत्र
25. श्यामामानसार्चन
26. भ्रमराम्बाष्टक।

विष्णु-स्तोत्र

1. कृष्णाष्टक
2. बालकृष्णाष्टक
3. कृष्णदिव्यस्तोत्र
4. अच्युताष्टक
5. चक्रपाणिस्तोत्र
6. विष्णुषट्पदी
7. गोविन्दाष्टक
8. आर्त्तत्राणनारायणाष्टक
9. विष्णुपादादिकेशान्तस्तोत्र
10. हरिमीडेस्तोत्र
11. जगन्नाथस्तोत्र
12. भगवन्मानसपूजा
13. पाण्डुरङ्गाष्टक

14. मुकुन्दचतुर्दश
15. हरिनामावलीस्तोत्र
16. नामाष्टक
17. राघवाष्टक
18. रामतत्त्वरत्न।

गणेश-स्तोत्र

1. वरदगणेशस्तोत्र
2. गणेशाष्टक
3. गणेशपञ्चरत्न।

युगलदेवता-स्तोत्र

1. श्रीउमामहेश्वरस्तोत्र
2. लक्ष्मीनृसिंहस्तोत्र
3. हरिहरस्तोत्र
4. हरगौर्यष्टक।

नदीतीर्थविषयक-स्तोत्र

1. गङ्गाष्टक
2. गङ्गास्तोत्र
3. यमुनाष्टक
4. नर्मदाष्टक
5. काशीस्तोत्र
6. काशीपञ्चक
7. पुष्कराष्टक
8. त्रिवेणीस्तोत्र
9. मणिकर्णिकास्तोत्र।

साधारण-स्तोत्र

1. सुब्रह्मण्यभुजङ्गप्रयात
2. दत्तभुजङ्गप्रयात
3. दत्तमहिम्नस्तोत्र
4. कनकधारास्तोत्र
5. कल्याणवृष्टिस्तोत्र
6. सुवर्णमालास्तोत्र
7. महापुरुषस्तोत्र
8. हनुमत्पञ्चक
9. अञ्जनिस्तोत्र।

भेदाभेद-वेदान्त के प्रवर्तक आचार्य भास्कर

आचार्य भास्कर के दो ग्रन्थ प्राप्त होते हैं-

1. ब्रह्मसूत्रभाष्य
2. गीताभाष्य

इनके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् पर उनका एक भाष्य था, जो अब अनुपलब्ध है।

विशिष्टाद्वैत-वेदान्त

विशिष्टाद्वैत परम्परा के प्रारम्भिक आचार्य रंगनाथमुनि से लेकर इस परम्परा के प्रमुख आचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की सूची कालक्रम के अनुसार निम्नलिखित हैं-

आचार्य रंगनाथमुनि (10वीं शताब्दी)

1. न्यायतत्त्वम्
2. योगरहस्यम्

यामुनाचार्य

ये आचार्य नाथमुनि के पौत्र हैं। इनका समय 11वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. आत्मसिद्धि
2. ईश्वरसिद्धि
3. संवित्सिद्धि
4. गीतार्थसंग्रह
5. स्तोत्ररत्नम्
6. आगमप्रामाण्य
7. महापुरुषनिर्णय
8. चतुःश्लोकी

यादवप्रकाश

ये रामानुज के गुरु थे। इनका समय 11वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने 'देवराजाष्टकम्' की रचना की।

आचार्य रामानुज (1017 ई.-1137 ई.) की कृतियाँ

1. ब्रह्मसूत्र पर श्रीभाष्य
2. श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य
3. वेदार्थसंग्रह (शांकर एवं भाष्कर मत का खण्डनात्मक ग्रन्थ)
4. वेदान्तसार
5. वेदान्तदीप
6. न्याय ग्रन्थ
7. शरणगतिगद्यम्
8. श्रीरङ्गगद्यम्
9. वैकुण्ठगद्यम्
10. नित्यग्रन्थ

गाविन्दभट्टार अम्बर

इनका समय 11वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रीस्तवम्
2. अतिमनस्तवम्
3. वैकुण्ठस्तवम्
4. सुन्दरबाहुस्तवम्
5. यमकरत्नाकरम्
6. कुरेशविजयम्

वङ्गीवशेश्वर

इनका समय 11वीं शताब्दी माना जाता है। ये आचार्य रामानुज के शिष्य थे। इन्होंने 'वङ्गीशकारिका' की रचना की।

गरूडवाहन पण्डित

इनका समय 11वीं शताब्दी माना जाता है। ये आचार्य रामानुज के शिष्य थे। इन्होंने 'यतिराजावैभवम्' की रचना की।

पराशर

इनका समय 12वीं शताब्दी माना जाता है। ये आचार्य रामानुज एवं अम्बर के शिष्य थे। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. भगवद्गुणदर्पण (विष्णुसहस्रनाम पर टीका)
2. तत्त्वरत्नाकरम्
3. क्रियादीपम्
4. श्रीगुणरत्नकोशम्
5. श्रीरङ्गराजास्तवम्
6. मुक्तकश्लोक
7. लक्ष्मीकल्याणम्

8. अष्टश्लोकि
9. अध्यात्मकाण्डद्वयविवरणम्

आत्रेय रामामिश्र(12वीं शताब्दी)

1. श्रीभाष्यविवर्णम्
2. सदर्थ संक्षेपम्

सेनेश्वराचार्य

इनका समय 12वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने ‘न्यायकल्पसंग्रह’ की रचना की।

श्रीविष्णुचित्त

इन्होंने ‘प्रमेयसंग्रह’ की रचना की।

मेघनादारि सूरि

इनका समय 14वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रीभाष्य पर नयप्रकाशिका
2. नयद्युमणि
3. श्रीभाष्यभरभोदनम्
4. भावप्रबोध
5. मुमुक्षूपायसंग्रह

श्रीविष्णुचित्त

इनका समय 12वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने विष्णु पुराण पर ‘श्रीविष्णुचित्तीयम्’ टीका की रचना की।

लोकाचार्य

इनका समय 13वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. तत्त्वशेखर

2. तत्त्वत्रय
3. श्रीवचनभूषण

वरदनारायण भट्टारक

इन्होंने श्रीभाष्य पर ‘न्यायसुदर्शन’ टीका की रचना की।

वत्स्य वरदार्य

इनका समय 13वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. तत्त्वसारम् (श्रीभाष्य पर टीका)
2. तात्पर्यदीपिका (श्रीभाष्य पर टीका)
3. चरमगुरुनिर्णयम्
4. प्रमेयमाला
5. फलभेदकण्डनम्
6. तत्त्वनिर्णयम्
7. प्रपन्नपरिजातम्
8. सारार्थचतुष्टयम्
9. रामानुजसिद्धान्तसार

सुदर्शन सूरि

इनका समय 11वीं शताब्दी माना जाता है। ये वत्स्य वरदाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रुतप्रदीपिका (श्रीभाष्य की व्याख्या)
2. श्रुतप्रकाशिका (श्रीभाष्य की व्याख्या)
3. तात्पर्यदीपिका (वेदार्थसंग्रह की व्याख्या)
4. संध्यावन्दन भाष्यम्
5. सुबलोपनिषद्- व्याख्या (सुबलोपनिषद् पर टीका)

6. शुकपक्षीयम् (वेदार्थसंग्रह पर टीका)
7. शरणागतगद्यभाष्य

वेंकटनाथ

इनका समय 14वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रीभाष्य पर तत्त्व टीका
2. अधिकरणसारावली
3. तत्त्वमुक्ताकलाप (सर्वार्थसिद्धि)
4. गीतार्थतात्पर्यचन्द्रिका
5. ईशावास्यभाष्य
6. शतदूषणी
7. तात्पर्यरत्नावली
8. पाञ्चरात्ररक्षा
9. सच्चरित्ररक्षा
10. निक्षेपरक्षा
11. न्यायविंशति
12. शिल्पार्थसार
13. न्यायसिद्धाञ्जन
14. न्यायपरिशुद्धि
15. परमतभङ्ग
16. मीमांसापादुका
17. सेश्वरमीमांसा
18. रसभौमामृत
19. वृक्षभौमामृत
20. यादवाभ्युदय
21. हंससंदेश
22. सुभाषितनीति
23. संकल्पसूर्योदय

24. रामाभ्युदय
25. पादुकासहस्र
26. सम्प्रदायपरिशुद्धि
27. तत्त्वपदवी
28. रहस्यपदवी
29. तत्त्वनवनीतम्
30. रहस्यनवनीतम्
31. तत्त्वमातृका
32. रहस्यमातृका
33. तत्त्वसंदेश
34. रहस्यसंदेश
35. रहस्यसंदेशविवरण
36. तत्त्वरत्नावली
37. तत्त्वरत्नावलीसंग्रह
38. रहस्यमालावली
39. रहस्यमालावलीहृदय
40. सारदीप
41. रहस्यत्रयसार
42. अभयप्रदानसार
43. तत्त्वशिखामणि
44. रहस्यशिखामणि
45. अंजलिवैभव
46. प्रधानशतक
47. उपकारसंग्रह
48. सारसंग्रह
49. विरोधपरिहार
50. मधुरकविहृदय
51. परमपादसोपान

52. परमतभंग
53. हस्तिगिरिमाहात्म्य
54. द्रविडोपनिषत्सार
55. द्रविडोपनिषत्तात्पर्यावली
56. निगमपरिमल

आत्रेय रामानुज की कृतियाँ

'श्री-भाष्य' के रचयिता आचार्य रामानुज से प्रारम्भ होने वाले विशिष्टाद्वैती गुरु-परम्परा में ये पाँचवें उत्तराधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनका समय 13वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने चार ग्रन्थों का प्रणयन किया, जो निम्नलिखित हैं-

1. दिव्यसूरि प्रभाव दीपिका
2. सर्वदर्शन शिरोमणि
3. मोक्षसिद्धि
4. न्यायकुलिश

रामानुजदास की कृतियाँ

इनका अपरनाम महाचार्य है। इनका समय 15वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रीभाष्य पर ब्रह्मसूत्रभाष्योपन्यास टीका
2. पाराशर्य विजय
3. ब्रह्मविद्या विजय
4. वेदान्त विजय
5. रहस्यत्रयमीमांसा
6. रामानुजचरित्रचुलुक
7. अष्टादशरहस्यार्थ निर्णय

आचार्य सेनेश्वर

इन्होंने श्रीभाष्य पर ‘शारीरकन्यायकलाप’ नामक टीका की रचना की।

वीरराघवदास(१४००-१५००ई.)

इन्होंने श्रुतप्रकाशिका की व्याख्या के रूप में ‘भावप्रकाशिका’ की रचना की। इनकी एक अन्य रचना ‘रत्नसारिणी’ है।

वाधुल श्रीनिवास(१५००ई.)

इन्होंने श्रुतप्रकाशिका पर ‘तूलिका’ नामक टीका की रचना की।

परकालयति(१५००ई.)

इन्होंने श्रीभाष्य पर ‘मितप्रकाशिका’ टीका का प्रणयन किया।

रंगरामानुज

इनका समय 15वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रीभाष्य पर मूलभावप्रकाशिका टीका
2. न्यायसिद्धाञ्जन पर न्यायसिद्धाञ्जनव्याख्या
3. द्रविडोपनिषद्भाष्य
4. रामानुजसिद्धान्तसार
5. छान्दोग्योपनिषत्प्रकाशिका
6. बृहदारण्यकोपनिषत्प्रकाशिका
7. शारीरकशास्त्रार्थदीपिका
8. विषयवाक्यदीपिका

श्रीशैलनिवास

इनका समय 16वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. श्रीभाष्य पर तत्त्वमार्तण्ड
2. भेददर्पण
3. सिद्धान्तचिन्तामणि
4. सारदर्पण
5. जिज्ञासादर्पण
6. मुक्तिदर्पण
7. ज्ञानरत्नदर्पण
8. नयद्युमणिदीपिका
9. नयद्युमणिसंग्रह
10. अद्वैतवनकुठार
11. भेदमणि
12. विरोध- निरोध

शठकोपाचार्य(१६००ई.)

इन्होंने 'भाष्यप्रकाशिका दूषणोद्धार' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया।

श्रीभाष्य की अन्य टीकाएँ

1. वीरराघवाचार्य की 'भाष्यार्थदर्पण' टीका का प्रणयन किया।
2. लक्ष्मणाचार्य ने 'गुरुभावप्रकाशिका' नामक टीका का प्रणयन किया।
3. देशिकाचार्य ने 'प्रयोगरत्नमाला' टीका का प्रणयन किया।
4. नारायणमुनि ने 'भावप्रदीपिका' टीका की रचना की।
5. श्रीनिवास ताताचार्य ने 'लघु प्रकाशिका' नामक टीका का प्रणयन किया।
6. श्रीवत्सांक श्रीनिवास ने 'श्रीभाष्यसारार्थसंग्रह' ग्रन्थ की रचना की।
7. आचार्य शठकोप ने 'ब्रह्मसूत्रार्थसंग्रह' ग्रन्थ की रचना की।
8. रंगाचार्य ने 'श्रीभाष्यसिद्धान्तसार' ग्रन्थ की रचना की।

आचार्य मध्व की कृतियाँ

1. ब्रह्मसूत्र पर पूर्णप्रज्ञ भाष्य (द्वैतपरक भाष्य)
2. ब्रह्मसूत्रानुव्याख्यान
3. ब्रह्मसूत्रानुव्याख्याननिर्णय
4. श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य(द्वैत परक भाष्य)
5. श्रीमद्भगवद्गीतातात्पर्यनिर्णय
6. ईशावास्योपनिषद्भाष्यम्
7. तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यम्
8. केनोपनिषद्भाष्यम्
9. कृष्णामृतमहार्णव
10. ऐतरेयोपनिषद्भाष्यम्
11. छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्
12. कठोपनिषद्भाष्यम्
13. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यम्
14. प्रश्नोपनिषद्भाष्यम्
15. मुण्डकोपनिषद्भाष्यम्
16. माण्डुक्योपनिषद्भाष्यम्
17. यतिप्रणवकल्प
18. सदाचारस्मृति
19. जयन्तीनिर्णय
20. यमकभारत
21. नृसिंहनखस्तोत्र
22. द्वादशस्तोत्र
23. श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य
24. भागवत्- तात्पर्य निर्णय
25. महाभारत- तात्पर्य निर्णय
26. विष्णुतत्त्वविनिर्णय

27. ऋग्भाष्य
28. अनुव्याख्यान
29. तत्त्वोद्योत
30. प्रमाणलक्षण
31. कथालक्षण
32. उपाधिखण्डन
33. मायावादखण्डन
34. प्रपञ्चमिथ्यात्वानुमानखण्डन
35. तत्त्वविवेक
36. तत्त्वसंख्यान
37. आत्मज्ञानप्रदेशटीका
38. आत्मोपदेशटीका
39. आर्यस्तोत्र
40. उपदेशसाहस्रीटीका
41. उपनिषत्प्रस्थान
42. ऐतरेयोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
43. केनोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
44. कठोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
45. कौशीतकी उपनिषद्भाष्यटिप्पणी
46. खपुष्पटीका
47. गुरुस्तुति
48. गोविन्दभाष्यपीठक
49. गोविन्दाष्टकटीका
50. गौडपादीयभाष्यटीका
51. छान्दोग्योपनिषद्भाष्यटिप्पणी
52. तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
53. तैत्तिरीयश्रुतिवार्तिकटीका
54. त्रिपुटीप्रकरणटीका

55. नारायणोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
56. पञ्चीकरणप्रक्रियाविवरण
57. प्रश्नोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
58. बृहज्जाबालोपनिषद्भाष्य
59. बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
60. बृहदारण्यकवार्तिकटीका
61. ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका
62. ब्रह्मसूत्रभाष्यनिर्णय
63. ब्रह्मानन्द
64. भक्तिरसायन
65. भगवद्गीताप्रस्थान
66. भगवद्गीताभाष्यविवेचन
67. माण्डुक्योपनिषद्भाष्यटिप्पणी
68. मितभाषिणी
69. रामोत्तरतापिनिभाष्यम्
70. वाक्यसुधाटीका
71. विष्णुसहस्रनामभाष्य
72. वेदान्तवार्तिक
73. शङ्करविजय
74. शंकराचार्यावतारकथा
75. शतश्लोकीटीका
76. संहितोपनिषद्भाष्यटिप्पणी
77. षट्तत्त्व
78. सदाचारस्तुतिस्तोत्र
79. स्मृतिविवरण
80. स्मृतिसारसमुच्चय
81. स्वरूपनिर्णयटीका
82. हरिमीडेस्तोत्रटीका

आचार्य निम्बार्क की कृतियाँ

1. ब्रह्मसूत्र-भाष्य (वेदान्तपारिजातसौरभ)
2. दशश्लोकी
3. सिद्धान्तरत्नमाला
4. ऐतिह्यतत्त्वराद्धान्त
5. पञ्चसंस्कारप्रमाणविधि
6. वेदान्तकामधेनु
7. कृष्णस्तवराज
8. कृष्णाष्टकम्
9. गुरुपरम्परा
10. भगवद्गीतावाक्यार्थ
11. मध्वसुखमर्दन
12. मंत्ररहस्यषोडशी
13. प्रपन्नकल्पवल्ली
14. प्रात:स्मरणस्तोत्रम्
15. प्रपत्तिचिन्तामणि
16. राधाष्टकम्
17. वेदान्त तत्त्वबोध
18. वेदान्तसिद्धान्तप्रदीप
19. सदाचारप्रकाश
20. स्वधर्माध्वबोध
21. श्रीकृष्णस्तव

श्रीनिवास

ये आचार्य निम्बार्क के शिष्य थे। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. निम्बार्ककृत ब्रह्मसूत्रभाष्य (वेदान्तपारिजातसौरभ) पर 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक टीका का प्रणयन किया।

2. लघुस्तवराजस्तोत्र
3. वेदान्तकारिकावली
4. स्तवपंचकमाहात्म्य
5. निगदभाष्य (वेदभाष्य)

केशवकश्मीरिभट्ट

ये मुकुन्द के शिष्य थे। इनका समय 16वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. वेदान्तकौस्तुभ पर वेदान्तकौस्तुभप्रभा नामक टीका
2. भगवद्गीता पर तत्त्वप्रकाशिका
3. श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध पर तत्त्वप्रकाशिका वेदस्तुति टीका
4. तैत्तिरीयोपनिषद् पर तैत्तिरीयप्रकाशिका टीका
5. क्रमदिपिका
6. श्रीगोविन्दशरणागतिस्तोत्र
7. यमुनास्तोत्र
8. ब्रह्मोपनिषद् टीका
9. विष्णुसहस्रनामटीका
10. मुण्डकोपनिषद् टीका

आचार्य अनन्तरामदेव

1. वेदान्ततत्त्वबोध
2. वेदान्तरत्नमाला
3. तत्त्वसिद्धान्तविन्दु
4. श्रुतिसिद्धान्तरत्नमाला
5. वेदान्तसारपद्यमाला
6. श्रीकृष्णचरणभूषणस्तोत्र
7. श्रीमुकुन्दशरणापत्तिस्तोत्र
8. श्रीमदाचार्यपरम्परास्तोत्र

निम्बार्क परम्परा के अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ

1. माधवमुकुन्द कृत परपक्षगिरिवज्र

वैष्णवदास

इनका समय 20वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. सिद्धान्तजान्हवी
2. वैष्णवधर्मादर्श
3. वेदान्तपदार्थपरिचय
4. वैष्णवधर्मविवेचना
5. भगवद्गीताभाष्य
6. ब्रह्मसूत्रचतु:सूत्रीभाष्य
7. श्रीआचार्यवल्ली
8. वैष्णवसंस्कारकौस्तुभ

आचार्य बल्लभ की कृतियाँ

1. ब्रह्मसूत्र पर अणुभाष्य
2. अन्त:करण प्रबोध
3. अन्त:करण प्रबोध टीका
4. आनन्दाधिकरण
5. एकान्त रहस्य
6. कृष्णाश्रय
7. चतु:श्लोकी भागवत टीका
8. जलभेद
9. जैमिनिसूत्र भाष्य मीमांसा
10. तत्त्वदीपिका
11. तत्त्वदीपिकाप्रकाशटीका
12. त्रिविधलीला नामावली

13. नवरत्न
14. नवरत्न टीका
15. निबन्ध
16. निरोध-लक्षण और विवृति
17. पत्रावलम्बन
18. परित्याग
19. परिवृद्धाष्टक
20. पुरुषोत्तम-सहस्रनाम
21. पुष्टिप्रवाह्-मर्यादाभेद
22. पुष्टिप्रवाह्-मर्यादाभेद टीका
23. पूर्वमीमांसा कारिका
24. प्रेमामृत
25. प्रेमामृत टीका
26. प्रौढचरितनाम
27. बालचरितनाम
28. बालबोध
29. बृहद सूत्राणुभाष्य
30. भक्तिवर्धिनी
31. भक्तिवर्धिनी टीका
32. भक्ति सिद्धान्त
33. भगवद्गीता भाष्य
34. भागवत तत्त्वदीप
35. भागवत तत्त्वदीप टीका
36. भागवत पुराण पर सुबोधिनी टीका
37. भागवत पुराण पंचम स्कन्ध टीका
38. भागवत पुराण एकादश स्कन्धार्थनिरूपण कारिका
39. भागवत सार समुच्चय
40. मंगलवाद

41. मधुरामहात्म्य
42. मधुराष्टक
43. यमुनाष्टक
44. राज लीला नाम
45. विवेक धैर्याश्रम
46. स्तुति कारिका
47. श्रद्धाप्रकरण
48. श्रुतिसार
49. संन्यास निर्णय
50. संन्यास निर्णय टीका
51. साक्षात्पुरुषोत्तम वाक्य
52. सिद्धान्त मुक्तावली
53. सिद्धान्त रहस्य
54. सेवाफल स्तोत्र
55. सेवाफल स्तोत्र टीका
56. स्वामित्यष्टक

आचार्य वल्लभ के अणुभाष्य पर आचार्यों द्वारा अनेक टीकाओं का प्रणयन किया गया, जिसमें प्रमुख टीकाओं का विवरण निम्नलिखित है-

अणुभाष्य की टीकाएँ

1. आचार्य पुरुषोत्तम का भाष्यप्रकाश
2. आचार्य गिरिधर का विवरण
3. आचार्य इच्छाराम का अणुभाष्यप्रदीप
4. आचार्य श्रीधर शर्मा की बालप्रबोधिनी
5. आचार्य लालू भट्ट की अणुभाष्यनिगूढार्थदीपिका
6. आचार्य व्रजनाथ भट्ट की मरीचिका (ब्रह्मसूत्रभाष्य की टीका)

वल्लभ दर्शन की अन्य टीकाएँ

1. आचार्य गोपेश्वर ने वल्लभाचार्य की प्रकाश टीका पर 'रश्मि' टीका का प्रणयन किया।
2. आचार्य रघुनाथ ने वल्लभाचार्य के 'हंस भक्ति' पर 'नामचन्द्रिका' टीका का प्रणयन किया।
3. आचार्य गिरिधर जी का शुद्धाद्वैतमार्तण्ड
4. आचार्य बालकृष्ण भट्ट का प्रमेयरत्नार्णव

आचार्य मुरलीधर की कृतियाँ

1. अणुभाष्यव्याख्या
2. परतत्त्वाञ्जन
3. भक्ति चिन्तामणि
4. भगवन्नाथ दर्पण
5. भगवन्नाथ वैभव

आचार्य विट्ठलदीक्षित

ये वल्लभाचार्य के पुत्र थे। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. अवतारतारतम्य स्तोत्र
2. कृष्णप्रेमामृत
3. गीतगोविन्द प्रथमाष्टपदीविवृति

आचार्य पुरुषोत्तम

इनका समय लगभग १६७०ई. माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. सुबोधिनीप्रकाश
2. उपनिषद्दीपिका
3. आवरणभङ्ग (प्रकाश की टीका)
4. भक्तिहंसविवेक
5. उत्सवप्रतान

6. स्वर्णसूत्र
7. षोडशग्रन्थविवृति

आचार्य पीताम्बर

इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं-

1. अवतारवादावली
2. भक्तिरसत्ववाद
3. द्रव्यशुद्धि
4. पुष्टिप्रवाहमर्यादा

आचार्य बलदेव विद्याभूषण की कृतियाँ

स्वतन्त्र-ग्रन्थ

1. ब्रह्मसूत्र गोविन्द भाष्य
2. सिद्धान्तरत्न
3. प्रमेयरत्नावली
4. नामार्थशुद्धि
5. सिद्धान्तदर्पण
6. ऐश्वर्यकादम्बिनी
7. साहित्यकौमुदी
8. साहित्यकौमुदी की टीका कृष्णानन्दी
9. काव्यकौस्तुभ
10. व्याकरणकौमुदी
11. वेदान्तस्यमन्तक

टीका एवं भाष्य ग्रन्थ

1. श्रीमद्भगवद्गीता पर गीताभूषण टीका
2. षट्सन्दर्भ टीका

3. विष्णुसहस्रनाम भाष्य पर नामार्थसुधा
4. स्तवमाला भाष्य पर स्तवमाला विभूषण
5. श्रीमद्भागवत टीका वैष्नवानन्दिनी
6. श्रीगोपालतापनीभाष्य
7. लघु भागवतामृत टिप्पणी सारङ्गरङ्गदा
8. रसिक रङ्गदा (पद्यावली टीका)
9. गोपालचम्पू टीका (शब्दार्थ बोधिका)
10. कृष्णभावनामृत भाष्य
11. कृष्णभावनामृत- टीका
12. वैष्णवनन्दिनी (भागवत टीका)
13. सूक्ष्मा (ब्रह्मसूत्र गोविन्दभाष्य टीका)
14. सिद्धान्तरत्न टीका
15. नाटक चन्द्रिका टीका
16. छन्द: कौस्तुभ भाष्य
17. चन्द्रालोक टीका
18. साहित्यकौमुदी वृत्ति
19. गोपालतापिनी भाष्य
20. नित्यानन्द प्रभुवंश परिचय भाष्य
21. तत्त्वसन्दर्भ टीका
22. श्यामानन्द शतक टीका
23. क्रान्तिमाला
24. स्तव अवली काशिका

25. सदानन्द विधायिनी टीका

26. बालतोषणी

27. संशयशातनी

28. पाद कौस्तुभ

29. ऐश्वर्य कादम्बिनी

आचार्य विज्ञानभिक्षु की कृतियाँ

1. विज्ञानामृत भाष्य
2. आदेशरत्नमाला (उपदेशरत्नमाला)
3. पातञ्जलभाष्यवार्तिक (योगवार्तिक)
4. ब्रह्ममीमांसा भाष्य
5. ईश्वरगीताभाष्य
6. प्रश्नोपनिषदालोक
7. कठवल्ल्युपनिषदालोक
8. कैवल्योपनिषदालोक
9. तैत्तिरीयोपनिषदालोक
10. माण्डुक्योपनिषदालोक
11. मुण्डकोपनिषदालोक
12. श्वेताश्वतरोपनिषदालोक
13. मैत्रेय्युपनिषदालोक
14. ब्रह्मादर्श
15. योगवार्तिक
16. योगसारसंग्रह

17. भगवद्गीता टीका

18. विज्ञानामृत या ब्रह्मसूत्रऋजुव्याख्या

19. सांख्यकारिका भाष्य

20. सांख्यप्रवचन भाष्य

21. सांख्यसार

22. सांख्यसारविवेक

23. भिक्षुवार्तिक

सन्दर्भ ग्रन्थ- सूची (Bibliography)

प्राथमिक स्रोत (Primary Text)

9.1. प्रत्यक्ष स्रोत

ईशादि नौ उपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०६६.

छान्दोग्योपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०६७.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शङ्कराचार्य, सत्यानन्दी हिन्दी टीका सहित, गोविन्दमठ वाराणसी, ६ठाँ संस्करण, विक्रम संवत्, २०४०.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शङ्कराचार्य, गोविन्दानन्द, रत्नप्रभा टीका, मिश्र, वाचस्पति, भामती टीका, आनन्दगिरि न्यायनिर्णय टीका सहित, सं. जे. एल. शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, सं. १९८८.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम्, शङ्कराचार्य, भामती –पंचपादिका –विवरण –तत्त्वदीपन – विवरणप्रमेय -संग्रह – ऋजुप्रकाशिका – नारायण सरस्वती कृत वार्तिक – नवीनटिप्पणीप्रदीप व्याख्योपव्याख्यानवकोपेतम्, संस्कृतभूमिका, सूचियत्रादिसमेतम्, शास्त्री, अनन्तकृष्ण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, २००८.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शङ्कराचार्य, हिन्दी व्या. भोलेबाबा, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, सं. २००४.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शङ्कराचार्य, (भामती, कल्पतरु, परिमल टीकाओं सहित), परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. १९८२.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शङ्कराचार्य, भामतीटीका, मिश्र, वाचस्पति, हिन्दी व्या. योगिन्द्रानन्द, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं. २००५.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य, शङ्कराचार्य, सम्पा. शास्त्री, रामचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, शक संवत्, १८३०.

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य भामतीटीका, मिश्र, वाचस्पति, सम्पा. शास्त्री, रामचन्द्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, शक संवत्, १९३०.

ब्रह्मसूत्रभास्करभाष्यम्, भास्कराचार्य, सम्पा. द्विवेदी, विन्ध्येश्वरीप्रसाद, संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, सं. १९९१.

ब्रह्मसूत्रभाष्य, श्रीकण्ठ, अप्पयदीक्षितकृतशिवार्कमणिदीपिकाव्याख्यासहितम्, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, १९८६.

ब्रह्मसूत्रनिम्बार्कभाष्यम्, वेदान्तकौस्तुभ-वेदान्तकौस्तुभप्रभा-भावदीपिकाव्याख्यात्रयोपेतम्, निम्बार्क, अग्रवाल, मदन मोहन, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०००.

ब्रह्मसूत्रभाष्यम्, श्रीकण्ठकृतभाष्य, अप्पयदीक्षितकृत शिवार्कमणिदीपिकासहित (चतु:सूत्रीपर्यन्त) व्या. द्विवेदी, व्रजवल्लभ, जंगमवाणी मठ, वाराणसी, १९८६.

ब्रह्मसूत्रशैवभाष्य, श्रीकण्ठ, अप्पयदीक्षितकृत शिवार्कमणिदीपिकाव्याख्यासहित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०८.

ब्रह्मसूत्रप्रमुखभाष्यपञ्चकसमीक्षणम्, त्रिपाठी, रामशरण, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९७२.

बृहदारण्यकोपनिषद्, शाङ्करभाष्यार्थ, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०६७.

विज्ञानामृतभाष्यम्, विज्ञानभिक्षु, सम्पा. त्रिपाठी, केदारनाथ, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९७९.

शक्तिभाष्यम्, भट्टाचार्य, पञ्चानन तर्करत्न, भूमिका-कविराज, गोपीनाथ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००५.

श्रीकरभाष्यम्, श्रीपति, राव, हयवदन, अक्षय प्रकाशन, नई-दिल्ली, २००३.

श्रीब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्, वल्लभाचार्य, अक्षय प्रकाशन, दिल्ली, २००५.

श्रीभाष्यम्, रामानुज, व्या. गोस्वामी, ललित कृष्ण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०१०.

श्रीभाष्य (श्रुतप्रकाशिकायुतम्), रामानुज, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १९९१.

श्रीवल्लभ-वेदान्त (ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्), वल्लभाचार्य, व्या. गोस्वामी, ललित कृष्ण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २००१.

श्रीवेदान्त-दर्शन (गोविन्दभाष्य), विद्याभूषण, बलदेव, व्या. श्यामदास, व्रजगौरव प्रकाशन, श्रीधाम वृन्दावन, २००३.

9.2. अप्रत्यक्ष स्रोत

अद्वैतदीपिका (भागत्रयात्मिका), नृसिंहाश्रम, सम्पा. शास्त्री, एस. सुब्रह्मण्यम्, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८२.

ईशावास्योपनिषद्-शक्तिभाष्यम्, भट्टाचार्य, पञ्चानन तर्करत्न, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, वाराणसी, १९३९.

इष्टसिद्धि, विमुक्तात्मयति, सम्पा. एम. हिरियन्ना, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, गायकवाड, बडौदा, १९९३.

कार्यकारणभावमीमांसा (विद्वत्परिचर्चा), प्रकाशक- श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, गुजरात, वि. सं. २०६०.

तर्क संग्रहः, अन्नमभट्टप्रणीतः, व्या. भार्गव, दयानन्द, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सं. २००५.

तत्त्व-बोध, शंकराचार्य, व्या. शंकरानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, मुम्बई, २०१३.

द्वैताद्वैतविमर्शः, सम्पा. शुक्ल, राजाराम, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २००४.

न्यायदर्शनम् (वात्स्यायनभाष्यसहितम्), महर्षिगौतमप्रणीतम्, व्या. शास्त्री, ढुण्ढिराज, चौखम्बा संस्कृत भवन, वाराणसी, सं. २०६४.

न्यायसिद्धाञ्जनम्, वेदान्तदेशिक, सम्पा. नीलमेघाचार्य, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९६.

निरूक्तम्, यास्कप्रणीतम्, शास्त्री, सीताराम, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, सं. २००२.

निरूक्त-शास्त्रम्, यास्कप्रणीतम्, व्या. भवदत्त, रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवती, सोनीपत, सं. २००४.

नैष्कर्म्यसिद्धि, सुरेश्वराचार्य, सम्पा. कर्नल जी. ए. जैकोब (मिश्र, ज्ञानोत्तम कृत चन्द्रिका सहित), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं. १९९२.

पतञ्जलि, *महाभाष्य,* हिन्दी व्या. एवं सम्पा. त्रिपाठी, जयशङ्करलाल, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी वाराणसी, सं. १९८९.

प्रमाणमीमांसा (मध्वमतानुसारेण), नरसिंहाचार्यपुरोहितः, श्रीगुरुसार्वभौमसंस्कृतविद्यापीठम्, २००४.

पंचपादिका, पद्मपाद, सम्पा. टी. चन्द्रशेखरन तथा शास्त्री, श्रीराम (प्रकाशात्मयति कृत विवरण पर चित्सुखी की तात्पर्यदीपिका एवं नृसिंहाश्रम की भावप्रकाशिका टीकाओं सहित), मद्रास गवर्नमेन्टल ओरियण्टल सीरीज, मद्रास, सं. १९५०.

पंचपादिका, पद्मपाद, अनु. किशोरीलाल, रामतीर्थ मिशन, देहरादून, सं. २००१.

पंचपादिका विवरण, प्रकाशात्मयति, इ.जे. लाजरस कम्पनी, बनारस, सं. १९९८.

पंचपादिका विवरण, प्रकाशात्मयति, अनु. किशोरीलाल, रामतीर्थ मिशन, देहरादून, सं. २००१.

प्रकरण पञ्चिका, मिश्र, शालिकनाथ, सम्पा. शास्त्री, सुब्रह्मण्यम्, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९६१.

ब्रह्मसिद्धि, मिश्र*,* मण्डन, सम्पा*.* शास्त्री*,* कुप्पुस्वामी*,* गवर्नमेन्ट प्रेस*,* मद्रास*,* १९३७*.*

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यम् (एकादशटीकासंयुतम्), शङ्कराचार्य*,* शर्मा*,* योगेश्वरदत्त*,* नाग प्रकाशक, जवाहरनगर दिल्ली, १९९७.

मध्वसिद्धान्तसार: (पदार्थसङ्ग्रहसहित:), पद्मनाभसूरि, द्वैतवेदान्ताध्ययन संशोधनप्रतिष्ठानम्, बेङ्गलूरु, २००९.

महाभाष्य, पतञ्जलि, हिन्दी व्या. मीमांसक, युधिष्ठिर, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, १९९२.

यतीन्द्रमतदीपिका, श्रीनिवासाचार्य, मद्रास, १९६१.

वल्लभवेदान्त-शाङ्करवेदान्तदृष्ट्या अद्वैतसिद्धिमण्डनम्, मिश्र, सुधाकर, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २००८.

वल्लभवेदान्त-योगतन्त्रशास्त्र-साध्यसाधनविमर्श:, दुबे, परमात्मा, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २००८.

वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्ड), भर्तृहरि, व्या. अवस्थी, शिवशङ्कर, चौखम्बा विद्याभवन*,* वाराणसी, सं. १९९७.

वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि, व्या. शर्मा, रघुनाथ, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, २०००.

वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि, सम्पा. के. वी. अभ्यंकर, यूनिवर्सिटी ऑफ पूना संस्कृत एण्ड प्राकृत सीरीज (II), सं. १९९५.

वाक्यपदीयम्, भर्तृहरि, व्या. शुक्ल, रामगोविन्द, चौखम्बा संस्कृत संस्थान*,* वाराणसी, १९९९*.*

वाक्यवृत्ति, शंकराचार्य, व्या. चिन्मयानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट, कानपुर, २००१.

विवरणप्रमेय संग्रह, विद्यारण्य, सम्पा. शास्त्री, कृष्णपन्त, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी, १९०६.

विष्णुतत्वविनिर्णय:, आनन्दतीर्थ, द्वैतवेदान्त स्टडीज एण्ड रिसर्च फाउन्डेशन, बैंगलोर, २०११.

वेदान्तदीप, रामानुज, सम्पा. स्वामी, भट्टनाथ, चौखम्बा, वाराणसी, १९०४.

वेदान्त परिभाषा, (प्रकाश हिन्दी व्याख्या सहित), धर्मराजाध्वरीन्द्र, सम्पा. शास्त्री, गजानन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, सं. १९७३.

वेदान्तसार:, सदानन्द, शुक्ल, बदरीनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९३.

वेदान्तसार, सदानन्द, व्या. मिश्र, आद्याप्रसाद अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. २००७.

वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, प्रकाशानन्द, अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी, १९३६.

वेदान्तकौस्तुभप्रभा, श्रीमत्केशवकश्मीरिभट्टविरचिता, सम्पा. मिश्र, विजयनारायण, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९९२.

शुद्धाद्वैतमार्तण्ड:, गोस्वामी, गिरिधर, सम्पा. मिश्र. सत्यनारायण, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालय:, वाराणसी, १८८८.

श्रीमद्भगवद्गीता, शाङ्करभाष्यार्थ, हरिकृष्णदासगोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०६७.

श्रीनिम्बार्क वेदान्त पारिजात सौरभ, ललित कृष्ण गोस्वामी, श्रीनिम्बार्कपीठ, महाजनी टोला, इलाहाबाद, १९६३.

सविशेष-निर्विशेष श्रीकृष्णस्तव, वेदान्ततत्त्वसुधा (हिन्दी टीका सहित), निम्बार्क, सम्पा. किशोरदास, वृन्दावन, १९१२.

सांख्यतत्त्वकौमुदी-प्रभा, मिश्र, आद्याप्रसाद, प्रेमप्रकाशन बलराम हाउस, इलाहाबाद, १९७३.

'सिद्धान्तकौमुदी' कारक प्रकरण, दीक्षित, भट्टोजि, श्रीवास्तव, आनन्दकुमार, अनुराग प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. २००५.

सिद्धान्तशिखामणि (तत्त्वप्रदीपिकाव्याख्या सहित), शिवयोगी शिवाचार्य, सोलापुर, १९०५.

संक्षेपशारीरक, सर्वज्ञातमुनि, सम्पा. शास्त्री, वझेभाउ, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. १९९२.

द्वितीयक स्रोत

9.3. स्वतन्त्र ग्रन्थ

अञ्जना, *शङ्कर का अद्वैत दर्शन,* परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सं. २००६.

अभिमन्यु, *वेदान्त विमर्श,* परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सं. १९९१.

अभेदानन्द, *शंकरोत्तर अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व निरूपण,* राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर. सं. १९७३.

उपाध्याय, बलदेव, *भारतीय-दर्शन,* शारदा मन्दिर वाराणसी, सं. १९९१.

उपाध्याय, बलदेव, *संस्कृत साहित्य का इतिहास,* शारदा निकेतन वाराणसी, सं. २००४.

कुमार, दीपक, *आत्रेय रामानुज,* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, २००७.

केलकर, पूर्णिमा, *पाणिनीय परिभाषा सूत्र विमर्श,* दुर्गा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २०१२.

के. नारायण, *माध्व दर्शन,* इण्डोलाजिकल रिसर्च सेन्टर, आसनसोल बंगाल, १९९०.

कृष्णलाल, *वैदिक वन्दना,* विभुवैभवम् प्रकाशन, दिल्ली, २०००.

कृष्णदास, *महावाक्य रत्नावली,* स्ट्रीम प्रेस मुम्बई, १९६०.

कुमार, वीरेन्द्र, *संस्कृत व्याकरण में लकारार्थ विवेचन,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सं. १९९८.

गर्ग, लता, *व्याकरण में निपातन का स्वरूप विवेचन,* आई. बी. ए. पब्लिकेशन्स, अम्बाला कैन्ट, सं. २००४.

गैरोला, वाचस्पति, *भारतीय दर्शन,* लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६६.

चतुर्वेदी, कृष्णकान्त, *द्वैत वेदान्त का तात्त्विक अनुशीलन,* विद्याप्रकाशन मन्दिर, दिल्ली, १९८०.

चौबे, व्रजविहारी, *वैदिक वाङ्मय : एक अनुशीलन,* कात्यायन वैदिक साहित्य प्रकाशन, होशियारपुर, सं. १९७२.

जैन, मञ्जु, *धात्वर्थ विचार,* संजय प्रकाशन, दिल्ली, १९९७.

जैन, सुधा, *अद्वैत तत्त्वमीमांसा,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९८६.

टि. जि. सिद्धप्पाराध्य, *शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन,* रम्भापुरी संस्थान मठ, बालेहोन्नूर, १९६१.

तारादत्त, *शंकराद्वैत के प्रमुख सिद्धान्तों का पारस्परिक विश्लेषण,* नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर दिल्ली, २००४.

दत्ता एवं चटर्जी, *भारतीय दर्शन,* पुस्तकभंडार पब्लिशिंग हाउस, पटना, १९९४.

द्विवेदी, कपिलदेव, *वैदिक दर्शन,* विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर (भदोही), सं. २००६.

द्विवेदी, कपिलदेव, *अर्थविज्ञान और व्याकरण दर्शन,* हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५१.

द्विवेदी, कपिलदेव, *भाषाविज्ञान एवं भाषाशास्त्र,* विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, २००३.

द्विवेदी, पारसनाथ, *वैदिक साहित्य का इतिहास,* चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं. २०००.

द्विवेदी, रामचन्द्र, *भर्तृहरि,* राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९९१.

द्विवेदी, सुधाकर, *वैदिक एवं पाणिनीय सन्धियों का आलोचनात्मक अध्ययन,* अमृत प्रकाशन, वाराणसी, सं. २००३.

दास, रविन्द्र कुमार, *शंकराचार्य का समाज दर्शन,* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, सं. २००६.

देवी, जानकी, *अपरोक्षानुभूति,* नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर दिल्ली, १९९८.

नन्द कुमार, *आद्य शंकराचार्य,* इतिहास शोध-संस्थान, दिल्ली, २००८.

पाण्डेय, रामाज्ञा, *व्याकरण दर्शन पीठिका,* सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १९८६.

पाण्डेय, ब्रजेश कुमार, *शक्तिविशिष्टाद्वैत दर्शन में जीव का स्वरूप,* शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, २००८.

पाण्डेय, ब्रजेश कुमार, *श्रीभाष्य सिद्धान्त और प्रतिपक्ष,* शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली, २००८.

पाठक, सविता, *महाभाष्यदीपिका-विमर्श,* नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर दिल्ली, १९९७.

परोहा, केदार प्रसाद, *विशिष्टाद्वैतवाद सम्मत ईश्वर स्वरूप विचार,* अमर ग्रन्थ पब्लिकेशन्स, २००७.

प्रकाशचन्द्र, *नागेशभट्ट का व्याकरण-दर्शन-चिन्तन (परमलघुमञ्जुषा के सन्दर्भ में),* हंस प्रकाशन, जयपुर, २०१०.

बाली, चन्द्रकान्त, *शंकराचार्य का समय-चिन्तन,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९९९.

भट्ट, जीताराम, *अनुभूतिशतकम्,* प्रकाशन-प्रकर्ष संस्था नई-दिल्ली, २००६.

भट्टाचार्य, अभेदानन्द, *अद्वैत एवं द्वैताद्वैत दर्शन,* एस. एस. पब्लिशर्स, दिल्ली, १९९२.

भट्टाचार्य, अभेदानन्द, *शांकर वेदान्त,* दुर्गा पब्लिकेशन्स, १९९१.

भट्टाचार्य, माला, *वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त,* बी.एस. शर्मा एण्ड ब्रदर्श, आगरा, २००४.

भारती, परमानन्द, *वेदान्त प्रबोध,* वेदान्त दर्शन समिति करनाल, २००२.

भारद्वाज, कमला, *महाभाष्य के श्लोकवार्तिक,* नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर दिल्ली, १९९६.

महावीर, *पाणिनीय परम्परा : शब्दानुशासन और उपयोगितावाद,* विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, सं. १९९८.

मलशनी, घनश्यामदास, *वेदान्त की ज्ञानमीमांसा,* मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, सं. १९७३.

मंगलाराम, *संस्कृत व्याकरण की दार्शनिक मीमांसा,* राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, १९९५.

मिश्र, विद्यानिवास, *भारतीय भाषाशास्त्रीय चिन्तन,* राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, १९७६.

मिश्र, सत्यदेव, *अद्वैत वेदान्त में आभासवाद,* इन्दिरा प्रकाशन, पटना, सं. १९८६.

मिश्र, कमलाकान्त,*अर्थविज्ञान,* नाग प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. १९८८.

मिश्र, शोभाकान्त, *शब्दार्थतत्त्व,* बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १९८९.

मिश्र, जयन्त, *शंकरो जयति लोक शङ्करः,* अखिल भारतीय पीठपरिषद्, पटना, २००१.

मिश्रा, चञ्चला, *वेदान्ततत्त्वविवेक – एक अध्ययन,* डिप्टी पब्लिकेशन, दिल्ली, सं. १९८९.

मीमांसक, युधिष्ठिर, *संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास,* रामलाल कपूर ट्रस्ट रेवती, बहालगढ, सं. १९९४.

रामगोपाल, *वैदिक व्याकरण,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, सं. १९६७.

रामकृष्ण, *ब्रह्मसूत्र के वैष्णवभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन,* विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा, १९६०.

लता, सुमन, *विशिष्टाद्वैत की आचार-मीमांसा,* परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सं. २०००.

वर्मा, सत्यकाम, *व्याकरण की दार्शनिक भूमिका,* मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, सं. १९७१.

वर्णी, रामप्रकाश, *व्याकरण-दर्शन को कैय्यट का योगदान,* परिमल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, सं. २००५.

वेदवागीश, सत्यानन्द, *पाणिनीय शब्दानुशासनम्,* भगवती लेजर प्रिन्ट्स, नई दिल्ली, सं. २०६०.

वेंकटेश्वर, *अथ महावाक्य विवरणम्,* स्ट्रीम प्रेस मुम्बई, १९७९.

वेंकटेश्वर, *चतुर्वेद महावाक्य टीका चिन्तामणि,* केरल विश्वविद्यालय, स्ट्रीम प्रेस मुम्बई, १९६३.

शर्मा, उर्मिला, *अद्वैत वेदान्त में तत्त्व और ज्ञान,* छन्दस्वती प्रकाशन, वाराणसी, १९७८.

शर्मा, राममूर्ति, *अद्वैत वेदान्त (इतिहास तथा सिद्धान्त),* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सं. १९९८.

शर्मा, राममूर्ति, *शंकराचार्य,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सं. १९८९.

शर्मा, वीणा, *कृत्प्रत्यय-विमर्श,* वीणा शर्मा प्रकाशन, १९९६.

शर्मा, विनयमोहन, *शोध-प्रविधि,* नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. १९८०.

शर्मा, चन्द्रधर, *भारतीय दर्शन (आलोचन और अनुशीलन),* मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सं. १९९८.

शर्मा, ललित शङ्कर, *शुद्धाद्वैत दर्शन एवं संस्कृति प्रबोधन,* आर्यावर्त्त संस्कृति संस्थान, दिल्ली, २००९.

शर्मा, वाचस्पति, *अणुभाष्य: एक समीक्षात्मक अध्ययन,* ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, सं. १९९५.

शर्मा, उर्मिला, *अद्वैत वेदान्त में तत्त्व एवं ज्ञान,* छन्दस्वती प्रतिष्ठान, वाराणसी, सं. १९९४.

शर्मा, लेखराम, *आचार्य शङ्कर की भाष्यपद्धति,* इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, १९९८.

शास्त्री, उदयवीर, *वेदान्त दर्शन का इतिहास,* विजय कुमार गोविन्दराम हासानन्द, नई-दिल्ली, सं. २००२.

शास्त्री, विश्वनाथ, *भारतीय दर्शनों में वेदान्त का स्थान,* सरस्वती संस्कृत कालेज, लुधियाना, सं. १९८६.

शास्त्री, सत्यदेव, *भामती तथा विवरण प्रस्थान का तुलनात्मक अध्ययन,* भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं. १९७२.

शास्त्री, प्रभाकर, *भगवान्निम्बार्काचार्य: सिद्धान्त, उपासना एवं आचार्य परम्परा,* रचना प्रकाशन, जयपुर, २००२.

शिवाचार्य, चन्द्रशेखर, *शक्तिविशिष्टाद्वैततत्त्वत्रयविमर्श,* शैव भारती शोध प्रतिष्ठान, जङ्गमवाणी मठ, वाराणसी, १९९६.

शुक्ल, रमाकान्त, *गौडीय वेदान्त,* दुर्गा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००८.

शेखावत, महेन्द्र, *आधुनिक चिन्तन में वेदान्त,* मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, सं. १९८६.

शैलकुमारी, *भास्करभाष्य का दार्शनिक अनुशीलन* (अप्रकाशित डी. फिल. शोध-प्रबन्ध), संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

श्रीवास्तव, जगदीश सहाय, *अद्वैत वेदान्त की तार्किक भूमिका,* किताब महल, इलाहाबाद, सं. १९९३.

श्रीशङ्करदिग्विजय : एक अध्ययन, माधवाचार्य, व्या. अवधेश प्रसाद तिवारी, अक्षयवट प्रकाशन, इलाहाबाद, २००१.

साधना कंसल, *विज्ञानभिक्षु के वेदान्त सिद्धान्त,* क्लासिक पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, १९९३.

सिंह, ईश्वर, *भामती एक अध्ययन,* मन्थन प्रकाशक, रोहतक, २००३.

सिंह, पर्णदत्त, *व्याकरण शास्त्रीय परिभाषाएँ : एक अनुशीलन,* कला प्रकाशन, वाराणसी, १९९९.

सिन्हा, हरेन्द्र प्रसाद, *भारतीय दर्शन की रूपरेखा,* मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, २००८.

त्रिपाठी, सुजाता, *पाणिनीय धात्वधिकार समीक्षा,* नाग पब्लिशर्स, जवाहरनगर दिल्ली, २००५.

त्रिपाठी, आलोकमणि, *पाशुपतसूत्र पञ्चार्थभाष्य,* प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, १९९८.

त्रिभुवनदास, *विशिष्टाद्वैतवेदान्त का विस्तृत विवेचन,* चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, २०१३.

Alston, A. J., *The Method of Vedant,* Motilal Banarsidass, New Delhi, 1997.

Bhatt, Govardhan, *The Basic Ways of Knowing,* motilal Banarsidass, Delhi,1989.

Balasubramanian, *The Tradition of Advaita,* Munshi Ram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. Delhi, 1994.

Chatterjee, Satish Chandra, *An Introduction to Philosophy,* Mohan Datta, University of Calcutta, 1984.

Datta, D. M., *The Six Ways of Knowing,* University of Calcutta, Munshi Ram Manoharlal, 1960.

Dasgupta, S. N., *History of Indian Philosophy* (Five voll.), Motilal Banarsidass, 1975.

Devraja, N. K., *An Introduction to Sankara's Theory of Knowledge,* motilal Banarsidass,1972.

Jain, B. M., *Research Methodology,* Jain for Research Publication Social Science, 2/44 Ansari Road, Daryaganj, Delhi.

Jai Singh, *Verbal Testimony in Indian Philosophy,* Parimal Publication, 1990, First Edition.

Max Muller, *Six Systems of Indian Philosophy*, Chokhamba Sanskrit Series, Varanasi, 1971.

Murti, M. Srimannarayana, *Methodology of Indological Research,* Translated by S. M. Katre, Daccan college Research Institute, Pune, 1993.

Prasad, Jwala, *History of Indian Epistemology,* Munshi Ram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd. 1987, Third Edition.

S. Radhakrsnan, *Indian Philosophy* (Vol.I), Kasmiri Fate, Delhi, 1972.

S. Radhakrsnan, *Indian Philosophy* (Vol.II), Oxford University Press, Delhi, 1994.

Sinha, Jadunath, *History of Indian Philosophy,* Central Book Agency 39, S. K. Dasroad Calcutta – 26, India, 1952.

Shastri, Kokileshvara, *An Introduction to Advaita Vedanata Philosophy,* Bhartiya Publish House, Delhi, 1979.

Sharma, V. K. Chitsukh's, *Contribution to Advaita Vedanta,* Kaivalya Publication, Maysore, 1974.

Vidyabhusana, Satish Chandra, *A History of Indian Logic,* motilal Banarsidass, Calcutta 1920, First Editions.

9.4. लेख/पत्रिका/व्याख्यान

Alackapally, Sebastian, *"The sphota of language and tha experience of sabdadvaita",* Joural of Dharma (Bangalore). 1 (1975-76) – 33 (2008).

Ananyanada, *"Self-Knowledge",* Bulletin of the Ramakrishana Mission Inastitute of culture, (Calcutta). 16, 1965, 265-305.

B. Kuppuswamy, *"Imagery and antahkarana theory of perception",* Journal of the Madras University 7, 1946, 17 23.

Bhattacharya, Ram Shankar, *"Some broad aspects on Indian grammar and the theory of sphota",* Journal of the Ganganatha Jha Research Institute (allahabad), 1 (1943) – 67 (2007).

Bhattacharya, Dinesh Chandra, *"Knowledge and Reality"*, Prabuddha Bharata (Calcutta) 44, 1939, 610.

Jha, Dr. Ram Nath, *"Sankara on Sruti as Verbal Testimaony"* Veda as word, Edited by Pr. Shashiprabha kumar, D. K. Printworld (p) Ltd. New Delhi, 2006.

Kaviraj, Gopinath, *"Nada, bindu and kala",* Journal of the Ganganatha Jha Research Institute (Allahabad), 1 (1943) – 67 (2007).

Iyer, M. K. V., *"Intellect and Intution* Brahmavidya", Kumbakonam, 1.3-4, 1949, 1-3.

Pandeya, Kalika Charan, *"The theory of sabdabrahman and sphota",* Journal of the Ganganatha Jha Research Institute (allahabad), 1 (1943) – 67 (2007).

Tiwari, D. N., *"Language and substance (in the light of Vaiyakarana philosophy)",* Journal of the Indian couacial for Philosophical Research, 1 (1983) -25 (2008).

9.5. कोश ग्रन्थ

अमरकोश, श्रीमदमरसिंहविरचितलिंगानुशासनरत्नप्रभाऽऽख्य संस्कृत-व्याख्या हिन्दी-टिप्पण्यादिभिश्च, व्या. त्रिपाठी, ब्रह्मानन्द, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, सं. २००४.

न्याय-कोश, झलकींकर, सम्पा. शास्त्री, वासुदेव, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२८.

पारिजात-कोश (संस्कृत-हिन्दी शब्दार्थकोश), सं.-ईश्वरचन्द्र, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, २००५.

वैदिक पदानुक्रम कोश, मोरिस ब्लूमफिल्ड, सम्पा. बिमली, ओमनाथ, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, २००४.

वैदिकनिर्वचनकोष:, शास्त्री, ज्ञानप्रकाश, परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, २०००.

भारतीय दर्शन बृहत्कोश (भाग प्रथम से चतुर्थ तक), अवस्थी, बच्चूलाल, शारदा पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, २००५.

वाचस्पत्यम्(छ: भाग), चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्र. सं.-९४, वाराणसी, १९६९.

शांकर वेदान्त कोश:, पाण्डेय, मुरली, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, सं. १९९८.

शब्दकल्पद्रुम (पाँच भाग), चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला, ग्र. सं.-९३, वाराणसी, १९६७.

संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, वामन शिवराम, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सं. १९६६.

संस्कृत वाङ्मय कोश, वर्णेकर, श्रीधर भास्कर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, २००१.

संस्कृत वाङ्मय कोश, वर्णेकर, श्रीधर भास्कर, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, २००१.

Chakraborty, Nirod Baran, *A Dictionary of Advaita Vedanta*, The Ramakrishana Mission Inastitute of culture, col Park, Kolkata, 2008.

Potter, Karl H., *Encyclopedia of Indian philosophy, Bibliography* , [vol.1 (section 1&2)] Motilal banarsidas Publishers Private Limited, Delhi, 1995, Edition-Third.

Pual Edwards, *Encyclopedia of philosophy,* Vol.3, Colliermacmillan limited, London,1967.

Williams, Monier, *English-Sanskrit Dictionary*, Munsi Ram Manohar Lal, Delhi,1976.

Verma, S. K., *Oxford English-Hindi Dictionary*, Oxford University Press, New Delhi, 2003.

9.6. शोध-प्रबन्ध/ लघु शोध-प्रबन्ध

Jha, Dr. Ram Nath, *"An Epistemological study of sankarabhasyas on prasthanatray",* Department of Sanskrit, University of Delhi, 1999.

विमल, लक्ष्मीकान्त, *शाङ्कर वेदान्त में अर्थनिर्धारण के सिद्धान्तों का अध्ययन,* विशिष्ट संस्कृत अध्ययन केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, २००९.

[i] ईशा .उ. १.१